संस्थान-परिचय

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी द्वारा मान्य पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान देश का प्रथम एवं अपने ढंग का एक ही जैन शोध-केन्द्र है। यह विगत ३९ वर्षों से जैनविद्या की निरन्तर सेवा करता आ रहा है। इसके तत्त्वावधान में अनेक छात्रों ने जैन विषयों का अध्ययन किया है व युनिवर्सिटी से विविध उपाधियाँ प्राप्त की हैं। अब तक ३२ शोध-छात्रों ने पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० के लिए प्रयत्न किया है जिनमें से अधिकांश को सफलता प्राप्त हुई है। सम्प्रति इस संस्थान में ५ शोधछात्र पी-एच० डी० के लिए प्रबन्ध लिख रहे हैं। प्रत्येक शोध-छात्र को २५०) रु० मासिक शोधवृत्ति तथा एम० ए० में जैनदर्शन का विशेष अध्ययन करनेवाले प्रत्येक छात्र को ५०) रु० मासिक छात्रवृत्ति देने का प्रावधान है। संस्थान की ओर से अब तक २२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। जैनविद्या का मासिक 'श्रमण' नियमित रूप से विगत २७ वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना सन् १९३७ में हुई थी। इसका संचालन अमृतसर स्थित सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के द्वारा होता है। यह समिति सन् १८६० के एक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड है तथा इसे इन्कमटैक्स एक्ट, सन् १९६१ के सेक्शन ८८ व १०० के अनुसार आयकर-मुक्ति प्रमाण-पत्र प्राप्त है।

संस्थान का निजी विशाल भवन है जिसमें पुस्तकालय, कार्यालय, अध्यक्ष-कक्ष, सहायक-कक्ष, छात्र-कक्ष आदि हैं। अध्यक्ष एवं अन्य कर्मचारियों के निवास के लिए उपयुक्त आवास हैं। शोध-छात्रों के लिए सर्व सुविधाओं से युक्त छात्रावास भी है।

संस्थान-परिचय

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी द्वारा मान्य पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान देश का प्रथम एवं अपने ढंग का एक ही जैन शोध-केन्द्र है। यह विगत ३६ वर्षों से जैनविद्या की निरन्तर सेवा करता आ रहा है। इसके तत्त्वावधान में अनेक छात्रों ने जैन विषयों का अध्ययन किया है व युनिवर्सिटी से विविध उपाधियाँ प्राप्त की हैं। अब तक ३२ शोध-छात्रों ने पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० के लिए प्रयत्न किया है जिनमें मे अधिकांश को सफलता प्राप्त हुई है। सम्प्रति इस संस्थान में ५ शोधछात्र पी-एच० डी० के लिए प्रबन्ध लिख रहे हैं। प्रत्येक शोध-छात्र को २५०) रु० मासिक शोधवृत्ति तथा एम० ए० में जैनदर्शन का विशेष अध्ययन करनेवाले प्रत्येक छात्र को ५०) रु० मासिक छात्रवृत्ति देने का प्रावधान है। संस्थान की ओर से अब तक २२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। जैनविद्या का मासिक 'श्रमण' नियमित रूप से विगत २७ वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना सन् १६३७ में हुई थी। इसका संचालन अमृतसर स्थित सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के द्वारा होता है। यह समिति सन् १८६० के एक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड है तथा इसे इन्कमटैक्स एक्ट, सन् १६६१ के सेक्शन ८८ व १०० के अनुसार आयकर-मुक्ति प्रमाण-पत्र प्राप्त है।

संस्थान का निजी विशाल भवन है जिसमें पुस्तकालय, कार्यालय, अध्यक्ष-कक्ष, सहायक-कक्ष, छात्र-कक्ष आदि हैं। अध्यक्ष एवं अन्य कर्मचारियों के निवास के लिए उपयुक्त आवास हैं। शोध-छात्रों के लिए सर्व सुविधाओं से युक्त छात्रावास भी है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: २२ :

सम्पादक
डा० मोहनलाल मेहता
श्री जमनालाल जैन

वाचक उमास्वातिविरचित

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचनसहित

विवेचक
पं० सुखलाल संघवी



प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

सूत्रकार :
वाचक उमास्वाति

विवेचक :
पं० सुखलाल संघवी

सम्पादक :
डा० मोहनलाल मेहता
श्री जमनालाल जैन

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैन इंस्टिट्यूट
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी--५

मुद्रक :
शिवलाल प्रिंटर्स
के० ४४/१७ बी० नायक बाजार,
विश्वेश्वरगंज, वाराणसी - १

संशोधित एवं परिवर्धित
तृतीय सस्करण, सन् १९७६

मूल्य :
दस रुपये

समर्पण

उस भगिनी-मण्डल को जिसमें श्रीमती मोतीबाई
जीवराज तथा श्रीमती मणिबह्न शिवचन्द
कापड़िया आदि बह्नें मुख्य हैं,
जिसके द्वारा विद्या-जीवन तथा
शारीरिक-जीवन में मुझे सदा
हार्दिक सहायता मिलती
रही है।

—सुखलाल संघवी

तत्त्वार्थसूत्र-



प्रकाशकीय

वाचक उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगम जैन दर्शन की अमर एवं अद्वितीय कृति है। इसमें तत्त्व, ज्ञान, आचार, कर्म, भूगोल, खगोल आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ जैन दर्शन की सर्वप्रथम संस्कृत कृति है। इसकी भाषा सरल एवं शैली प्रवाहशील है। इस लोकप्रिय ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ एवं विवेचन लिखे गए हैं। उनमें पंडितप्रवर सुखलालजी संघवीकृत प्रस्तुत विवेचन का प्रमुख स्थान है। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में विरचित तत्त्वार्थ-विवेचनों में पंडितजी की यह कृति निःसन्देह सर्वोपरि है। इसमें समस्त प्राचीन संस्कृत टीकाओं का सार समाहित है। प्रारम्भ में पंडितजी की विस्तृत प्रस्तावना ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह विवेचन गुजराती तथा अंग्रेजी में भी प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी विवेचन का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस संस्करण में प्रस्तावना के अन्त में जापानी विदुषी कुमारी सुजुको ओहिरा का चिन्तनपूर्ण निबन्ध दिया गया है जो तत्त्वार्थसूत्र की मूल पाठविषयक समस्या पर अच्छा प्रकाश डालता है। इस तरह प्रस्तुत संस्करण को प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन अमृतसर के स्व० लाला जगन्नाथ जैन की पुण्यस्मृति में किया गया है। आप सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के सम्मान्य मंत्री लाला हरजसराय जैन के पूज्य पिता थे। आपकी तथा आपकी सहधर्मिणी स्व० श्रीमती जीवनदेवी दोनों की स्मृति में 'जीवन-जगन चेरिटेबल ट्रस्ट' की स्थापना की गई है। इस ट्रस्ट से पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान को आर्थिक सहायता प्राप्त होती रहती है।

संस्थान ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद का विशेष आभारी है जिसने चार हजार रुपये का अनुदान देकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन-व्यय का आधा भार सहर्ष वहन किया है। पूज्यप्रवर पं० सुखलालजी एवं परमादरणीय पं० दलसुखभाई मालवणिया का तो संस्थान प्रारम्भ से ही ऋणी है। हमारे सहयोगी श्री जमनालाल जैन ने सम्पादन-कार्य एवं ग्रन्थ को अधुनातन रूप में प्रस्तुत करने में पूर्ण सहयोग दिया है, अतः उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। कुशल मुद्रण के लिए शिवलाल प्रिण्टर्स के संचालक श्री हरिप्रसाद निगम धन्यवाद के पात्र हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी—५
१. ७. ७६

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्राक्कथन

तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन का प्रथम गुजराती संस्करण सन् १९३० में गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ था। उसी के हिन्दी संस्करण का प्रकाशन सन् १९३९ में श्री आत्मानन्द जन्म-शताब्दी स्मारक ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रथम पुष्प के रूप में हुआ। इस हिन्दी संस्करण के परिचय (प्रस्तावना) में कुछ संशोधन किया गया था और इसमें सम्पादक श्री कृष्णचन्द्रजी और पं० दलसुखभाई मालवणिया ने शब्दसूची और सूत्रपाठ उपलब्ध पाठान्तरों के साथ जोड़ा था। 'परिचय' में विशेषतः वाचक उमास्वाति की परम्परा के विषय में पुनर्विचार करते हुए यह कहा गया था कि वे श्वेताम्बर परम्परा के थे। इसी हिन्दी संस्करण के आधार पर गुजराती का दूसरा संस्करण सन् १९४० में श्री पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ और विवेचन में दो-चार स्थानों पर विशेष स्पष्टीकरण बढ़ाकर उसका तीसरा संस्करण उसी ग्रन्थमाला से सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ। बाद में हिन्दी का दूसरा संस्करण उक्त स्पष्टीकरणों के साथ जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस से सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ।

प्रथम गुजराती संस्करण (सन् १९३०) के वक्तव्य का आवश्यक अंश यहाँ दिया जा रहा है, जिससे मुख्यतया तीन बातें ज्ञात होती हैं। पहली यह कि शुरू में विवेचन किस ढंग से लिखने की इच्छा थी और अन्त में वह किस रूप में लिखा गया। दूसरी यह कि हिन्दी में विवेचन लिखना प्रारंभ करने पर भी वह प्रथम गुजराती में क्यों और किस परिस्थिति में समाप्त किया गया और फिर सारा का सारा विवेचन गुजराती में ही प्रथम क्यों प्रकाशित हुआ। तीसरी यह कि कैसे और किन अधिकारियों को लक्ष्य में रखकर विवेचन लिखा गया है, उसका आधार क्या है और उसका स्वरूप तथा शैली कैसी रखी गई है।

"**प्रथम कल्पना**—लगभग १२ वर्ष पहले जब मैं अपने सहृदय मित्र श्री रमणिकलाल मगनलाल मोदी, बी० ए० के साथ पूना में था तब हम दोनों ने मिलकर साहित्य-निर्माण के विषय में बहुत विचार करने के

बाद तीन ग्रन्थ लिखने की स्पष्ट कल्पना की। श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रतिदिन बढ़ती हुई पाठशालाओं, छात्रालयों और विद्यालयों में जैन-दर्शन के शिक्षण की आवश्यकता जैसे-जैसे अधिक प्रतीत होने लगी वैसे-वैसे चारों ओर से दोनों सम्प्रदायों में मान्य नई शैली के लोकभाषा में लिखे गए जैन-दर्शन विषयक ग्रंथों की माँग भी होने लगी। यह देखकर हमने निश्चय किया कि 'तत्त्वार्थ' और 'सन्मतितर्क' इन दोनों ग्रंथों का तो विवेचन किया जाए और उसके परिणामस्वरूप तृतीय पुस्तक 'जैन पारिभाषिक शब्दकोश' स्वतन्त्र रूप से लिखी जाए। इस प्रथम कल्पना के अनुसार हम दोनों ने तत्त्वार्थ के विवेचन का काम आज से ११ वर्ष पूर्व (सन् १९१९ में) आगरा में प्रारम्भ किया।

"अपनी विशाल योजना के अनुसार हमने काम प्रारम्भ किया और इष्ट सहायकों का समागम होता गया, पर वे आकर स्थिर रहे न रहे उसके पूर्व ही वे पक्षियों की तरह भिन्न-भिन्न दिशाओं में तितर-बितर हो गए और बाद में तो आगरा के इस घोंसले में अकेला मैं ही रह गया। तत्त्वार्थ का आरम्भ किया गया कार्य और अन्य कार्य मेरे अकेले के बस के न थे और यह कार्य चाहे जिस तरह पूर्ण करने का निश्चय भी चुप न रहने देता था। सहयोग और मित्रों का आकर्षण देखकर मैं आगरा छोड़कर अहमदाबाद चला गया। वहाँ मैंने 'सन्मति' का कार्य हाथ में लिया आर तत्त्वार्थ के दो-चार सूत्रों पर आगरा में जो कुछ लिखा वह ज्यों का त्यों पड़ा रहा।

"भावनगर में सन् १९२१–२२ में सन्मति का काम करते समय बीच-बीच में तत्त्वार्थ के अधूरे काम का स्मरण हो आता और मैं चिन्तित हो जाता। मानसिक सामग्री होने पर भी उपयुक्त इष्ट मित्रों के अभाव के कारण मैंने तत्त्वार्थ के विवेचन की पूर्व निश्चित विशाल योजना दूर करके अपना उतना भार कम किया, पर इस कार्य का संकल्प ज्यों का त्यों था। इसलिए स्वास्थ्य के कारण जब मैं विश्रान्ति के लिए भावनगर के पास वालुकड़ गाँव गया तब फिर तत्त्वार्थ का कार्य हाथ में लिया और उसकी विशाल योजना संक्षिप्त करके मध्यममार्ग अपनाया। इस विश्रांति-काल में भिन्न-भिन्न जगहों में रहकर लिखा। इस काल में लिखा तो कम गया पर उसकी एक रूपरेखा (पद्धति) मन में निश्चित हो गई और कभी अकेले लिखने का विश्वास उत्पन्न हुआ।

"मैं उन दिनों गुजरात में ही रहता था और लिखता था। पूर्व

निश्चित पद्धति को भी संकुचित करना पड़ा था, फिर भी पूर्व संस्कारों का एक साथ कभी विनाश नहीं होता, मानव-शास्त्र के इस नियम से मैं भी बद्ध था। आगरा में लिखने के लिए सोची गई और काम में लाई गई हिन्दी भाषा का संस्कार मेरे मन में कायम था। इसलिए मैंने उसी भाषा में लिखना शुरू किया। हिन्दी भाषा में दो अध्याय लिखे गए। इतने में ही बीच में रुके हुए सन्मति के काम का सिलसिला पुनः प्रारम्भ हुआ और इसके प्रवाह में तत्त्वार्थ के कार्य को वहीं छोड़ना पड़ा। स्थूल रूप से काम चलाने की कोई आशा नहीं थी, पर मन तो अधिकाधिक कार्य कर ही रहा था। उसका थोड़ा-बहुत मूर्त रूप आगे चलकर दो वर्ष बाद अवकाश के दिनों में कलकत्ता में सिद्ध हुआ और चार अध्याय तक पहुँचा। उसके बाद अनेक प्रकार का मानसिक और शारीरिक दबाव बढ़ता ही गया, इसलिए तत्त्वार्थ को हाथ में लेना कठिन हो गया और पूरे तीन वर्ष अन्य कामों में बीत गए। सन् १९२७ के ग्रीष्मावकाश में लीमड़ी गया। तब फिर तत्त्वार्थ का काम हाथ में आया और वह थोड़ा आगे बढ़ा भी, लगभग छः अध्याय तक पहुँच गया। पर अन्त में मुझे प्रतीत हुआ कि अब सन्मति का कार्य पूर्ण करने के बाद ही तत्त्वार्थ को हाथ में लेना श्रेयस्कर है। इसलिए सन्मतितर्क का कार्य दुगुने वेग से करने लगा। पर इतने समय तक गुजरात में रहने से और इष्ट मित्रों के कहने से यह धारणा हुई कि पहले तत्त्वार्थ का गुजराती संस्करण निकाला जाए। यह नवीन संस्कार प्रबल था। पुराने संस्कार से हिन्दी भाषा में छः अध्यायों का लेखन हो गया था। हिन्दी से गुजराती करना शक्य और इष्ट होने पर भी उसके लिए समय नहीं था। शेष अंश गुजराती में लिखूँ तो भी प्रथम हिन्दी में लिखे हुए का क्या उपयोग? योग्य अनुवादक प्राप्त करना भी सरल बात नहीं थी। ये सभी असुविधाएँ थीं, पर भाग्यवश इनका भी अन्त आ गया। विद्वान् और सहृदय मित्र रसिकलाल छोटालाल परीख ने हिन्दी से गुजराती में अनुवाद किया और शेष चार अध्याय मैंने गुजराती में ही लिख डाले। इन चार अध्यायों का हिन्दी अनुवाद श्री कृष्णचन्द्रजी ने किया है। इस तरह लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया हुआ संकल्प पूर्ण हुआ।

"**पद्धति**—पहले जब तत्त्वार्थ पर विवेचन लिखने की कल्पना आई तब निश्चित की गई योजना के पीछे दृष्टि यह थी कि संपूर्ण जैन तत्त्व-ज्ञान और जैन आचार का स्वरूप एक ही स्थान पर प्रामाणिक रूप में

उसके विकासक्रमानुसार प्रत्येक अभ्यासी के लिए सुलभ हो जाए। जैन और जैनेतर तत्त्वज्ञान के अभ्यासियों की संकुचित परिभाषाभेद की दीवाल तुलनात्मक वर्णन से टूट जाए और आज तक के भारतीय दर्शनों में या पश्चिमी तत्त्वज्ञान के चिन्तन में सिद्ध और स्पष्ट महत्त्व के विषयों द्वारा जैन ज्ञानकोश समृद्ध हो, इस प्रकार से तत्त्वार्थ का विवेचन लिखा जाए। इस धारणा में तत्त्वार्थ विषयक दोनों सम्प्रदायों की किसी एक ही टीका के अनुवाद या सार को स्थान नहीं था। इसमें टीकाओं के दोहन के अतिरिक्त दूसरे भी महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों के सार को स्थान था। परन्तु जब इस विशाल योजना ने मध्यममार्ग का रूप ग्रहण किया तब उसके पीछे की दृष्टि भी कुछ संकुचित हुई। फिर भी मैंने इस मध्यम-मार्गी विवेचन-पद्धति में मुख्य रूप से निम्न बातों का ध्यान रखा है :

१. किसी एक ही ग्रन्थ का अनुवाद या सार न लिखकर या किसी एक ही सम्प्रदाय के मन्तव्य का बिना अनुसरण किए ही जो कुछ आज तक जैन तत्त्वज्ञान के अङ्ग के रूप में पठन-चिन्तन में आया हो उसका तटस्थ भाव से उपयोग करना।

२. विवेचन महाविद्यालय या कालेज के विद्यार्थियों की जिज्ञासा के अनुकूल हो तथा पुरातन प्रणाली से अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को भी रुचिकर लगे इस प्रकार से साम्प्रदायिक परिभाषा को कायम रख कर सरल विश्लेषण करना।

३. जहाँ ठीक प्रतीत हो और जितना ठीक हो उतने ही अंश में संवाद के रूप में और शेष भाग में बिना संवाद के सरलतापूर्वक चर्चा करना।

४. विवेचन में सूत्रपाठ एक ही रखना और वह भी भाष्य-स्वीकृत और जहाँ महत्त्वपूर्ण अर्थभेद हो वहाँ भेदवाला सूत्र देकर नीचे टिप्पणी[1] में उसका अर्थ देना।

५. जहाँ तक अर्थ दृष्टिसंगत हो वैसे एक या अनेक सूत्रों को साथ रखकर उनका अर्थ लिखना और एक साथ ही विवेचन करना। ऐसा करते हुए जहाँ विषय लम्बा हो वहाँ उसका विभाग करके शीर्षक द्वारा वक्तव्य का विश्लेषण करना।

६. बहुत प्रसिद्ध स्थल में बहुत अधिक जटिलता न आ जाए,

१. अब ऐसी टिप्पणियाँ मूल सूत्रों में दे दी गई हैं। देखें—पृ० १११-१३८।

इसका ध्यान रखते हुए जैन परिभाषा की जैनेतर परिभाषा के साथ तुलना करना।

७. किसी एक ही विषय पर जहाँ केवल श्वेताम्बर या दिगम्बर अथवा दोनों के मिलकर अनेक मन्तव्य हों वहाँ कितना और क्या लेना और कितना छोड़ना इसका निर्णय सूत्रकार के आशय की निकटता और विवेचन के परिमाण की मर्यादा को ध्यान में रखकर स्वतन्त्र रूप से करना और किसी एक ही सम्प्रदाय के वशीभूत न होकर जैन तत्त्वज्ञान या सूत्रकार का ही अनुसरण करना।

"इतनी बातें ध्यान में रखने पर भी प्रस्तुत विवेचन में भाष्य, उसकी वृत्ति, सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक के ही अंशों का विशेष रूप से आना स्वाभाविक है। क्योंकि ये ही ग्रन्थ मूल सूत्रों की आत्मा को स्पर्श तथा स्पष्ट करते हैं। इनमें भी मैंने प्राय भाष्य को ही प्राधान्य दिया है क्योंकि यह प्राचीन एवं स्वोपज्ञ होने से सूत्रकार के आशय को अधिक स्पर्श करता है।

"प्रस्तुत विवेचन में पहले की विशाल योजना के अनुसार तुलना नहीं की गई है। इसलिए न्यूनता को थोड़े-बहुत अंशों में दूर करने और तुलनात्मक प्रधानतावाली आधुनिक रसप्रद शिक्षण-प्रणाली का अनुसरण करने के लिए 'प्रस्तावना' में तुलना सम्बन्धी कार्य किया गया है। प्रस्तावना में की गई तुलना पाठक को ऊपर-ऊपर से बहुत ही अल्प प्रतीत होगी। यह ठीक है, पर सूक्ष्म अभ्यासी देखेंगे कि यह अल्प प्रतीत होने पर भी विचारणीय अधिक है। प्रस्तावना में की जानेवाली तुलना में लम्बे-लम्बे विषयों और वर्णनों का स्थान नहीं होता, इसलिए तुलनोपयोगी मुख्य मुद्दों को पहले छाँटकर बाद में संभाव्य मुद्दों की वैदिक और बौद्ध दर्शनों के साथ तुलना की गई है। उन-उन मुद्दों पर ब्योरेवार विचार के लिए उन-उन दर्शनों के ग्रन्थों के स्थलों का निर्देश कर दिया गया है। इससे अभ्यास करनेवालों को अपनी बुद्धि का उपयोग करने का भी अवकाश रहेगा। इसी बहाने उनके लिए दर्शनांतर के अवलोकन का मार्ग भी खुल जाएगा, ऐसी आशा है।"

गुजराती विवेचन के करीब २१ वर्ष बाद सन् १९५२ में हिन्दी विवेचन का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इतने समय में तत्त्वार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य पर्याप्त परिमाण में प्रकाशित हुआ है। भाषा-दृष्टि से संस्कृत, गुजराती, अंग्रेजी और हिन्दी इन चार भाषाओं में

तत्त्वार्थ विषयक साहित्य प्रकाशित हुआ है। इसमें भी न केवल प्राचीन ग्रन्थों का ही प्रकाशन समाविष्ट है अपितु समालोचनात्मक, अनुवादात्मक, संशोधनात्मक और विवेचनात्मक आदि अनेकविध साहित्य समाविष्ट है।

प्राचीन टीका-ग्रन्थों में से सिद्धसेनीय और हारिभद्रीय दोनों भाष्य-वृत्तियों को पूर्णतया प्रकाशित करने-कराने का श्रेय वस्तुतः श्रीमान् सागरानन्द सूरीश्वर को है। उनका एक समालोचनात्मक निबन्ध भी हिन्दी में प्रकाशित हुआ है, जिसमें वाचक उमास्वाति के श्वेताम्बर या दिगम्बर होने के विषय में मुख्यरूप से चर्चा है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रों का गुजराती अनुवाद श्री हीरालाल कापड़िया, एम० ए० का तथा तत्त्वार्थभाष्य के प्रथम अध्याय का गुजराती अनुवाद विवेचनसहित पं० प्रभुदास बेचरदास परीख का प्रकाशित हुआ है। तत्त्वार्थ का हिन्दी अनुवाद जो वस्तुतः मेरे गुजराती विवेचन का अक्षरशः अनुवाद है, वह फलोदी (मारवाड़) के श्री मेघराजजी मुणोत के द्वारा तैयार होकर प्रकाशित हुआ है। स्थानकवासी मुनि (बाद में आचार्य) आत्मारामजी उपाध्याय के द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय' नामक दो पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनमें से एक हिन्दी अर्थयुक्त है और दूसरी हिन्दी अर्थ-रहित आगमपाठवाली है।

श्री रामजीभाई दोशी का गुजराती तत्त्वार्थ-विवेचन सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है। प्रो० जी० आर० जैन का तत्त्वार्थ के पंचम अध्याय का विवेचन आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ है।[1] पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित श्रुतसागराचार्यकृत तत्त्वार्थवृत्ति, पं० लालबहादुर शास्त्रीकृत तत्त्वार्थसूत्र का हिन्दी अनुवाद और पं० फूलचंद्रजी का हिन्दी विवेचन बनारस से प्रकाशित हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की भास्करनंदिकृत सुखबोधवृत्ति ओरिएण्टल लायब्रेरी पब्लिकेशन की संस्कृत सीरीज में ८४वीं पुस्तक रूप से प्रकाशित हुई है जो पं० शान्तिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित है। यह वृत्ति १४वीं शताब्दी की है। तत्त्वार्थत्रिसूत्रीप्रकाशिका नामक व्याख्या जो श्री विजयलावण्यसूरिकृत है और जो श्री विजयनेमिसूरि ग्रन्थमाला के २२ वें रत्न के रूप में प्रकाशित हुई है, वह पंचमाध्याय के

१. Cosmology : Old and New.

उत्पादव्ययादि तीन सूत्रों (५. २९-३१) की सभाष्य सिद्धसेनीय वृत्ति का विस्तृत विवरण है।

पिछले २१ वर्षों में प्रकाशित व निर्मित तत्त्वार्थविषयक साहित्य का उल्लेख यहाँ इसलिए किया है कि २१ वर्षों के पहले जो तत्त्वार्थ के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार था वह पिछले वर्षों में किस तरह और कितने परिमाण में बढ़ गया है और दिन-प्रतिदिन उसके बढ़ने की कितनी अधिक सम्भावना है। पिछले वर्षों के तत्त्वार्थ-विषयक तीनों सम्प्रदायों के परिशीलन में मेरे 'गुजराती विवेचन' का कितना हिस्सा है यह बतलाना मेरा काम नहीं। फिर भी इतना अवश्य कह सकता हूँ कि तीनों सम्प्रदायों के योग्य अधिकारियों ने मेरे 'गुजराती विवेचन' को इतना अधिक अपनाया कि मैं उसकी कल्पना भी नहीं करता था।

तत्त्वार्थ के प्रथम हिन्दी संस्करण के प्रकाशित होने के बाद तत्त्वार्थ सूत्र, उसका भाष्य, वाचक उमास्वाति और तत्त्वार्थ की अनेक टीकाएँ इत्यादि विषयों पर अनेक लेखकों के अनेक लेख निकले हैं।[1] परन्तु यहाँ मुझे श्रीमान् नाथूरामजी प्रेमी के लेख के विषय में ही कुछ कहना है। प्रेमीजी का 'भारतीय विद्या' के सिंघी स्मारक अंक में 'वाचक उमास्वाति का सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय' नामक लेख प्रकाशित हुआ है। उन्होंने दीर्घ ऊहापोह के बाद यह बतलाया है कि वाचक उमास्वाति यापनीय संघ के आचार्य थे। उनकी अनेक दलीलें ऐसी हैं जो उनके मंतव्य को मानने के लिए आकृष्ट करती हैं, इसलिए उनके मन्तव्य की विशेष छानबीन करने के लिए सटीक भगवती आराधना का खास परिशीलन पं० दलसुख मालवणिया ने किया। फलस्वरूप जो नोट उन्होंने तैयार किए उन पर हम दोनों ने विचार किया। विचार करते समय भगवती आराधना, उसकी टीकाएँ और बृहत्कल्पभाष्य आदि ग्रन्थों का आवश्यक अवलोकन भी किया गया। यथासम्भव इस प्रश्न पर मुक्त मन से विचार किया गया। आखिर हम दोनों इस नतीजे पर पहुँचे कि वाचक उमास्वाति यापनीय न थे, वे सचेल परम्परा के थे, जैसा कि हमने प्रस्तावना में दरसाया है। हमारे अवलोकन और विचार का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार है :

---

१. देखें—अनेकान्त, वर्ष ३, अंक १, ४, ११, १२; वर्ष ४, अंक १, ४, ६, ७, ८, ११, १२; वर्ष ५, अंक १–११; जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष ८ और ९; जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ६, अंक ४; भारतीय विद्या का सिंघी स्मारक अंक।

१. भगवती आराधना और उसके टीकाकार अपराजित दोनों यदि यापनीय हैं तो उनके ग्रन्थ से यापनीय संघ के आचारविषयक निम्न लक्षण फलित होते हैं—

(क) यापनीय आचार का औत्सर्गिक अंग अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व है।

(ख) यापनीय संघ में मुनि की तरह आर्याओं का भी मोक्षलक्षी स्थान है। अवस्थाविशेष में उनके लिए भी निर्वसनभाव का उपदेश है।

(ग) यापनीय आचार में पाणितल-आहार का विधान है और कमण्डलु-पिच्छी के अतिरिक्त और किसी उपकरण का औत्सर्गिक विधान नहीं है।

उक्त लक्षण उमास्वाति के भाष्य और प्रशमरति जैसे ग्रन्थों के वर्णन के साथ बिलकुल मेल नहीं खाते, क्योंकि उनमें स्पष्ट रूप से मुनि के वस्त्र-पात्र का वर्णन है। कहीं भी नग्नत्व का औत्सर्गिक विधान नहीं है एवं कमण्डलु-पिच्छी जैसे उपकरण का तो नाम तक नहीं है।

२. श्री प्रेमीजी की एक दलील यह भी है कि पुण्य-प्रकृति आदि विषयक उमास्वाति का मन्तव्य अपराजित की टीका में पाया जाता है। परन्तु गच्छ तथा परम्परा की तत्त्वज्ञानविषयक मान्यताओं के इतिहास से स्पष्ट है कि कभी-कभी एक ही परम्परा में परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाली सामान्य एवं छोटी मान्यताएँ पाई जाती हैं। इतना ही नहीं अपितु दो परस्पर विरोधी मानी जानेवाली परम्पराओं में भी कभी-कभी ऐसी सामान्य व छोटी-छोटी मान्यताओं का एकत्व मिलता है। ऐसी स्थिति में वस्त्रपात्र के समर्थक उमास्वाति का वस्त्रपात्र के विरोधी यापनीय संघ की अमुक मान्यताओं के साथ साम्य हो तो कोई अचरज की बात नहीं।

पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री ने तत्त्वार्थसूत्र के अपने विवेचन की प्रस्तावना में गृध्रपिच्छ को सूत्रकार और उमास्वाति को भाष्यकार बतलाने का प्रयत्न किया है। पर यह प्रयत्न जितना इतिहास-विरुद्ध है उतना ही तर्कबाधित भी है। उन्होंने जब यह लिखा कि शुरू की कारिकाओं में ऐसी कोई कारिका नहीं है जो उमास्वाति को सूत्रकार सूचित करती हो तब जान पड़ता है वे एकमात्र अपना मन्तव्य स्थापित करने की ओर इतने झुक गए कि जो अर्थ स्पष्ट है वह भी या तो उनके ध्यान में आया नहीं या उन्होंने उसकी उपेक्षा कर दी। अन्य कारिकाओं की कथा छोड़

दें तो भी कारिकाएं २२ और ३१ इतनी स्पष्ट हैं कि जिनके उमास्वातिकर्तृक सूत्रसंग्रह या उमास्वातिकर्तृक मोक्षमार्ग शास्त्ररूप अर्थ में सन्देह को लेशमात्र अवकाश नहीं रहता।

पं० कैलाशचन्द्रजी ने अपने हिन्दी अर्थसहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में तत्त्वार्थभाष्य की उमास्वातिकर्तृकता तथा भाष्य के समय के बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हे ध्यानपूर्वक देखने के बाद कोई तटस्थ इतिहासज्ञ उनको प्रमाणभूत नहीं मान सकता। पंडितजी को जहाँ कहीं भाष्य की स्वोपज्ञता या राजवार्तिक आदि में भाष्य के उल्लेख की संभावना दीख पड़ी वहाँ उन्होंने प्रायः सर्वत्र निराधार कल्पना के बल पर अन्य वृत्ति को मानकर उपस्थित ग्रन्थ को अर्वाचीन बतलाने का प्रयत्न किया है। इस विषय में पं० फूलचन्द्रजी आदि अन्य पंडित भी एक ही मार्ग के अनुगामी हैं।

हिन्दी का पहला संस्करण समाप्त हो जाने पर इसकी निरन्तर बढ़ती हुई मांग को देखकर जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस के मंत्री और मेरे मित्र पं० दलसुख मालवणिया दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का विचार कर रहे थे। इसी बीच सहृदय श्री रिषभदासजी रांका का उनसे परिचय हुआ। श्री रांकाजी ने यह संस्करण प्रकाशित करने का और यथासंभव कम मूल्य में सुलभ कराने का अपना विचार व्यक्त किया और उसका प्रबंध भी किया, एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इस हिन्दी तत्त्वार्थ के ही नहीं अपितु अपनी लिखी हुई किसी भी गुजराती या हिन्दी पुस्तक-पुस्तिका या लेख के पुनः प्रकाशन में सीधे भाग लेने की मेरी रुचि बहुत समय से नहीं रही है। मैंने यही सोच रखा है कि अभी तक जो कुछ सोचा और लिखा गया है वह यदि किसी भी दृष्टि से किसी संस्था या किन्हीं व्यक्तियों को उपयोगी जँचेगा तो वे उसके लिए जो कुछ करना होगा, करेंगे। मैं अब अपने लेख आदि में क्यों उलझा रहूँ? इस विचार के बाद मेरा जो जीवन या जो शक्ति अवशिष्ट है उसे मैं आवश्यक नए चिन्तन आदि में लगाता रहा हूँ। ऐसी स्थिति में हिन्दी तत्त्वार्थ के दूसरे संस्करण के प्रकाशन में विशेष रुचि लेना मेरे लिए संभव नहीं था। यदि यह भार मुझ पर ही रहता तो दूसरा संस्करण निकल ही न पाता। एतद्विषयक सारा दायित्व अपनी इच्छा और उत्साह से पं० श्री मालवणिया ने अपने ऊपर ले लिया और उसे अन्त तक भलीभाँति निभाया भी। द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के लिए

जितना और जो कुछ साहित्य पढ़ना पड़ा, समुचित परिवर्तन के लिए जो कुछ ऊहापोह करना पड़ा और अन्य व्यावहारिक बातों को सुलझाना पड़ा, यह सब श्री मालवणिया ने स्वयं स्फूर्ति से किया है। हम दोनों का जो संबन्ध है वह आभार मानने को प्रेरित नहीं करता। फिर भी इस बात का उल्लेख इसीलिए करता हूँ कि जिज्ञासु पाठक वस्तुस्थिति जान सकें।

प्रस्तुत तृतीय संस्करण की प्रस्तावना में केवल अगस्त्यसिंहचूर्णि का तथा नयचक्र का निर्देश बढ़ा दिया गया है जो सूत्रभाष्य की एक-कर्तृकता की सिद्धि में सहायक है।

विवेचन में ध्यान (९.२७) सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार के उस मत का टिप्पणी में निर्देश किया गया है जिसका अनुसरण किसी ने भी नहीं किया।

—सुखलाल

विषयानुक्रम

— प्रस्तावना —

— विवेचन —

१. ज्ञान

२. जीव

३. अधोलोक-मध्यलोक

४. देवलोक

५. अजीव

६. आस्रव

७. व्रत

९. संवर-निर्जरा

●

प्रस्तावना

१. तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति

वंश दो प्रकार का होता है—जन्म-वंश और विद्या-वंश।[1] जब किसी के जन्म के इतिहास पर विचार करना हो तब रक्त से सम्बद्ध उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परम्परा को ध्यान में रखना होता है। जब किसी के विद्या (शास्त्र) का इतिहास जानना हो तब उस शास्त्र-रचयिता के साथ विद्या से सम्बद्ध गुरु-प्रगुरु तथा शिष्य-प्रशिष्य आदि गुरु-शिष्य परम्परा का विचार करना आवश्यक होता है।

'तत्त्वार्थ' भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन-शाखा का एक शास्त्र है, अतः इसका इतिहास विद्या-वंश की परम्परा में आता है। तत्त्वार्थ में उसके रचयिता ने जिस विद्या का समावेश किया है उसे उन्होंने गुरु-परम्परा से प्राप्त किया है और उसे विशेष उपयोगी बनाने के उद्देश्य से अपनी दृष्टि के अनुसार अमुक रूप में व्यवस्थित किया है। उन्होंने उस विद्या का तत्त्वार्थ में जो स्वरूप व्यवस्थित किया, वह बाद में ज्यों का त्यों नहीं रहा। इसके अध्येताओं एवं टीकाकारों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं से बहुत-कुछ लेकर उस विद्या में सुधार, वृद्धि, पूर्ति और विकास किया है। अतएव प्रस्तुत 'प्रस्तावना' में तत्त्वार्थ और इसके रचयिता के अतिरिक्त वंश-लता के रूप में विस्तीर्ण टीकाओं तथा टीकाकारों का भी परिचय कराना आवश्यक है।

तत्त्वार्थाधिगम-शास्त्र के प्रणेता जैनों के सभी सम्प्रदायों में प्रारम्भ से ही समानरूप में मान्य हैं। दिगम्बर उन्हें अपनी शाखा का और श्वेताम्बर अपनी शाखा का मानते आए हैं। दिगम्बर परम्परा में ये 'उमास्वामी' और 'उमास्वाति' नामों से प्रसिद्ध हैं, श्वेताम्बर परम्परा

१. ये दोनों वंश आर्य-परम्परा और आर्य-साहित्य में हजारों वर्षों से प्रसिद्ध हैं। 'जन्म-वंश' योनि-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गृहस्थाश्रम-सापेक्ष है और 'विद्या-वंश' विद्या-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गुरुपरम्परा-सापेक्ष है। इन दोनों वंशों का पाणिनि के व्याकरणसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है, यथा 'विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ्' ४. ३. ७७। इसलिए इन दो वंशों की कल्पना पाणिनि से भी बहुत प्राचीन है।

में केवल 'उमास्वाति' नाम से। इस समय दिगम्बर परम्परा में कोई-कोई तत्त्वार्थशास्त्र-प्रणेता उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य[1] समझते हैं और श्वेताम्बरों में थोड़ी-बहुत ऐसी मान्यता दिखाई देती है कि प्रज्ञापनासूत्र के रचयिता श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय 'स्वाति' ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं।[2] ये दोनों मान्यताएँ प्रमाणभूत आधार के बिना बाद में प्रचलित हुई जान पड़ती हैं, क्योंकि दसवीं शताब्दी से पहले के किसी भी विश्वस्त दिगम्बर ग्रन्थ, पट्टावली या शिलालेख आदि में ऐसा उल्लेख दिखाई नहीं देता जिसमें उमास्वाति को तत्त्वार्थ-सूत्र का रचयिता कहा गया हो और उन्हीं उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा गया हो।[3] इस आशय के जो उल्लेख दिगम्बर-साहित्य में अब तक देखने में आए हैं, वे सभी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद

---

१. देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० १४४ तथा आगे।

२. आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमल-भ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः, तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव सम्भाव्यन्ते। तच्छिष्यः श्यामाचार्यः प्रज्ञापनाकृत् श्रीवीरात् षट्सप्तत्यधिकशतत्रये (३७६) स्वर्गभाक्।
—धर्मसागरीय पट्टावली।

३. श्रवणबेलगोला के जिन-जिन शिलालेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा गया है, वे सभी शिलालेख विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद के हैं। देखें—माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित 'जैन शिलालेख-संग्रह' में नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५० और १०८ के शिलालेख।

नन्दिसंघ की पट्टावली भी बहुत अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्य-विहीन होने से उसे आधार नहीं माना जा सकता, ऐसा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है। देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृष्ठ १४४ और आगे। इससे इस पट्टावली तथा ऐसी ही अन्य पट्टावलियों में भी उपलब्ध उल्लेखों को अन्य विश्वस्त प्रमाणों के आधार के अभाव में ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता।

तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

यह तथा इसी आशय के अन्य गद्य-पद्यमय दिगम्बर अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधार से रहित हैं, अतः इन्हें भी अन्तिम आधार के रूप में नहीं रखा जा सकता।

के हैं और उनका कोई भी प्राचीन विश्वस्त आधार दिखाई नहीं देता। विचारणीय बात तो यह है कि तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवीं से नवीं शताब्दी तक के प्रसिद्ध और महान् दिगम्बर व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं में कहीं भी स्पष्ट रूप से तत्त्वार्थसूत्र को 'उमास्वाति' प्रणीत नहीं कहा है और न इन उमास्वाति का दिगम्बर, श्वेताम्बर या तटस्थ रूप से उल्लेख किया है।[1] हाँ, श्वेताम्बर साहित्य में विक्रम की आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के वाचक उमास्वाति-रचित होने के विश्वसनीय उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रन्थकारों की दृष्टि में उमास्वाति श्वेताम्बर थे, ऐसा मालूम होता है;[2] परन्तु १६-१७वीं शताब्दी के धर्मसागर की तपागच्छ की 'पट्टावली' को यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी श्वेताम्बर ग्रन्थ या पट्टावली आदि में ऐसा निर्देश तक नहीं पाया जाता कि तत्त्वार्थसूत्र-प्रणेता वाचक उमास्वाति श्यामाचार्य के गुरु थे।

वाचक उमास्वाति की स्व-रचित अपने कुल तथा गुरु-परम्परा को दर्शानेवाली, लेशमात्र संदेह से रहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के विद्यमान होते हुए भी इतनी भ्रान्ति कैसे प्रचलित हुई, यह आश्चर्य की बात है। परन्तु जब पूर्वकालीन साम्प्रदायिक व्यामोह और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की ओर ध्यान जाता है तब यह समस्या हल हो जाती है। वा० उमास्वाति के इतिहास-विषयक उनकी अपनी लिखी हुई छोटी-सी प्रशस्ति ही एक सच्चा साधन है। उनके नाम के साथ जोड़ी हुई अन्य बहुत-सी घटनाएँ[3] दोनों सम्प्रदायों की परम्पराओं में चली आ रही हैं, परन्तु परीक्षणीय होने से अभी उन सबको अक्षरशः सही नहीं माना जा सकता। उनकी वह संक्षिप्त प्रशस्ति इस प्रकार है :

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥

वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥

१. विशेष स्पष्टीकरण के लिए इसी प्रस्तावना का परिशिष्ट द्रष्टव्य है।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना में पृ० १३ की टिप्पणी २।

३. जैसे कि दिगम्बरों में गृध्रपिच्छ आदि तथा श्वेताम्बरों में पांच सौ ग्रन्थों के रचयिता आदि।

न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

इसका सार इस प्रकार है—

"जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अंग के धारक 'घोषनन्दि' क्षमण थे और प्रगुरु वाचकमुख्य 'शिवश्री' थे; वाचना (विद्याग्रहण) की दृष्टि से जिसके गुरु 'मूल' नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक 'मुण्डपाद' थे; जो गोत्र से 'कौभीषणि' थे; जो 'स्वाति' पिता और 'वात्सी' माता के पुत्र थे; जिनका जन्म 'न्यग्रोधिका' में हुआ था और जो 'उच्चनागर'[1]

---

१. 'उच्चैर्नागर' शाखा का प्राकृत नाम 'उच्चानागर' मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर प्रसिद्ध हुई होगी, यह तो स्पष्ट दीखता है। परन्तु यह ग्राम कौन-सा था, यह निश्चित करना कठिन है। भारत के अनेक भागों में 'नगर' नाम के या अन्त में 'नगर' शब्दवाले अनेक शहर तथा ग्राम हैं। 'बड़नगर' गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़ का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन गुजरात में बड़-नगर नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर से लिया गया होगा, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का बड़नगर के साथ ही सम्बन्ध है, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जब उच्च-नागर शाखा उत्पन्न हुई, उस काल में बड़नगर था या नहीं और था तो उसके साथ जैनों का कितना सम्बन्ध था, यह भी विचारणीय है। उच्चनागर शाखा के उद्भव के समय जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। अतः बड़नगर के साथ उच्चनागर शाखा के सम्बन्ध की कल्पना सबल नहीं रहती। इस विषय में कनिंघम का कहना है कि यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्चनगर' नाम के किले के साथ मेल खाता है।

—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, भाग १४, पृ० १४७।

शाखा के थे; उन उमास्वाति वाचक ने गुरु-परम्परा से प्राप्त श्रेष्ठ आर्हत-उपदेश को भली प्रकार धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रों द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोक को देखकर प्राणियों की अनुकम्पा से प्रेरित होकर यह 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए 'कुसुमपुर' नामक महानगर में रचा है। जो इस तत्त्वार्थशास्त्र को जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा, वह अव्याबाधसुख नामक परमार्थ मोक्ष को शीघ्र प्राप्त होगा।"

इस प्रशस्ति में ऐतिहासिक घटना की द्योतक मुख्य छः बातें हैं— १. दीक्षागुरु तथा दीक्षाप्रगुरु का नाम और दीक्षागुरु की योग्यता, २. विद्यागुरु तथा विद्याप्रगुरु का नाम, ३. गोत्र, पिता तथा माता का नाम, ४. जन्मस्थान तथा ग्रन्थरचना के स्थान का नाम, ५. शाखा तथा पदवी की सूचना तथा ६. ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ का नाम।

यह मानने का कोई कारण नहीं कि यह प्रशस्ति जो कि इस समय भाष्य के अन्त में उपलब्ध होती है स्वयं उमास्वाति की रची हुई नहीं है। डा० हर्मन जैकोबी भी इस प्रशस्ति को उमास्वाति की ही मानते हैं और यह उन्हीं के तत्त्वार्थ के जर्मन अनुवाद की भूमिका से स्पष्ट है। अतः इसमें जिस घटना का उल्लेख है उसे ही यथार्थ मानकर वा० उमास्वाति विषयक दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा में चली आई मान्यताओं का स्पष्टीकरण करना इस समय राजमार्ग है।

ऊपर निर्दिष्ट छः बातों में से दिगम्बरसम्मत पहली और दूसरी बात कुन्दकुन्द के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध को असत्य सिद्ध करती है। कुन्दकुन्द के उपलब्ध अनेक नामों में से एक भी नाम ऐसा नहीं जो उमास्वाति द्वारा दर्शाए हुए अपने विद्यागुरु तथा दीक्षागुरु के नामों में आता हो। इससे इस कल्पना को कोई स्थान नहीं कि कुन्दकुन्द का उमास्वाति के साथ विद्या अथवा दीक्षा-विषय में गुरुशिष्य-भावात्मक सम्बन्ध था। उक्त प्रशस्ति में उमास्वाति के वाचक-परम्परा में तथा उच्चनागर शाखा में होने का स्पष्ट कथन है, जब कि दिगम्बर मान्यता कुन्दकुन्द के नन्दि-

नागरोत्पत्ति के निबन्ध में रा० रा० मानशंकर 'नागर' शब्द का सम्बन्ध दिखलाते हुए नगर नाम के अनेक ग्रामों का उल्लेख करते हैं। इसके लिए छठी गुजराती साहित्यपरिषद् की रिपोर्ट द्रष्टव्य है।

संघ[1] में होने की है। उच्चनागर नाम की कोई शाखा दिगम्बर सम्प्रदाय में हुई हो, ऐसा आज भी ज्ञात नहीं है। दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के शिष्यरूप में मान्य उमास्वाति यदि वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति हों तो भी उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र लिखा था, यह मान्यता विश्वस्त आधार से रहित होने से बाद में कल्पित मालूम होती है।[2]

उक्त बातों में से तीसरी बात श्यामाचार्य के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध की श्वेताम्बरीय सम्भावना को असत्य सिद्ध करती है, क्योंकि वाचक उमास्वाति अपने को कौभीषणि कहकर अपना गोत्र 'कौभीषण' बताते हैं, जब कि श्यामाचार्य के गुरुरूप से पट्टावली में उल्लिखित 'स्वाति' को 'हारित' गोत्र[3] का कहा गया है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ-प्रणेता उमास्वाति को उक्त प्रशस्ति स्पष्ट रूप से 'वाचक' कहती है, जब कि श्यामाचार्य या उनके गुरुरूप में निर्दिष्ट 'स्वाति' नाम के साथ वाचक विशेषण पट्टावली में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार उक्त प्रशस्ति एक ओर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं की भ्रान्त कल्पनाओं का निरसन करती है और दूसरी ओर वह ग्रन्थकार का संक्षिप्त किन्तु यथार्थ इतिहास प्रस्तुत करती है।

(क) वाचक उमास्वाति का समय

वाचक उमास्वाति के समय के सम्बन्ध में उक्त प्रशस्ति में कुछ भी निर्देश नहीं है। समय का ठीक निर्धारण करनेवाला दूसरा भी कोई साधन अब तक प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में इस विषय में कुछ विचार करने के लिए यहाँ तीन बातों का उपयोग किया जाता है—१. शाखानिर्देश, २. प्राचीन से प्राचीन टीकाकारों का समय और ३. अन्य दार्शनिक ग्रन्थों की तुलना।

१. प्रशस्ति में जिस 'उच्चैर्नागरशाखा' का निर्देश है वह कब निकली,

१. देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० १५८ से आगे तथा प्रस्तुत प्रस्तावना का परिशिष्ट।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना में पृ० २ की टिप्पणी ३ तथा परिशिष्ट।

३. हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं ॥ २६ ॥

—नन्दिसूत्र की स्थविरावली, पृ० ४९।

यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, तो भी कल्पसूत्र की स्थविरावली में 'उच्चानागरी' शाखा का उल्लेख है।[1] यह शाखा आर्य 'शान्तिश्रेणिक' से निकली है। आर्य शान्तिश्रेणिक आर्य 'सुहस्ति' से चौथी पीढ़ी में आते हैं। आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध और उनके शिष्य इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न और दिन्न के शिष्य शांतिश्रेणिक हैं। यह शान्तिश्रेणिक आर्य वज्र के गुरु आर्य सिंहगिरि के गुरुभाई थे, इसलिए वे आर्य वज्र की पहली पीढ़ी में आते हैं। आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास-काल वीरात् २९१ और वज्र का स्वर्गवास-काल वीरात् ५८४ उल्लिखित है। अर्थात् सुहस्ति के स्वर्गवास-काल से वज्र के स्वर्गवास-काल तक २९३ वर्ष के भीतर पाँच पीढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। सरसरी तौर पर एक-एक पीढ़ी का काल साठ वर्ष का मान लेने पर सुहस्ति से चौथी पीढ़ी में होनेवाले शांतिश्रेणिक का प्रारम्भकाल वीरात् ४७१ आता है। इस समय के मध्य में या कुछ आगे-पीछे शांतिश्रेणिक से उच्चनागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति शांतिश्रेणिक की ही उच्चनागर शाखा में हुए हैं, ऐसा मानकर और इस शाखा के निकलने का जो समय अनुमानित किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे बढ़ा जाए तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखा के निकलने के बाद कब हुए हैं। क्योंकि प्रशस्ति में अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरु के जो नाम उन्होंने दिए हैं, उनमें से एक भी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली में या वैसी किसी दूसरी पट्टावली में नहीं मिलता। अतः उमास्वाति के समय के संबंध में स्थविरावली के आधार पर अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारम्भ के लगभग किसी समय हुए हैं, उससे पहले नहीं, इससे अधिक परिचय अभी अन्धकार में है।

२. इस अंधकार में एक अस्पष्ट प्रकाश-किरण तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन-टीकाकार के समय सम्बन्धी उपलब्ध है, जो उमास्वाति के समय की अनिश्चित उत्तरसीमा को मर्यादित करती है। नयचक्र और उसकी टीका में तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के वाक्यों को उद्धृत किया गया है

---

१. थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगुत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।—कल्पसूत्रस्थविरावली, पृ० ५५। आर्य शान्तिश्रेणिक की पूर्व-परम्परा जानने के लिए इससे आगे के कल्पसूत्र के पृष्ठ देखने चाहिए।

—पृ० १९,११४,५९६। नयचक्र का समय परंपरा-मान्य वि० ४८४ श्री जम्बूविजयजी ने स्वीकृत किया है—नयचक्र का प्राक्कथन पृ० २३, प्रस्तावना पृ० ६०। स्वोपज्ञ-भाष्य को यदि अलग रखा जाए तो तत्त्वार्थ-सूत्र पर उपलब्ध सीधी टीकाओं में आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि सबसे प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं।

उक्त विचारसरणी के अनुसार वा० उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित होता है। इन तीन-चार सौ वर्षों के बीच उमास्वाति का निश्चित समय शोधने का काम शेष रह जाता है।

३. समय-सम्बन्धी इस सम्भावना में और भावी शोध में उपयोगी पड़नेवाली कुछ विशेष बातें भी हैं जो उनके तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के साथ दूसरे दर्शनों तथा जैन-आगम की तुलना में से निष्पन्न होती हैं। उन्हें भी यहाँ दिया जाता है। ऐसी बात नहीं है कि ये बातें सीधे तौर पर समय का ठीक निर्णय करने में इस समय सहायक हों, फिर भी यदि दूसरे ठोस प्रमाण मिल जाएँ तो इन बातों का महत्त्वपूर्ण उपयोग होने में कोई सन्देह नहीं है। इस समय तो ये बातें भी हमें उमास्वाति के उपर्युक्त अनुमानित समय की ओर ही ले जाती हैं।

(क) जैन-आगम 'उत्तराध्ययन' कणाद के सूत्रों से पूर्व का होना चाहिए, ऐसी सम्भावना परंपरा-दृष्टि से और अन्य दृष्टि से भी होती है। कणाद के सूत्र प्रायः ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी के माने जाते हैं। जैन आगमों के आधार पर रचित तत्त्वार्थसूत्र में तीन सूत्र ऐसे हैं जिनमें उत्तराध्ययन की छाया के अतिरिक्त कणाद के सूत्रों का सादृश्य दिखाई देता है। इन तीन सूत्रों में पहला द्रव्य का, दूसरा गुण का और तीसरा काल का लक्षणविषयक है।

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की छठी गाथा में द्रव्य का लक्षण **गुणाणमासओ दव्वं** (**गुणानामाश्रयो द्रव्यम्**) अर्थात् जो गुणों का आश्रय वह द्रव्य, इतना ही है। कणाद द्रव्य के लक्षण में गुण के अतिरिक्त क्रिया और समवायिकारणता को समाविष्ट करके कहता है कि **क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्**—१. १. १५.। अर्थात् जो क्रियावाला, गुणवाला तथा समवायिकारण हो वह द्रव्य है। वा०

उमास्वाति उत्तराध्ययन-कथित गुणपद को कायम रखकर कणादसूत्रों में दिखाई देनेवाले 'क्रिया' शब्द की जगह जैन-परम्परा-प्रसिद्ध 'पर्याय' शब्द रखकर द्रव्य का लक्षण बाँधते हैं—**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्**–५.३७। अर्थात् जो गुण तथा पर्यायवाला हो वह द्रव्य है।[1]

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की छठी गाथा में गुण का लक्षण **एगदव्वस्सिआ गुणा** (**एकद्रव्याश्रिता गुणाः**) अर्थात् जो एक द्रव्य के आश्रित हों वे गुण, इतना ही है। कणाद के गुणलक्षण में विशेष वृद्धि दिखाई देती है। वह कहता है—**द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्**—१. १. १६। अर्थात् द्रव्य के आश्रित, निर्गुण और संयोग-विभाग में अनपेक्ष जो कारण नहीं होता वह गुण है। उमास्वाति के गुणलक्षण में उत्तराध्ययन के गुणलक्षण के अतिरिक्त कणाद के गुणलक्षण में से एक 'निर्गुण' अंश है। वे कहते हैं—**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**—५. ४०। अर्थात् जो द्रव्य के आश्रित और निर्गुण हों वे गुण हैं।

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की दसवीं गाथा में काल का लक्षण **वत्तणालक्खणो कालो** (**वर्तनालक्षणः कालः**) अर्थात् वर्तना काल का स्वरूप है, इतना ही है। कणाद के काललक्षण में 'वर्तना' पद तो नहीं है, परन्तु दूसरे शब्दों के साथ 'अपर' शब्द दिखाई देता है—**अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि**—२. २. ६। उमास्वाति-कृत काललक्षण में 'वर्तना' पद के अतिरिक्त जो दूसरे पद दिखाई देते हैं उनमें 'परत्व' और 'अपरत्व' ये दो शब्द भी हैं, जैसे कि **वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**—५. २२।

ऊपर दिए हुए द्रव्य, गुण तथा काल के लक्षणवाले तत्त्वार्थ के तीन सूत्रों के लिए उत्तराध्ययन के अतिरिक्त किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन-आगम अर्थात् अंग का उतना ही शाब्दिक आधार अब तक देखने में नहीं आया, परन्तु विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के माने जानेवाले कुन्दकुन्द के प्राकृत वचनों के साथ तत्त्वार्थ के संस्कृत सूत्रों का कहीं तो पूर्ण और कहीं बहुत ही कम साहश्य है। श्वेताम्बर सूत्रपाठ में द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं : **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**—५. २९ तथा गुण-

१. द्रव्य-लक्षण-विषयक विशेष जानकारी के लिए देखें–प्रमाणमीमांसा, भाषा-टिप्पण, पृ० ५४; न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, की प्रस्तावना, पृ० २५, १०४,११९।

पर्यायवद् द्रव्यम्—५. ३७ । इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य का लक्षणविषयक एक तीसरा सूत्र दिगम्बर सूत्रपाठ में है—सद् द्रव्यलक्षणम्—५. २९ । ये तीनों दिगम्बर सूत्रपाठगत सूत्र कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की निम्न प्राकृत गाथा में पूर्णरूप से विद्यमान हैं :

> दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
> गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ।। १० ।।

इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्त्वपूर्ण सादृश्य है, वह आकस्मिक तो नहीं ही है ।

(ख) उपलब्ध 'योगसूत्र' के रचयिता पतंजलि माने जाते हैं। व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ही योगसूत्रकार हैं या दूसरे कोई पतंजलि, इस विषय में अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यदि महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि एक हैं तो योगसूत्र विक्रम पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी की रचना मानी जा सकती है। योगसूत्र का 'व्यासभाष्य' कब की रचना है यह भी निश्चित नहीं, फिर भी उसे विक्रम की तीसरी शताब्दी से प्राचीन मानने का कोई कारण नहीं है।

योगसूत्र और उसके भाष्य के साथ तत्त्वार्थ के सूत्रों और उनके भाष्य का शाब्दिक तथा आर्थिक सादृश्य बहुत है[1] और वह आकर्षक भी है, तो भी इन दोनों में से किसी एक पर दूसरे का प्रभाव है यह ठीक-ठीक कहना सम्भव नहीं; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य को योग-दर्शन से प्राचीन जैन आगमग्रन्थों की विरासत मिली है, उसी प्रकार योगसूत्र और उसके भाष्य को पुरातन सांख्य, योग तथा बौद्ध आदि परम्पराओं की विरासत प्राप्त है। फिर भी तत्त्वार्थ-भाष्य में एक स्थल ऐसा है जो जैन अंगग्रन्थों में इस समय तक उपलब्ध नहीं है और योगसूत्र के भाष्य में उपलब्ध है।

पहले निर्मित हुई आयु कम भी हो सकती है अर्थात् बीच में टूट भी सकती है और नहीं भी, ऐसी चर्चा जैन अंगग्रन्थों में है। परन्तु इस चर्चा में आयु के टूटने के पक्ष की उपपत्ति करने के लिए भीगे कपड़े तथा सूखी घास का उदाहरण अंगग्रन्थों में नहीं, तत्त्वार्थ-भाष्य में ये

---

१. इसके सविस्तर परिचय के लिए देखें—हिन्दी योगदर्शन की प्रस्तावना, पृष्ठ ५२ तथा आगे।

दोनों उदाहरण हैं जो योगसूत्र के भाष्य में भी हैं। विशेष बात यह है कि दोनों भाष्यों में शाब्दिक सादृश्य भी बहुत अधिक है। एक विशेषता यह भी है कि गणित-विषयक एक तीसरा उदाहरण तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में पाया जाता है जिसका योगसूत्र के भाष्य में अस्तित्व तक नहीं है। दोनों भाष्यों का पाठ क्रमशः इस प्रकार है :

"....शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्या-युषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। ....अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोप-भोग उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। ....संहतशुष्कतृणराशिदहनवत्। यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णापचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोप-क्रमाभिहतस्याशुदाहो भवति। तद्वत्। यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघ-वार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थ-स्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्यय-मनाभोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति। किं चान्यत्—यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव....च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते तस्मिन् प्रभूतस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद् यथोक्तनिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति। न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमा-फल्यानि।"—तत्त्वार्थ-भाष्य, २.५२।

"आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च।"—योग-भाष्य, ३.२२।

(ग) अक्षपाद का 'न्यायदर्शन' लगभग ईस्वी सन् के आरम्भ का माना जाता है। उसका 'वात्स्यायनभाष्य' दूसरी-तीसरी शताब्दी के भाष्यकाल की प्राथमिक कृतियों में से एक है। इस कृति के कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थभाष्य में मिलते हैं। न्यायदर्शन (१.१.३) मान्य प्रमाणचतुष्कवाद का निर्देश तत्त्वार्थ अ० १ सू० ६ और ३५ के भाष्य में

मिलता है।[1] तत्त्वार्थ १.१२ के भाष्य में अर्थापत्ति, संभव और अभाव आदि प्रमाणों के भेद का निरसन न्यायदर्शन (२. १. १.) आदि के जैसा ही है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के लक्षण में **इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्** (१. १. ४) ये शब्द हैं। तत्त्वार्थ १.१२ के भाष्य में अर्थापत्ति आदि भिन्न माने गए प्रमाणों को मति और श्रुतज्ञान में समाविष्ट करते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा **सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्।**

इसी प्रकार पतंजलि-महाभाष्य[2] और न्यायदर्शन (१. १. १५) आदि में 'पर्याय' शब्द के स्थान पर 'अनर्थान्तर' शब्द के प्रयोग की पद्धति तत्त्वार्थसूत्र (१. १३) में भी है।

(घ) बौद्ध-दर्शन की शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि शाखाओं के विशिष्ट मंतव्यों अथवा शब्दों का उल्लेख जैसा सर्वार्थसिद्धि में है, वैसा तत्त्वार्थभाष्य में नहीं है, तो भी बौद्धदर्शन के थोड़े से सामान्य मन्तव्य तंत्रान्तर के मन्तव्यों के रूप में दो-एक स्थल पर आते हैं। वे मन्तव्य पालिपिटक से लिए गए हैं या महायान के संस्कृत पिटकों से अथवा तद्विषयक किसी दूसरे ही ग्रन्थ से, यह विचारणीय है। उनमें पहला उल्लेख जैनमत के अनुसार नरकभूमियों की संख्या बतलाते हुए बौद्धसम्मत संख्या का खंडन करने के लिए आ गया है। वह इस प्रकार है—**अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येषु लोकधातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः।** —तत्त्वार्थभाष्य, ३. १।

दूसरा उल्लेख जैनमत के अनुसार पुद्गल का लक्षण बतलाते हुए बौद्धसम्मत पुद्गल शब्द के अर्थ का निराकरण करते हुए आया है। यथा **पुद्गला इति च तंत्रान्तरीया[3] जीवान् परिभाषन्ते**—अ० ५ सू० २३ का उत्थानभाष्य।

१. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। —न्यायदर्शन, १. १. ३। **चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण**—तत्त्वार्थभाष्य, १. ६. और **यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते।** —तत्त्वार्थभाष्य, १. ३५।

२. देखें—१. १. ५६; २.३.१. और ५. १. ५९ का महाभाष्य।

३. यद्यपि जैन आगम (भगवती श. ८, उ. ३ और श. २०, उ. २) में 'पुद्गल' शब्द जीव अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु जैन-दर्शन की परिभाषा तो

(ख) उमास्वाति की योग्यता

उमास्वाति के पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखने की शक्ति का यदि विकास न किया होता और लिखने का प्रघात शुरू न किया होता तो प्राकृत परिभाषा में रूढ़ साम्प्रदायिक विचारों को उमास्वाति इतनी प्रसन्न संस्कृत शैली में सफलतापूर्वक निबद्ध कर सकते अथवा नहीं, यह एक प्रश्न ही है, तो भी उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय का इतिहास तो यही कहता है कि जैनाचार्यों में उमास्वाति ही प्रथम संस्कृत लेखक हैं। उनके ग्रन्थों की प्रसन्न, संक्षिप्त और शुद्ध शैली संस्कृत भाषा पर उनके प्रभुत्व की साक्षी है। जैन आगम में प्रसिद्ध ज्ञान, ज्ञेय, आचार, भूगोल, खगोल आदि से सम्बद्ध बातों का सक्षेप में जो संग्रह उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में किया है वह उनके 'वाचक' वंश में होने का और वाचक-पद की यथार्थता का प्रमाण है। उनके तत्त्वार्थ-भाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं तथा दूसरी पद्यकृतियों से स्पष्ट है कि वे गद्य की तरह पद्य के भी प्रांजल लेखक थे। उनके सभाष्य सूत्रों के सूक्ष्म अवलोकन से जैन-आगम संबंधी उनके सर्वग्राही अध्ययन के अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य के अध्ययन की प्रतीति होती है। तत्त्वार्थभाष्य (१. ५; २. १५) में उद्धृत व्याकरण के सूत्र उनके पाणिनीय व्याकरण-विषयक अध्ययन के परिचायक हैं।

यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इनकी प्रसिद्धि पाँच सौ ग्रंथों के रचयिता के रूप में है और इस समय इनकी कृतिरूप में कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध[1] भी हैं, तथापि इस विषय में आज संतोषजनक कुछ भी कहने की स्थिति नहीं है। ऐसी स्थिति में भी 'प्रशमरति'[2] की भाषा और विचारसरणी

मात्र जड़ परमाणु और तन्निर्मित स्कंध के रूप में ही प्रसिद्ध है। बौद्ध-दर्शन की परिभाषा जीव अर्थ में ही प्रसिद्ध है। इसी भेद को लक्ष्य में रखकर वाचक ने यहाँ 'तन्त्रान्तरीय' शब्द का प्रयोग किया है।

१. जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, पूजाप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरति। सिद्धसेन अपनी वृत्ति में (पृ० ७८, पं० २) उनके 'शौचप्रकरण' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं, जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

२. वृत्तिकार सिद्धसेन 'प्रशमरति' को भाष्यकार की ही कृति बतलाते हैं। यथा—'यतः प्रशमरतौ (का० २०८) अनेनैवोक्तम् —परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।' 'वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतौ (का० ८०) उपात्तम्'—५.६ तथा ९.६ की भाष्यवृत्ति।



तथा सिद्धसेन आदि के उल्लेख से उसकी उमास्वाति-कर्तृकता निश्चित रूप से सिद्ध होती है।

उमास्वाति अपने को 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित्'[1] कर के पहले से ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति को 'पूर्ववित्' रूप से पहचानते आए हैं। दिगम्बर-परम्परा में भी उनको 'श्रुतकेवलिदेशीय' कहा गया है।[2]

तथा सिद्धसेन भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं। यथा-

स्वकृतसूत्रसंनिवेशमाश्रित्योक्तम्।—९. २२, पृ० २५३।

इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः। —तत्त्वार्थभाष्य के सातवें अध्याय की टीका की पुष्पिका। ऐसे अन्य उल्लेखों के लिए आगे—'(ग) उमास्वाति की परम्परा' नामक उपशीर्षक, पृ० १५।

प्रशमरतिप्रकरण की १२०वीं कारिका 'आचार्य आह' कहकर निशीथचूर्णि में उद्धृत है। इस चूर्णि के प्रणेता जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जिसका निर्देश उन्होंने अपनी नन्दिसूत्र की चूर्णि में किया है। अतः कहा जा सकता है कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इससे तथा ऊपर निर्दिष्ट कारणों से इस कृति के वाचक की होने में कोई बाधा नहीं है।

१. पूर्वों के चौदह होने का समवायांग आदि आगमों में वर्णन है। ऐसा भी उल्लेख है कि वे दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग का पाँचवाँ भाग जानते थे। पूर्वश्रुत अर्थात् भ० महावीर द्वारा सर्वप्रथम दिया हुआ उपदेश—ऐसी परम्परागत मान्यता है। पश्चिम के विद्वानों की इस विषय में कल्पना है कि भ० पार्श्वनाथ की परम्परा का जो पूर्वकालीन श्रुत भ० महावीर को अथवा उनके शिष्यों को मिला वह पूर्वश्रुत है। यह श्रुत क्रमशः भ० महावीर के उपदिष्ट श्रुत में ही मिल गया और उसी का एक भाग माना गया। जो भ० महावीर की द्वादशांगी के धारक थे वे इस पूर्वश्रुत को जानते थे। कण्ठस्थ रखने की परम्परा तथा अन्य कारणों से पूर्वश्रुत क्रमशः नष्ट हो गया और आज 'पूर्वगतगाथा' रूप में नाममात्र से शेष उल्लिखित मिलता है। 'पूर्व' के आधार पर बने कुछ ग्रन्थ मिलते हैं।

२. नगर ताल्लुका के एक दिगम्बर शिलालेख नं० ४६ में इन्हें 'श्रुतकेवलिदेशीय' कहा गया है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

तत्त्वार्थ इनके ग्यारह अंग विषयक श्रुतज्ञान की तो प्रतीति करा ही रहा है। इससे इनकी ऐसी योग्यता के विषय में तो कोई संदेह नहीं है। इन्होंने विरासत में प्राप्त आर्हत श्रुत के सभी पदार्थों का संग्रह तत्त्वार्थ[1] में किया है; एक भी महत्त्वपूर्ण बात इन्होंने बिना कथन किये नहीं छोड़ी, इसी कारण आचार्य हेमचन्द्र संग्रहकार के रूप में उमास्वाति का स्थान सर्वोत्कृष्ट आँकते हैं।[2] इसी योग्यता के कारण इनके तत्त्वार्थ की व्याख्या करने के लिए श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्य प्रेरित हुए हैं।

(ग) उमास्वाति की परम्परा

दिगम्बर वाचक उमास्वाति को अपनी परम्परा का मानकर मात्र तत्त्वार्थसूत्र को ही इनकी रचना स्वीकार करते हैं, जब कि श्वेताम्बर इन्हें अपनी परम्परा का मानते हैं और तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त भाष्य को भी इनकी कृति स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्परा में हुए हैं या श्वेताम्बर परम्परा में अथवा दोनों से भिन्न किसी अन्य परम्परा में हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर भाष्य के कर्तृत्व विषयक निर्णय से मिल जाता है। भाष्य स्वयं उमास्वाति की कृति है, यह बात प्रमाणों से निर्विवाद सिद्ध है।[3]

१. भाष्य की उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमें स्वोपज्ञतासूचक उल्लेख ये हैं :

प्रतिज्ञातं चानेन "ज्ञानं वक्ष्यामः" इति। अतस्तनुरोधेनैकवचनं चकार आचार्यः। —प्रथम भाग, पृ० ६९

शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह ......। —पृ० ७२

सूत्रकारादविभक्तोपि हि भाष्यकारो। —पृ० २०५

इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां ......। —द्वितीय भाग, पृ० १२०

---

१. तत्त्वार्थ में वर्णित विषयों के मूल को जानने के लिए देखें—उ० आत्मारामजी द्वारा सम्पादित तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय।

२. उपोमास्वातिं संग्रहीतारः। —सिद्धहेम, २. २. ३९।

३. देखें—'भारतीय विद्या' के सिंघी स्मारक अंक में श्री नाथूरामजी प्रेमी का लेख, पृ० १२८ जिसमें उन्होंने भाष्य को स्वोपज्ञ सिद्ध किया है।

२. भाष्यगत अन्तिम कारिकाओं में से आठवीं कारिका को याकिनी-सूनु हरिभद्राचार्य ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में उमास्वातिकर्तृक रूप में उद्धृत किया है।

३. भाष्य की प्रारम्भिक अंगभूत कारिका के व्याख्यान में आ० देवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को एक-कर्तृक सूचित करते हैं (देखें—का० १–२)।

४. प्रारम्भिक कारिकाओं[1] में और कुछ स्थानों पर भाष्य[2] में भी **वक्ष्यामि, वक्ष्यामः** आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और इस निर्देश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है।

५. भाष्य को प्रारम्भ से अन्त तक देख जाने पर एक बात जँचती है कि कहीं सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचतान नहीं हुई, कहीं सूत्र का अर्थ करने में सन्देह या विकल्प नहीं किया गया, न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।

यह वस्तु-स्थिति सूत्र और भाष्य के एक-कर्तृक होने की चिरकालीन मान्यता को सत्य सिद्ध करती है।[3] जहाँ मूल ग्रन्थकार और टीकाकार अलग-अलग होते हैं वहाँ तत्त्वज्ञान-विषयक प्रतिष्ठित तथा अनेक सम्प्रदायों में मान्य ग्रन्थों में ऊपर जैसी वस्तु-स्थिति नहीं होती। उदाहरणार्थ वैदिक दर्शन में प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' को लीजिए। यदि इसका रचयिता स्वयं ही व्याख्याकार होता तो इसके भाष्य में शब्दों की खींचतान, अर्थ के विकल्प और अर्थ का संदेह तथा सूत्र का पाठभेद कदापि न दिखाई

१. **तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम् ।**
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥

नर्ते च मोक्षमार्गाद् व्रतोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

२. **गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः** । –५. ३७ का भाष्य, अगला सूत्र ५. ४० ।
अनादिरादिमांश्च तं परस्ताद्वक्ष्यामः । –५. २२ का भाष्य, अगला सूत्र ५. ४२ ।

३. अगस्त्यसिंह ने दशवैकालिकचूर्णि में उमास्वाति का नाम देकर सूत्र और भाष्य का उद्धरण दिया है—पृ० ८५ । नयचक्र मूल में भाष्य उद्धृत है—पृ० ५९६ ।

पड़ता। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता ने ही यदि 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' आदि कोई व्याख्या लिखी होती तो उनमें अर्थ की खींचतान, शब्द की तोड़-मरोड़, अध्याहार, अर्थ का संदेह और पाठभेद[1] कभी न दिखाई देते। यह वस्तु-स्थिति निश्चित रूप से एक-कर्तृक मूल तथा टीका-ग्रन्थों को देखने से समझ में आ सकती है। यह चर्चा हमें मूल तथा भाष्य का कर्ता एक होने की मान्यता की निश्चित भूमिका पर लाकर छोड़ देती है।

मूल ग्रन्थकार और भाष्यकार एक ही हैं, यह निश्चय इस प्रश्न के हल करने में बहुत उपयोगी है कि वे किस परम्परा के थे। उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं थे, ऐसा निश्चय करने के लिए नीचे की युक्तियाँ काफी हैं :

१. प्रशस्ति में उल्लिखित उच्चनागर शाखा या नागरशाखा का दिगम्बर सम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण नहीं मिलता।

२. 'काल' किसी के मत से वास्तविक द्रव्य है, ऐसा सूत्र (५. ३८) और उसके भाष्य का वर्णन दिगम्बर मत (५. ३९) के विरुद्ध है। केवली में (९. ११) ग्यारह परीषह होने की सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता एवं भाष्यगत वस्त्र-पात्रादि का स्पष्ट उल्लेख भी दिगम्बर परम्परा के विरुद्ध है (९. ५, ९. ७, ९. २६)। सिद्धों में लिंगद्वार और तीर्थद्वार का भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परम्परा के विपरीत है।

३. भाष्य में केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने न मानने का जो मन्तव्य-भेद (१. ३१) है वह दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं दिखाई देता।

उपर्युक्त युक्तियों से यद्यपि यह सिद्ध होता है कि वाचक उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं थे तथापि यह देखना तो रह ही जाता है कि वे किस परम्परा के थे। निम्न युक्तियाँ उन्हें श्वेताम्बर परम्परा की ओर ले जाती हैं :

१. प्रशस्ति में उल्लिखित उच्चनागर शाखा[2] श्वेताम्बर पट्टावली में मिलती है।

१. उदाहरणार्थ देखें—"चरमदेहा इति वा पाठः"—सर्वार्थसिद्धि, २. ५३। "अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्"—सर्वार्थसिद्धि, ९. ११।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ४ तथा ६-७।

२. अमुक विषय-सम्बन्धी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं हैं जिन्होंने दिगम्बर आचार्यों की भाँति भाष्य को अमान्य कहा हो।

३. जिसे उमास्वाति की कृति मानने में सन्देह का अवकाश नहीं उस प्रशमरति[1] ग्रन्थ में मुनि के वस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवाद रूप से स्वीकार करती है।

४. उमास्वाति के वाचकवंश का उल्लेख और उसी वंश में होनेवाले अन्य आचार्यों का वर्णन श्वेताम्बर पट्टावलियों, पन्नवणा और नन्दी की स्थविरावली में मिलता है।

ये युक्तियाँ वाचक उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करती हैं और समस्त श्वेताम्बर आचार्य पहले से उन्हें अपनी ही परम्परा का मानते आए हैं। वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए और दिगम्बर परम्परा में नहीं, ऐसा स्वयं मेरा मन्तव्य भी अधिक अध्ययन-चिन्तन के बाद स्थिर हुआ है। इस मन्तव्य की विशेष स्पष्टता के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद विषयक इतिहास के कुछ प्रश्नों पर प्रकाश डालना जरूरी है। पहला प्रश्न यह है कि इस समय दिगम्बर-श्वेताम्बर के भेद या विरोध का विषय जो श्रुत तथा आचार है उसकी प्राचीन जड़ कहाँ तक मिलती है और वह मुख्यतया किस बात में थी? दूसरा प्रश्न यह है कि उक्त दोनों सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य श्रुत था या नहीं, और था तो वह समान मान्यता का विषय कब तक रहा, उसमें मतभेद कब से प्रविष्ट हुआ तथा उस मतभेद के अन्तिम परिणामस्वरूप एक-दूसरे के लिए परस्पर पूर्णरूपेण अमान्य श्रुतभेद कब पैदा हुआ? तीसरा और अन्तिम प्रश्न यह है कि उमास्वाति स्वयं किस परम्परा के आचार का पालन करते थे और उन्होंने जिस श्रुत को आधार मानकर तत्त्वार्थ की रचना की वह श्रुत उक्त दोनों सम्प्रदायों को समान रूप से पूर्णतया मान्य था या किसी एक सम्प्रदाय को ही पूर्णरूपेण मान्य था और दूसरे को पूर्णरूपेण अमान्य था?

१. जो भी ऐतिहासिक सामग्री इस समय प्राप्त है उससे निर्विवाद-रूपेण इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर पार्श्वापत्य

१. देखें—का० १३५ और आगे।

परम्परा[1] में हुए थे और उन्होंने शिथिल या मध्यम त्याग-मार्ग में अपने उत्कट त्यागमार्गमय व्यक्तित्व द्वारा नवजीवन का संचार किया था। शुरू में विरोध और उदासीनभाव रखनेवाले अनेक पार्श्वसन्तानिक साधु व श्रावक भी भगवान् महावीर के शासन में मिल गए।[2] भगवान् महावीर ने अपनी नायकत्वोचित उदार किन्तु तात्त्विक दृष्टि से अपने शासन में उन दोनों दलों का स्थान निश्चित किया[3] जिनमें से एक बिलकुल नग्नजीवी तथा उत्कट विहारी था और दूसरा मध्यममार्गी था जो बिलकुल नग्न नहीं था। दोनों दलों का बिलकुल नग्न रहने या न रहने के विषय में तथा अन्य आचारों में थोड़ा-बहुत अन्तर रहा[4], फिर भी वह भगवान् के व्यक्तित्व के कारण विरोध का रूप धारण नहीं कर पाया। उत्कट और मध्यम त्यागमार्ग के इस प्राचीन समन्वय में ही वर्तमान दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद की जड़ है।

उस प्राचीन समय में जैन परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे शब्द नहीं थे, फिर भी आचारभेद के सूचक नग्न, अचेल (उत्त० २३. १३, २९), जिनकल्पिक, पाणिप्रतिग्रह (कल्पसूत्र, ९. २८), पाणिपात्र आदि शब्द उत्कट त्यागवाले दल के लिए तथा सचेल, प्रतिग्रहधारी (कल्पसूत्र, ९. ३१), स्थविरकल्प (कल्पसूत्र, ९. ६३) आदि शब्द मध्यमत्यागवाले दल के लिए मिलते हैं।

---

१. आचारांग, सूत्र १७८।

२. कालासवेसियपुत्त (भगवती, १. ९), केशी (उत्तराध्ययन, अध्ययन २३), उदकपेढालपुत्त (सूत्रकृताङ्ग, २. ७), गांगेय (भगवती, ९. ३२) इत्यादि। विशेष के लिए देखें—'उत्थान' का महावीरांक, पृ० ५८। कुछ पार्श्वापत्यों ने तो पंचमहाव्रत और प्रतिक्रमण के साथ नग्नत्व भी स्वीकार किया था, ऐसा उल्लेख आज तक अंगों में सुरक्षित है। उदाहरणार्थ देखें—भगवती, १. ९।

३. आचारांग में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के मुनियों का वर्णन है। अचेल मुनि के वर्णन के लिए प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन के १८३ से आगे के सूत्र और सचेल मुनि के वस्त्रविषयक आचार के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ५वाँ अध्ययन द्रष्टव्य है। सचेल तथा अचेल दोनों मुनि मोह को कैसे जीतें, इसके रोचक वर्णन के लिए देखें—आचारांग, १. ८।

४. देखें—उत्तराध्ययन, अ० २३।

२. इन दो दलों में आचार-विषयक भेद होते हुए भी भगवान् के शासन के मुख्य प्राणरूप श्रुत में कोई भेद नहीं था, दोनों दल बारह अंग के रूप में मान्य तत्कालीन श्रुत को समान रूप से मानते थे। आचार-विषयक कुछ भेद और श्रुतविषयक पूर्ण अभेद की यह स्थिति तरतमभाव से महावीर के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक रही। इस बीच में भी दोनों दलों के अनेक योग्य आचार्यों ने उसी अंग-श्रुत के आधार पर छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की थी जिनको सामान्यरूप से दोनों दलों के अनुगामी तथा विशेषरूप से उस-उस ग्रन्थ के रचयिता के शिष्यगण मानते थे और अपने-अपने गुरु-प्रगुरु की कृति समझकर उस पर विशेष जोर देते थे। वे ही ग्रन्थ अंगबाह्य, अनंग या उपांग रूप मे व्यवहृत हुए।[1] दानों दलों की श्रुत के विषय में इतनी अधिक निष्ठा व प्रामाणिकता रही कि जिससे अंग और अंगबाह्य का प्रामाण्य समान रूप से मानने पर भी किसी ने अंग और अनंग-श्रुत की भेदक रेखा को गौण नहीं किया जो कि दोनों दलों के वर्तमान साहित्य में आज भी स्थिर है।

एक ओर अचेल-सचेल आदि आचार का पूर्वकालीन मतभेद जो पारस्परिक सहिष्णुता तथा समन्वय के कारण दबा हुआ था, धीरे-धीरे तीव्र होता गया और दूसरी ओर उसी आचारविषयक मतभेद का समर्थन दोनों दलवाले मुख्यतया अंग-श्रुत के आधार पर करने लगे और साथ ही अपने-अपने दल के द्वारा रचित विशेष अंगबाह्य श्रुत का उपयोग भी उसके समर्थन में करने लगे। इस प्रकार मुख्यतया आचार-भेद में से जो दलभेद स्थिर हुआ उसके कारण सारे शासन में अनेक गड़बड़ियाँ पैदा हुईं। फलस्वरूप पाटलिपुत्र की वाचना (वी० नि० १६० के लगभग) हुई।[2] इस वाचना तक और इसके आगे भी ऐसा अभिन्न अंग-श्रुत रहा जिसे दोनों दल समान रूप से मानते थे, पर कहते जाते थे कि उस मूलश्रुत का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। साथ ही वे अपने-अपने अभिमत-आचार के पोषक ग्रन्थों का भी निर्माण करते रहे। इसी आचारभेद-पोषक श्रुत के द्वारा अन्ततः उस प्राचीन अभिन्न अंग-श्रुत में मतभेद का जन्म हुआ, जो आरम्भ में अर्थ करने में था पर

१. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, आवश्यक, ऋषि-भाषित आदि।

२. परिशिष्टपर्व, सर्ग ९ श्लोक ५५ तथा आगे; वीरनिर्वाणसंवत् और जैन-कालगणना, पृ० ९४।

आगे जाकर पाठभेद की तथा प्रक्षेप आदि की कल्पना में परिणत हो गया। इस प्रकार आचारभेदजनक विचारभेद ने उस अभिन्न अंगश्रुत-विषयक दोनों दलों की समान मान्यता में भी अन्तर पैदा किया। इससे एक दल तो यह मानने-मनवाने लगा कि वह अभिन्न मूल अंगश्रुत बहुत अंशों में लुप्त ही हो गया है। जो है वह भी कृत्रिमता तथा नये प्रक्षेपों से रिक्त नहीं है, ऐसा कहकर भी उस दल ने उस मूल अंगश्रुत को सर्वथा छोड़ नहीं दिया। लेकिन साथ ही साथ अपने आचारपोषक श्रुत का विशेष निर्माण करने लगा और उसके द्वारा अपने पक्ष का प्रचार भी करता रहा। दूसरे दल ने देखा कि पहला दल उस मूल अंगश्रुत में कृत्रिमता के समाविष्ट हो जाने का आक्षेप भी करता है पर वह उसे सर्वथा छोड़ता भी नहीं और न उसकी रक्षा में सहयोग ही देता है। यह देखकर दूसरे दल ने मथुरा में एक सम्मेलन आयोजित किया।[1] उसमें मूल अंगश्रुत के साथ अपने मान्य अंगबाह्य श्रुत का पाठनिश्चय, वर्गीकरण और संक्षेप-विस्तार आदि किया गया, जो उस सम्मेलन में भाग लेनेवाले सभी स्थविरों को प्रायः मान्य रहा। यद्यपि इस अंग और अनंग-श्रुत का यह नव-संस्करण था तथा उसमें अंग और अनंग की भेदक रेखा होने पर भी अंग में अनंग का प्रवेश तथा प्रमाण[2], जो कि दोनों के समप्रामाण्य का सूचक है, आ गया था तथा उसके वर्गीकरण तथा पाठस्थापन में भी अन्तर आ गया था, फिर भी यह नया संस्करण उस मूल अंग-श्रुत के बहुत निकट था, क्योंकि इसमें विरोधी दल की आचार-पोषक वे सभी बातें थीं जो मूल अंगश्रुत में थीं। इस माथुर-संस्करण के समय से तो मूल अंगश्रुत की समान मान्यता में दोनों दलों का बड़ा ही अन्तर आ गया, जिसने दोनों दलों के तीव्र श्रुतभेद की नींव रखी। अचेलत्वसमर्थक दल का कहना था कि मूल अंगश्रुत सर्वथा लुप्त हो गया है, जो श्रुत सचेल दल के पास है और जो हमारे पास है वह सब मूल अर्थात् गणधरकृत न होकर बाद के अपने-अपने आचार्यों द्वारा रचित व संकलित है। सचेल दलवाले कहते थे कि निःसन्देह बाद के आचार्यों द्वारा अनेकविध नया श्रुत निर्मित हुआ है

१. वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखें—वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना, पृ० १०४।

२. जैसे भगवतीसूत्र में अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम और राजप्रश्नीय का उल्लेख है।

और उन्होंने नई संकलना भी की है, फिर भी मूल अंगश्रुत के भावों में कोई परिवर्तन या काट-छाँट नहीं की गई है। बारीकी से देखने तथा ऐतिहासिक कसौटी पर कसने पर सचेल दल की बात बहुत-कुछ सत्य ही जान पड़ती है, क्योंकि सचेलत्व का समर्थन करते रहने पर भी इस दल ने अंगश्रुत में से अचेलत्वसमर्थक, अचेलत्वप्रतिपादक किसी अंश को उड़ा नहीं दिया।[1] जैसे अचेल दल का कहना था कि मूल अंगश्रुत लुप्त हो गया वैसे ही सचेल दल का कहना था कि जिनकल्प अर्थात् पाणिपात्र या अचेलत्व का जिनसम्मत आचार भी काल-भेद के कारण लुप्त हो गया है।[2] फिर भी हम देखते हैं कि सचेल दल के द्वारा संस्कृत, संगृहीत और नव-संकलित श्रुत में अचेलत्व के आधारभूत सब पाठ तथा तदनुकूल व्याख्याएँ विद्यमान हैं। सचेल दल द्वारा अवलम्बित अंगश्रुत के मूल अंगश्रुत से निकटतम होने का प्रमाण यह है कि वह उत्सर्ग—सामान्यभूमिकावाला है, जिसमें अचेल दल के सब अपवादों का या विशेष मार्गों का विधान पूर्णतया आज भी विद्यमान है, जब कि अचेल दल-सम्मत नग्नत्वाचारश्रुत औत्सर्गिक नहीं है, क्योंकि वह मात्र अचेलत्व का ही विधान करता है। सचेल दल का श्रुत अचेल तथा सचेल दोनों आचारों को मोक्ष का अंग मानता है, वास्तविक अचेल-आचार की प्रधानता भी स्वीकार करता है। उसका मतभेद उसकी सामयिकता मात्र में है, जब कि अचेल दल का श्रुत सचेलत्व को मोक्ष का अंग ही नहीं मानता, उसे बाधक तक मानता है।[3] ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा उस मूल अंगश्रुत के अति निकट है।

मथुरा के बाद वलभी[4] में पुनः श्रुत-संस्कार हुआ, जिसमें स्थविर या सचेल दल का रहा-सहा मतभेद भी समाप्त हो गया। पर साथ ही

---

१. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १९ की टिप्पणी ३।

२. गण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
 संजमति-केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा ॥

—विशेषा० २५९३।

३. सर्वार्थसिद्धि में नग्नत्व को मोक्ष का मुख्य और अबाधित कारण माना गया है।

४. वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखें—वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना, पृ० ११०।

अचेल दल का श्रुत-विषयक विरोध उग्रतर हो गया। अचेल दल में से अमुक ने अब रहे-सहे औदासीन्य को छोड़ सचेल दल के श्रुत का सर्वथा बहिष्कार करने का ठान लिया।

३. वाचक उमास्वाति स्थविर या सचेल परम्परा के आचारवाले अवश्य रहे, अन्यथा उनके भाष्य एवं प्रशमरति ग्रन्थ में सचेल धर्मानुसारी प्रतिपादन कदापि न होता, क्योंकि अचेल दल के किसी भी प्रवर मुनि की सचेल प्ररूपणा बिलकुल सम्भव नहीं। अचेल दल के प्रधान मुनि कुन्दकुन्द ने भी एकमात्र अचेलत्व का ही निर्देश किया है[1], अतः कुन्दकुन्द के अन्वय में होनेवाले किसी अचेल मुनि द्वारा सचेलत्व-प्रतिपादन संगत नहीं। प्रशमरति की उमास्वाति-कर्तृकता भी विश्वसनीय है। स्थविर दल की प्राचीन और विश्वस्त वंशावली में उमास्वाति की उच्चानागर शाखा तथा वाचक पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक किसी भी समय में हुए हों, पर उन्होंने तत्त्वार्थ की रचना के आधाररूप में जिस अंग-अनंग श्रुत का अवलम्बन किया था वह स्थविरपक्ष को मान्य था।[2] अचेल दल उसके विषय में या तो उदासीन था या उसका त्याग ही कर बैठा था। यदि उमास्वाति माथुरी-वाचना के कुछ पूर्व हुए हों तब तो उनके द्वारा अवलम्बित अंग और अनंग श्रुत के विषय में अचेल पक्ष का प्रायः औदासीन्य था। यदि वे वालभी-वाचना के आसपास हुए हों तब तो उनके अवलम्बित श्रुत के विषय में अचेल दल में से अमुक उदासीन ही नहीं, विरोधी भी बन गए थे।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य होगा कि जब उमास्वाति द्वारा अवलम्बित श्रुत अचेल दल में से अमुक को मान्य न था तब उस दल के अनुगामियों ने तत्त्वार्थ को इतना अधिक क्यों अपनाया? इसका उत्तर भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना से तथा मूलसूत्र से मिल जाता है। उमास्वाति जिस सचेलपक्षावलंबित श्रुत के धारक थे उसमें नग्नत्व का भी प्रतिपादन

१. प्रवचनसार, अधि० ३।

२. वृत्तिकार सिद्धसेन द्वारा अवलंबित स्थविरपक्षीय श्रुत वालभी-वाचनावाला रहा, जब कि उमास्वाति द्वारा अवलंबित स्थविरपक्षीय श्रुत वालभी-वाचना के पहले का है, जो सम्भवतः माथुरी-वाचनावाला होना चाहिए। इसी से लगता है कि कहीं-कहीं सिद्धसेन को भाष्य में आगम-विरोध-सा दिखाई दिया है।

और आदर रहा ही, जो सूत्रगत नाग्न्य (९.९) शब्द से प्रकट है। उनके भाष्य में अंगबाह्य रूप में जिस श्रुत का निर्देश है वह सब सर्वार्थसिद्धि में नहीं आया, क्योंकि दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार आदि अचेल पक्ष के अनुकूल ही नहीं हैं। वह स्पष्टतया सचेल पक्ष का पोषक है, पर सर्वार्थसिद्धि में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन का नाम आता है, जो खास अचेल पक्ष के किसी आचार्य की कृतिरूप से निश्चित न होने पर भी अचेल पक्ष का स्पष्ट विरोधी नहीं है।

उमास्वाति के मूलसूत्रों की आकर्षकता तथा भाष्य को छोड़ देने मात्र से सूत्रों को अपने पक्षानुकूल बनाने की योग्यता देखकर ही पूज्यपाद ने उन सूत्रों पर ऐसी व्याख्या लिखी जिसमें केवल अचेलधर्म का ही प्रतिपादन हो और सचेल धर्म का स्पष्टतया निरसन हो। इतना ही नहीं, पूज्यपादस्वामी ने सचेलपक्षावलम्बित एकादश अंग तथा अंगबाह्य श्रुत, जो वालभी-लेखन का वर्तमान रूप है, का भी स्पष्टतया अप्रामाण्य सूचित कर दिया है। उन्होंने कहा है कि केवली को कवलाहारी मानना तथा मांस आदि ग्रहण करनेवाला कहना क्रमशः केवली-अवर्णवाद तथा श्रुत-अवर्णवाद है।[1] वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, जिसमें मुख्यरूप से अचेलधर्म का स्पष्ट प्रतिपादन है, के बन जाने के बाद सचेलपक्षावलम्बित समग्र श्रुत का जैसा बहिष्कार अमुक अचेल पक्ष ने किया वैसा दृढ़ व ऐकान्तिक बहिष्कार सर्वार्थसिद्धि की रचना के पूर्व नहीं हुआ था। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना के बाद अचेल पक्ष में सचेलपक्षीय श्रुत का प्रवेश नाममात्र का ही रहा, जैसा कि उत्तरकालीन दिगम्बर विद्वानों की श्रुतप्रवृत्ति से स्पष्ट है। इस स्थिति में अपवाद है जो नगण्य है।[2] वस्तुतः पूज्यपाद के आसपास अचेल और सचेल पक्ष में इतनी खींच-तान और पक्ष-प्रतिपक्षता बढ़ गई थी

---

१. भगवतीसूत्र (शतक १५), आचाराङ्ग (शीलाङ्कटीकासहित, पृ० ३३४, ३३५, ३४८, ३५२, ३६४), प्रश्नव्याकरण (पृ० १४८, १५०) आदि में मांस-संबंधी जो पाठ आते हैं उनको लक्ष्य में रखकर सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है कि आगम में ऐसी बातों का होना स्वीकार करना श्रुत-अवर्णवाद है। भगवती (शतक १५) आदि के केवली-आहार वर्णन को लक्ष्य में रखकर उन्होंने कहा है कि यह केवली का अवर्णवाद है।

२. अकलङ्क और विद्यानन्द आदि सिद्धसेन के ग्रन्थों से परिचित रहे। देखें—राजवार्तिक, ८. १. १७ तथा श्लोकवार्तिक, पृ० ३।

कि उसी के फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि के बन जाने तथा उसके अति प्रतिष्ठित हो जाने पर अचेल पक्ष में से तत्त्वार्थ-भाष्य का रहा-सहा स्थान भी हट गया। विचार करने पर भी इस प्रश्न का अब तक कोई उत्तर नहीं मिला कि जैसे-तैसे भी सचेल पक्ष ने अंगश्रुत को अभी तक किसी-न-किसी रूप में सम्हाल रखा, तब बुद्धि में, श्रुत-भक्ति में और अप्रमाद में जो सचेल पक्ष से किसी तरह कम नहीं उस अचेल पक्ष ने अंग-श्रुत को समूल नष्ट क्यों होने दिया? जब कि अचेल पक्ष के अग्रगामी कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, समन्तभद्र आदि का इतना श्रुत-विस्तार अचेल पक्ष ने सम्हालकर रखा, तब कोई कारण नहीं था कि वह आज तक भी अंगश्रुत के अमुक मूल भाग को न सम्हाल सकता। अंगश्रुत को छोड़कर अंग-बाह्य की ओर दृष्टिपात करने पर भी प्रश्न रहता ही है कि पूज्यपाद के द्वारा निर्दिष्ट दशवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे छोटे-से ग्रन्थ अचेलपक्षीय श्रुत में से लुप्त कैसे हो गए, जब कि उनसे भी बड़े ग्रन्थ उस पक्ष में बराबर रहे। सब बातों पर विचार करने से मैं इसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मूल अंगश्रुत का प्रवाह अनेक अवश्यम्भावी परिवर्तनों की चोटें सहन करता हुआ भी आज तक चला आया है जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा अभी सर्वथा मान्य है और जिसे दिगम्बर सम्प्रदाय बिलकुल नहीं मानता।

श्रुत के इस सन्दर्भ में एक प्रश्न की ओर इतिहास के विद्वानों का ध्यान खींचना आवश्यक है। पूज्यपाद तथा अकलङ्क ने दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन का निर्देश किया है। इतना ही नहीं, दशवैकालिक पर तो नग्नत्व के समर्थक अपराजित आचार्य ने टीका भी लिखी थी। इन्होंने भगवती-आराधना पर भी टीका लिखी है।[1] ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण दिगम्बर परम्परा से दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का प्रचार क्यों उठ गया? जब हम देखते हैं कि मूलाचार, भगवती-आराधना जैसे अनेक ग्रन्थ जो कि वस्त्र आदि उपधि का भी अपवाद रूप से मुनि के लिए निरूपण करते हैं और जिनमें आर्यिकाओं के मार्ग का भी निरूपण है और जो दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन की अपेक्षा मुनि-आचार का उत्कट प्रतिपादन नहीं करते वे ग्रन्थ सम्पूर्ण दिगम्बर परम्परा में एक-से मान्य हैं और जिन पर कई प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों ने संस्कृत तथा

१. देखें—भगवती आराधना, पृ० ११९६; अनेकान्त, वर्ष २, अंक १, पृ० ५७।

भाषा (हिन्दी) में टीकाएँ भी लिखी हैं, तब तो उपर्युक्त प्रश्न और भी बलवान् बन जाता है। मूलाचार तथा भगवती-आराधना जैसे ग्रन्थों को श्रुत में स्थान देनेवाली दिगम्बर परम्परा दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को क्यों नहीं मानती ? अथवा दशवैकालिक आदि को छोड़ देनेवाली दिगम्बर परम्परा मूलाचार आदि को कैसे मान सकती है ? इस असंगतिसूचक प्रश्न का उत्तर सरल भी है और कठिन भी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो सरल है और केवल पन्थ-दृष्टि से विचार करें तो कठिन है।

इतिहास से अनभिज्ञ लोग बहुधा यही सोचते हैं कि अचेल या दिगम्बर परम्परा एकमात्र नग्नत्व को ही मुनित्व का अंग मानती है या मान सकती है। नग्नत्व के अतिरिक्त थोड़े भी उपकरण धारण करने को दिगम्बरत्व में कोई स्थान नहीं। जब से दिगम्बर परंपरा में तेरापन्थ की भावना ने जोर पकड़ा और दूसरे दिगम्बर अवान्तर पक्ष या तो नामशेष हो गए या तेरापन्थ के प्रभाव में दब गए तब से तो पन्थ-दृष्टिवालों का उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो गया कि मुनित्व का अंग तो एकमात्र नग्नत्व है—थोड़ी भी उपधि उसका अंग नहीं हो सकती और नग्नत्व की असंभावना के कारण न स्त्री ही मुनि-धर्म की अधिकारिणी बन सकती है। ऐसी पन्थ-दृष्टि के लोग उपर्युक्त असंगति का सच्चा समाधान प्राप्त ही नहीं कर सकते। उनके लिए यही मार्ग रह जाता है कि या तो वे कह दें कि वैसे उपधिप्रतिपादक सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर हैं या श्वेताम्बर प्रभाववाले किन्हीं विद्वानों के हैं या उन्हें पूर्ण दिगम्बर मुनित्व का प्रतिपादन अभिप्रेत नहीं है। ऐसा कहकर भी वे अनेक उलझनों से मुक्त नहीं हो सकते। अतएव उनके लिए प्रश्न का सच्चा उत्तर कठिन है।

परन्तु जैन-परम्परा के इतिहास के अनेक पहलुओं का अध्ययन तथा विचार करनेवाले के सामने वैसी कोई कठिनाई नहीं। जैन-परम्परा के इतिहास से स्पष्ट है कि अचेल या दिगम्बर पक्ष में भी अनेक संघ या गच्छ ऐसे हुए हैं जो मुनिधर्म के अंगरूप में उपधि का आत्यन्तिक त्याग मानने न मानने के विषय में पूर्णतया एकमत नहीं थे। कुछ संघ ऐसे भी थे जो नग्नत्व और पाणिपात्रत्व का पक्ष लेते हुए भी व्यवहार में थोड़ी-बहुत उपधि अवश्य स्वीकार करते थे। वे एक प्रकार से मृदु या मध्यममार्गी अचेल दलवाले थे। कोई संघ या कुछ संघ ऐसे भी थे जो मात्र नग्नत्व का समर्थन करते थे और व्यवहार में भी उसी का अनुसरण करते थे। वे

ही तीव्र या उत्कट अचेल दलवाले थे। जान पड़ता है कि संघ या दल कोई भी हो पर पाणिपात्रत्व सबका समान रूप में था। इसीलिए वे सब दिगम्बर ही समझे जाते थे। इसी मध्यम और उत्कट भावनावाले भिन्न-भिन्न संघों या गच्छों के विद्वानों या मुनियों द्वारा रचित आचार-ग्रन्थों में नग्नत्व और वस्त्र आदि का विरोधी निरूपण आ जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त यापनीय आदि कुछ ऐसे भी संघ हुए जो न तो पूरे सचेल पक्ष के समझे गए और न पूरे अचेल पक्ष में ही स्थान पा सके। ऐसे संघ जब लुप्त हो गए तब उनके आचार्यों की कुछ कृतियाँ तो श्वेताम्बर पक्ष के द्वारा ही मुख्यतया रक्षित हुईं जो उस पक्ष के विशेष अनुकूल थीं और कुछ कृतियाँ दिगम्बर पक्ष में ही विशेषतया रह गईं और कालक्रम से दिगम्बर ही मानी जाने लगीं। इस प्रकार प्राचीन और मध्यकालीन तथा मध्यम और उत्कट भावनावाले अनेक दिगम्बर संघों के विद्वानों की कृतियों में समुचित रूप से कहीं नग्नत्व का आत्यन्तिक प्रतिपादन और कहीं मर्यादित उपधि का प्रतिपादन दिखाई दे तो यह कोई असंगत बात नहीं है। इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय में नग्नत्व की आत्यन्तिक आग्रही जो तेरापन्थीय भावना दिखाई देती है वह पिछले दो-तीन सौ वर्षों का परिणाम है। केवल इस भावना के आधार पर पुराने सब दिगम्बर समझे जानेवाले साहित्य का स्पष्टीकरण कभी संभव नहीं। दशवैकालिक आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में इतनी अधिक प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं कि जिनका त्याग आप ही आप दिगम्बर परम्परा में सिद्ध हो गया। यदि मूलाचार आदि ग्रन्थों को भी श्वेताम्बर परम्परा पूरी तरह अपना लेती तो वे दिगम्बर परम्परा में शायद ही अपना इतना स्थान बनाए रखते।

(घ) उमास्वाति की जाति और जन्म-स्थान

प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से जातिविषयक कोई कथन नहीं है, फिर भी माता का गोत्रसूचक 'वात्सी' नाम इसमें है और 'कौभीषणि' भी गोत्र-सूचक विशेषण है। गोत्र का यह निर्देश उमास्वाति के ब्राह्मण जाति का होने की सूचना देता है, ऐसा कहना गोत्र-परम्परा को ठेठ से पकड़ रखनेवाली ब्राह्मण जाति के वंशानुक्रम के अभ्यासी को शायद ही सदोष प्रतीत हो। प्रशस्ति वाचक उमास्वाति के जन्म-स्थान के रूप में 'न्यग्रोधिका' ग्राम का निर्देश करती है। यह न्यग्रोधिका स्थान कहाँ है, इसका इतिहास क्या है और आज उसकी क्या स्थिति है—यह सब अंधकार में है। इसकी छानबीन करना दिलचस्पी का विषय है। प्रशस्ति में तत्त्वार्थसूत्र

के रचना-स्थान के रूप में 'कुसुमपुर' का निर्देश है। यह कुसुमपुर ही इस समय बिहार का पटना है। प्रशस्ति में कहा गया है कि विहार करते-करते पटना में तत्त्वार्थ को रचना हुई। इस पर से नीचे की कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं :

१. उमास्वाति के समय में और कुछ आगे-पीछे भी मगध में जैन भिक्षुओं का खूब विहार होता रहा होगा और उस तरफ जैन संघ का बल तथा आकर्षण भी रहा होगा।

२. विशिष्ट शास्त्र के लेखक जैन भिक्षु अपनी अनियत स्थानवास की परम्परा को बराबर कायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जंगम विद्यालय' बना लिया था।

३. विहार-स्थान पाटलिपुत्र (पटना) और मगधदेश से जन्म-स्थान न्यग्रोधिका सामान्य तौर पर बहुत दूर नहीं रहा होगा।

२. तत्त्वार्थ के व्याख्याकार

तत्त्वार्थ के व्याख्याकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में हुए हैं, परन्तु इसमें अन्तर यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में सभाष्य तत्त्वार्थ की व्याख्याओं की प्रधानता है और दिगम्बर परम्परा में मूल सूत्रों की ही व्याख्याएँ हुई हैं। दोनों सम्प्रदायों के इन व्याख्याकारों में कितने ही ऐसे विशिष्ट विद्वान् हैं जिनका स्थान भारतीय दार्शनिकों में भी आ सकता है। अतः यहाँ ऐसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारों का ही संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

(क) उमास्वाति

तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्यरूप में व्याख्या लिखनेवाले स्वयं सूत्रकार उमास्वाति ही हैं। इनके विषय में पहले लिखा जा चुका है। अतः इनके विषय में यहाँ अलग से लिखना आवश्यक नहीं है। सिद्धसेनगणि[1] की भाँति आचार्य हरिभद्र भी भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं, ऐसा उनकी भाष्य-टीका के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात होता है।[2] हरिभद्र

---

१. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १३, टि० १ और पृ० १५-१६।

२. "एतन्निबन्धनत्वात् संसारस्येति स्वाभिप्रायमभिधाय मतान्तरमुपन्यस्यन्नाह—एके त्वित्यादिना"—पृ० १४१।

प्रशमरति[1] को भाष्यकार की ही रचना समझते हैं। ऐसी स्थिति में भाष्य को स्वोपज्ञ न मानने की आधुनिक कल्पनाएँ भ्रांत ठहरती हैं। पून्यपाद, अकलङ्क आदि किसी प्राचीन दिगम्बर टीकाकार ने ऐसी बात नहीं उठाई है जो भाष्य की स्वोपज्ञता के विपरीत हो।

(ख) गन्धहस्ती[2]

वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्याकार या भाष्यकार के रूप में जैन परम्परा में दो गंधहस्ती प्रसिद्ध हैं। उनमें एक दिगम्बराचार्य और दूसरे श्वेताम्बराचार्य माने जाते हैं। गंधहस्ती विशेषण है। यह विशेषण दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् आ० समन्तभद्र का समझा जाता है और इससे फलित होता है कि आप्तमीमांसा के रचयिता गंध-हस्तिपदधारी स्वामी समन्तभद्र ने वा० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या लिखी थी। श्वेताम्बर परम्परा में गंधहस्ती विशेषण वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर का है। यह मान्यता इस समय प्रचलित है। इसके अनुसार फलित होता है कि सन्मति के रचयिता और वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या लिखी थी। ये दोनों मान्यताएँ और उन पर से निष्पन्न उक्त मन्तव्य अप्रामाणिक होने से ग्राह्य नहीं हैं। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र की कृति के लिए 'गंधहस्ती' विशेषण व्यवहृत मिलता है, जो लघुसमन्तभद्रकृत अष्ट-सहस्री के टिप्पण से स्पष्ट है। लघुसमन्तभद्र का काल १४वीं-१५वीं शताब्दी के बीच का माना जाता है।[3] उनके प्रस्तुत उल्लेख का समर्थक एक भी सुनिश्चित प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं है। अब तक के अध्ययन-चिन्तन से मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि कहीं भाष्य, कहीं महाभाष्य,

---

१. "यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" कहकर हरिभद्र ने भाष्यटीका में प्रशमरति की कारिकाएँ २१० व २११ उद्धृत की हैं।

२. 'शक्रस्तव' नाम से प्रसिद्ध 'नमोत्थुणं' के प्राचीन स्तोत्र में 'पुरिसवर-गन्धहत्थीणं' कहकर तीर्थंकर को गन्धहस्ती विशेषण दिया गया है। दसवीं और ग्यारहवीं शक शताब्दी के दिगम्बर शिलालेखों में एक वीर सैनिक को गन्धहस्ती उपनाम दिया गया मिलता है। एक जैन मन्दिर का नाम भी 'सवति गन्धवारण जिनालय' है। देखें—डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित जैन शिला-लेख संग्रह, पृ० १२३ व १२९ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख।

३. देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० २१४-२२०।

कहीं तत्त्वार्थभाष्य, कहीं गन्धहस्तिभाष्य जैसे अलग-अलग अनेक उल्लेख दिगम्बर-साहित्य में बिखरे हुए मिलते हैं और कहीं स्वामी समन्तभद्र नाम का निर्देश तत्त्वार्थ-महाभाष्य के साथ भी है। यह सब देखकर बाद के अर्वाचीन लेखकों को यह भ्रान्तिमूलक विश्वास हुआ कि स्वामी समन्तभद्र ने उमास्वाति के तत्त्वार्थ पर गन्धहस्ती नामक महाभाष्य लिखा था। इसी विश्वास ने उन्हें ऐसा लिखने को प्रेरित किया। वस्तुतः उनके सामने न तो ऐसा कोई प्राचीन आधार था और न कोई ऐसी कृति थी जो तत्त्वार्थसूत्र पर गन्धहस्ती-भाष्य नामक व्याख्या को समन्तभद्रकर्तृक सिद्ध करते। भाष्य, महाभाष्य, गन्ध-हस्ती आदि बड़े-बड़े शब्द तो थे ही, अतएव यह विचार आना स्वाभाविक है कि समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के अतिरिक्त ऐसी कृति कौन रच सकता है? विशेषकर इस स्थिति में कि जब अकलङ्क आदि बाद के आचार्यों के द्वारा रचित कोई कृति गन्धहस्ती-भाष्य नाम से निश्चित न की जा सकती हो। उमास्वाति के अतिप्रचलित तत्त्वार्थ पर स्वामी समन्तभद्र जैसे आचार्य की छोटी-मोटी कोई कृति हो तो उसके उल्लेख या किसी अवतरण का सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि अति-शास्त्रीय टीकाओं में सर्वथा न पाया जाना कभी संभव नहीं। यह भी सम्भव नहीं है कि वैसी कोई कृति सर्वार्थसिद्धि आदि के समय तक लुप्त ही हो गई हो जब कि समन्तभद्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं। जो हो, मुझे अब कोई सन्देह नहीं है कि तत्त्वार्थ पर समन्तभद्र का गन्धहस्ती नामक कोई भाष्य नहीं था।

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अनेकान्त (वर्ष १, पृ० २१६) में लिखा है कि 'धवला' में गन्धहस्ती-भाष्य का उल्लेख आता है, पर हमें धवला की मूल प्रति को जाँच करनेवाले पं० हीरालालजी न्यायतीर्थ के द्वारा विश्वस्त रूप से ज्ञात हुआ है कि धवला में गन्धहस्ती-भाष्य शब्द का उल्लेख नहीं है।

वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर के गन्धहस्ती होने की श्वेताम्बर-मान्यता सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के एक उल्लेख पर से चली है।[1] उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने 'महावीरस्तव' में गन्धहस्ती के कथन के रूप में सिद्धसेन दिवाकर

१. "अनेनैवाऽभिप्रायेणाह गन्धहस्ती सम्मतौ"— न्यायखण्डखाद्य, पृ० १६।

के 'सन्मति' की एक गाथा उद्धृत की है। उस पर से आजकल यह माना जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर ही गन्धहस्ती हैं। परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी का यह उल्लेख भ्रान्तिपूर्ण है। इसके दो प्रमाण इस समय स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उ० यशोविजयजी से पूर्व के किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकार ने सिद्धसेन दिवाकर के साथ या निश्चित रूप से उनकी मानी जानेवाली कृतियों के साथ या उन कृतियों से उद्धृत अवतरणों के साथ एक भी स्थल पर गन्धहस्ती विशेषण का उपयोग नहीं किया है। सिद्धसेन दिवाकर की कृति के अवतरण के साथ 'गन्धहस्ती' विशेषण का प्रयोग करनेवाले केवल यशोविजयजी ही हैं, अतः उनका यह कथन किसी भी प्राचीन आधार से रहित है। इसके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर के जीवन-वृत्तान्तवाले जितने प्राचीन या अर्वाचीन प्रबन्ध मिलते हैं उनमें कहीं भी 'गन्धहस्ती' पद व्यवहृत दृष्टिगोचर नहीं होता,[1] जब कि दिवाकर पद प्राचीन प्रबन्धों तक में और दूसरे आचार्यों के ग्रन्थों में भी प्रयुक्त मिलता है।[2] दूसरा प्रबल और अकाट्य प्रमाण यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी से पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थों में जो गन्धहस्ती के अवतरण[3] मिलते हैं वे सभी अवतरण कहीं

---

१. भद्रेश्वरकृत कथावलीगत सिद्धसेनप्रबन्ध, अन्य लिखित सिद्धसेनप्रबन्ध, प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्धांतर्गत सिद्धसेनप्रबन्ध, प्रबन्धचिंतामणिगत विक्रम-प्रबन्ध और चतुर्विंशतिप्रबन्ध।

सिद्धसेन के जीवन-प्रबन्धों में जैसे दिवाकर उपनाम आता है और उसका समर्थन मिलता है वैसे गन्धहस्ती के विषय में कुछ भी नहीं है। यदि गन्धहस्ती पद का इतना प्राचीन प्रयोग मिलता है तो यह प्रश्न होता ही है कि प्राचीन ग्रंथकारों ने दिवाकर पद की तरह गन्धहस्ती पद सिद्धसेन के नाम के साथ या उनकी किसी निश्चित कृति के साथ प्रयुक्त क्यों नहीं किया ?

२. देखें—हरिभद्रकृत पंचवस्तु, गाथा १०४८।

३. तुलना के लिए देखें—

"निद्रादयो यतः समधिगताया एव दर्शनलब्धेः उपयोगघाते प्रवर्त्तन्ते चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् मूलघातं निहन्ति दर्शनलब्धिम् इति।"	"आह च गन्धहस्ती—निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति।"

तो जरा भी परिवर्तन के बिना और कहीं बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ और कहीं भावसाम्य के साथ सिंहसूर के प्रशिष्य और भास्वामी के शिष्य सिद्धसेनकृत तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में मिलते हैं। इस पर से इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्रचलित परम्परा के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर नहीं किन्तु उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के

—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, भाग २, पृ० १३५, पं० ४ ।

—प्रवचनसारोद्धार की सिद्धसेनीय वृत्ति, पृ० ३५८, प्र० पं० ५; सित्तरीटीका मलयगिरिकृत गाथा ५; देवेन्द्रकृत प्रथम कर्मग्रन्थ टीका, गाथा १२ ।

"या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगाऽयोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना इति ।"
—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ५९, पं० २७ ।

"यदाह गन्धहस्ती—भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना इति ।"—नवपदवृत्ति, पृ० ८८ ।

"तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी श्रेणिकादिनां सद्द्रव्यापगमे च भवति अपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना ।"
—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ५९, पं० २७ ।

"यदुक्तं गन्धहस्तिना—तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी, अपायो—मतिज्ञानांशः सद्द्रव्याणि—शुद्धसम्यक्त्वदलिकानि तद्वर्तिनी श्रेणिकादीनां च सद्द्रव्यापगमे भवत्यपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना इति ।"
—नवपदवृत्ति, पृ० ८८ ।

"प्राणापानावुच्छ्वासनिःश्वासक्रियालक्षणौ ।"
—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० १६१, पं० १३ ।

"यदाह गन्धहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ इति।"—धर्मसंग्रहणीवृत्ति (मलयगिरि), पृ० ४२, प्र० पं० २ ।

"अतएव च भेदः प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशाः ये तु विशकलिताः परिकलितमूर्तयः प्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवाः ।"
—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ३२८, पं० २१ ।

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति ।"
—स्याद्वादमंजरी, श्लो० ९, पृ० ६३ ।

रचयिता भास्वामी के शिष्य सिद्धसेन ही गन्धहस्ती हैं। नाम के सादृश्य से और प्रकाण्डवादी तथा कुशल ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर ही गन्धहस्ती हो सकते हैं ऐसी धारणा से उ० यशोविजयजी ने दिवाकर के लिए गन्धहस्तो विशेषण का प्रयोग करने की भ्रान्ति की होगी, यही सम्भव है।

उपर्युक्त युक्तियों से स्पष्ट देखा जा सकता है कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध गंधहस्ती तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य की उपलब्ध विस्तीर्ण वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इस से हमें निश्चित रूप से ऐसा मानने के कारण मिलते हैं कि दसवीं शताब्दी के अभयदेव ने अपनी सन्मति की टीका[1] में दो स्थानों पर गंधहस्ती पद का प्रयोग कर उनकी तत्त्वार्थ-व्याख्या देखने की जो सूचना को है वह अन्य कोई नहीं, प्रत्युत उपलब्ध भाष्यवृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इसलिए सन्मति-टीका में अभयदेव ने तत्त्वार्थ की जिस गंधहस्तिकृत व्याख्या को देखने की सूचना की है उसके लिए अब नष्ट या अनुपलब्ध साहित्य की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक नहीं है। इसी सिलसिले में यह मानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि नवीं-दसवीं शताब्दी के ग्रन्थकार शीलाङ्क[2] ने अपनी आचारांगसूत्र की टीका में जिस गन्धहस्तिकृत[3] विवरण का

---

१. सन्मति के दूसरे काण्ड की प्रथम गाथा की व्याख्या की समाप्ति में टीकाकार अभयदेव ने तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के सूत्र ९ से १२ तक उद्धृत किए हैं और उन सूत्रों की व्याख्या के विषय में गन्धहस्ती की सिफारिश करते हुए कहा है कि "अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्श्यते"—पृ० ५९५, पं० २४। इसी प्रकार तृतीय काण्ड की गाथा ४४ में 'हेतुवाद' पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' रखकर इसके लिए भी लिखा है—"तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते।" —पृ० ६५१, पं० २०।

२. देखें—आचार्य जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना के बाद परिशिष्ट में शीलाङ्काचार्य के विषय में अधिक विवरण, पृ० १९-२०।

३. "शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्"। तथा—
"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्॥"
—आचारांगटीका, पृ० १ तथा ८२ का प्रारंभ।

उल्लेख किया है वह भी तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन का ही होना चाहिए, क्योंकि बहुत ही निकट-काल के शीलाङ्क और अभयदेव दोनों का भिन्न-भिन्न आचार्यों के लिए गन्धहस्ती पद का प्रयोग करना असम्भव है। अभयदेव जैसे बहुश्रुत विद्वान् ने जैन आगमों में प्रथम स्थानीय आचाराङ्ग पर कुछ ही समय पूर्व के शीलाङ्कसूरि-रचित वृत्ति न देखी हो, यह कल्पना करना ही कठिन है। फिर, शीलाङ्क ने स्वयं ही अपनी टीकाओं में जहाँ-जहाँ सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मति की गाथाएँ उद्धृत की हैं वहाँ किसी भी स्थल पर गन्धहस्तिपद का प्रयोग नहीं किया, अतः शीलाङ्क के अभिप्रेत गन्धहस्ती सिद्धसेन दिवाकर नहीं हैं, यह स्पष्ट है।

ऊपर की विचारसरणी के आधार पर हमने पहले जो निर्णय किया था उसका संपूर्ण समर्थक उल्लिखित प्राचीन प्रमाण भी हमें मिल गया है, जो हरिभद्र की अपूर्ण वृत्ति के पूरक यशोभद्रसूरि के शिष्य ने लिखा है।[1] वह इस प्रकार है—

"सूरियशोभद्रस्य (हि) शिष्येण समुद्धृता स्वबोधार्थम्।
तत्त्वार्थस्य हि टीका जडकायार्जना धृता यात्यां नृद्धृता ॥१॥

हरिभद्राचार्येणारब्धा विवृतार्धषडध्यायांश्च।
पूज्यैः पुनरुद्धृतेयं तत्त्वार्थार्द्धस्य टीकान्त्या ॥ २ ॥

एतदुक्तं भवति—हरिभद्राचार्येणार्धषण्णामध्यायानामाद्यानां टीका-कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थटीका नव्यै-र्वादस्थानैर्व्याकुला, तस्या एव शेषमुद्धृतं चाचार्येण [शेषं मया] स्वबोधार्थं सात्यन्तगुर्वी च डुपडुपिका टीका निष्पन्ना इत्यलं प्रसंगेन।"
—पृ० ५२१।[2]

(ग) सिद्धसेन

तत्त्वार्थभाष्य पर श्वेताम्बराचार्यों की दो पूर्ण वृत्तियाँ इस समय उपलब्ध हैं। इनमें एक बड़ी और दूसरी छोटी है। बड़ी वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही यहाँ अभिप्रेत हैं। ये सिद्धसेन दिन्नगणि के शिष्य सिंहसूर

---

१. देखें—गुजराती तत्त्वार्थविवेचन (प्रथम संस्करण), परिचय पृ० ३६।

२. यह पाठ अन्य लिखित प्रति से शुद्ध किया गया है। देखें—आत्मानंद प्रकाश वर्ष ४५, अंक १०, पृ० १९३।

के शिष्य भास्वामी के शिष्य थे, यह बात इनकी भाष्यवृत्ति की अन्तिम प्रशस्ति से सिद्ध है।[1] गंधहस्ती के विचार-प्रसंग में प्रयुक्त युक्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि गंधहस्ती ये ही सिद्धसेन हैं। जब तक दूसरा कोई विशेष प्रमाण न मिले तब तक उनकी दो कृतियाँ मानने में शंका नहीं रहती—एक तो आचारांग-विवरण जो अनुपलब्ध है और दूसरी तत्त्वार्थ-भाष्य की उपलब्ध बड़ी वृत्ति। इनका 'गंधहस्ती' नाम किसने और क्यों रखा, इस विषय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। इन्होंने स्वयं तो अपनी प्रशस्ति में गंधहस्ती पद जोड़ा नहीं है। इससे मालूम होता है कि सामान्य तौर पर जैसा बहुतों के लिए घटित होता है वैसा ही इनके साथ भी घटित हुआ है अर्थात् इनके शिष्य या भक्त अनुगामी जनों ने इनको गंधहस्ती के तौर पर प्रसिद्ध किया है। यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के उपर्युक्त उल्लेख से और भी स्पष्ट हो जाती है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगमशास्त्रों का विशाल ज्ञान धारण करने के अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध प्रतीत होने-वाली चाहे जैसी तर्कसिद्ध बातों का भी बहुत ही आवेशपूर्वक खंडन करते थे और सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना करते थे। यह बात उनकी तार्किकों के विरुद्ध की गई कटु चर्चा देखने से अधिक सम्भव प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है वह अठारह हजार श्लोक-प्रमाण है और कदाचित् उस वक्त की रची हुई तत्त्वार्थभाष्य की सभी व्याख्याओं में बड़ी होगी। इस बड़ी वृत्ति और उसमें किए गए आगम के समर्थन को देखकर ऐसा लगता है कि उनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने उनके जीवनकाल में अथवा उनके बाद उनके लिए 'गंधहस्ती' विशेषण प्रयुक्त किया है। उनके समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना अभी संभव नहीं, फिर भी वे विक्रम की सातवीं और नवीं शताब्दी के मध्य के होने चाहिए, यह निःसंदेह है। उन्होंने अपनी भाष्यवृत्ति में वसुबंधु आदि अनेक बौद्ध विद्वानों[2]

---

१. यही सिंहसूर नयचक्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं। देखें—आत्मानंद प्रकाश, वर्ष ४५, अंक१०, पृ० १९१।

२. प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'वसुबंधु' का वे 'आमिषगृद्ध' के रूप में निर्देश करते हैं—तस्मादेनःपदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृध्रस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिणः। जातिरुपन्यस्ता वसुबन्धुवैधेयेन।—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ६८, पं० १ तथा २९। नागार्जुन-रचित धर्मसंग्रह, पृ० १३ पर जो आनन्तर्य पांच पाप आते हैं और

का उल्लेख किया है। उनमें से एक सातवीं शताब्दी के धर्मकीर्ति भी हैं[1] अर्थात् सातवीं शताब्दी के पहले वे नहीं हुए, इतना तो निश्चित है। दूसरी ओर नवीं शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क ने गन्धहस्ती नाम से उनका उल्लेख किया है।[2] इससे वे नवीं शताब्दी के पहले किसी समय हुए होंगे। सिद्धसेन नयचक्र के वृत्तिकार सिंहसूर गणि क्षमाश्रमण के प्रशिष्य थे। सिंहसूर विक्रम की सातवीं शताब्दी के मध्य में अवश्य विद्यमान थे, अतएव सिद्धसेन का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम पाद से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्यभाग तक का प्रतीत होता है। सिद्धसेन ने अपनी वृत्ति में 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अकलंक का है, अतः कहना चाहिए कि अकलंक और सिद्धसेन दोनों समकालीन थे। यह भी संभव है कि सिद्धसेन ने अकलंक का राजवार्तिक देखा हो।

(घ) हरिभद्र

तत्त्वार्थभाष्य की लघु वृत्ति के लेखक हरिभद्र हैं। यह वृत्ति रतलाम की श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी नामक संस्था की ओर से प्रकाशित हुई है। यह वृत्ति केवल हरिभद्राचार्य की कृति नहीं है, किन्तु इसकी रचना में कम-से-कम तीन आचार्यों का हाथ है।[3] उनमें से एक हरिभद्र हैं। इन्हीं हरिभद्र का विचार यहाँ प्रस्तुत है। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र नाम के अनेक आचार्य हो गए हैं।[4] इनमें से याकिनीसूनु रूप से

जिनका वर्णन शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका (पृ० २१५) में किया है उनका उल्लेख भी सिद्धसेन करते हैं।—भाष्यवृत्ति, पृ० ६७।

१. भिक्षुवरधर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्तः प्रमाणविनिश्चयादौ।—तत्त्वार्थ-भाष्यवृत्ति, पृ० ३९७, पं० ४।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ३३, टि० ३।

३. इस वृत्ति के रचयिता तीन से ज्यादा भी हो सकते हैं। हरिभद्र, यशोभद्र और यशोभद्र के शिष्य ये तीन तो निश्चित ही हैं, किन्तु अष्टम-नवम अध्याय के अन्त की पुष्पिका के आधार पर अन्य की भी कल्पना हो सकती है—"इति श्री तत्त्वार्थटीकायां हरिभद्राचार्यप्रारब्धायां डुपडुपिकाभिधानायां तस्यामेवान्यकर्तृकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः।"

४. देखें—मुनि कल्याणविजयजी द्वारा लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना, पृ० २ तथा आगे।

प्रसिद्ध सैकड़ों ग्रन्थों के रचयिता आ० हरिभद्र ही इस लघु वृत्ति के रचयिता माने जाते हैं। परन्तु इस विषय में कोई असंदिग्ध प्रमाण अभी हमारे सामने नहीं है।

मुनि श्री जंबूविजयजी ने हरिभद्र और सिद्धसेन दोनों की वृत्तियों की तुलना की है और बतलाया है कि हरिभद्र ने सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलंबन लिया है।[1] यदि यह ठीक है तो कह सकते हैं कि सिद्धसेन की वृत्ति के बाद ही हरिभद्रीय वृत्ति लिखी गई है।

(ङ) यशोभद्र तथा यशोभद्र के शिष्य

हरिभद्र ने साढ़े पाँच अध्यायों की वृत्ति लिखी। इसके बाद तत्त्वार्थ-भाष्य के शेष सारे भाग की वृत्ति की रचना दो व्यक्तियों के द्वारा हुई, यह निश्चित जान पड़ता है। इनमें से एक यशोभद्र नाम के आचार्य हैं और दूसरे उनके शिष्य हैं, जिनके नाम का पता नहीं चला। यशोभद्र के इस अज्ञातनामा शिष्य ने दसवें अध्याय के केवल अन्तिम सूत्र के भाष्य पर वृत्ति लिखी है। इसके पहले के अर्थात् हरिभद्र द्वारा छूटे हुए शेष भाष्य-अंश पर यशोभद्र की वृत्ति है। यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के वचनों से ही स्पष्ट है।[2]

श्वेताम्बर परम्परा में यशोभद्र नामक अनेक आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं।[3] उनमें से प्रस्तुत वृत्ति के लेखक यशोभद्र कौन हैं, यह अज्ञात है। प्रस्तुत यशोभद्र भाष्य की अपूर्ण वृत्ति के रचयिता हरिभद्र के शिष्य थे, इसका कोई निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत यह तो कहा ही जा सकता है कि यदि ये यशोभद्र उन हरिभद्र के शिष्य होते तो यशोभद्र के जो शिष्य वृत्ति की समाप्ति करते हैं और जिन्होंने हरि-भद्र की अपूर्ण वृत्ति का अपने गुरु यशोभद्र के द्वारा निर्वाहित होना लिखा है वे अपने गुरु के नाम के साथ हरिभद्र-शिष्य इत्यादि कोई विशेषण लगाए बिना शायद ही रहते। जो हो, इतना तो अभी विचार-णीय है कि ये यशोभद्र कब हुए और उनकी दूसरी कृतियाँ हैं या नहीं।

---

१. देखें—आत्मानन्द प्रकाश, वर्ष ४५, अंक १०, पृ० १९३।

२. देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ३४।

३. देखें—मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, परिशिष्ट में यशोभद्र।

यह भी विचारणीय है कि यशोभद्र एकमात्र अन्तिम सूत्र की वृत्ति क्यों नहीं लिख पाए, वह उनके शिष्य को क्यों लिखनी पड़ी ?

तुलना करने से ज्ञात होता है कि यशोभद्र और उनके शिष्य की भाष्यवृत्ति गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार पर ही लिखी गई है।

हरिभद्र के षोडशक प्रकरण पर वृत्ति लिखनेवाले एक यशोभद्रसूरि हो गए हैं, वे ही प्रस्तुत यशोभद्र हैं या अन्य, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

(च) मलयगिरि

मलयगिरि[1] की लिखी हुई तत्त्वार्थभाष्य की व्याख्या उपलब्ध नहीं है। ये विक्रम की १२वीं-१३वीं शताब्दी के विश्रुत श्वेताम्बर विद्वान् हैं। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन हैं और इनकी प्रसिद्धि सर्वश्रेष्ठ टीकाकार के रूप में है। इनकी बीसों महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हैं।[2]

(छ) चिरंतनमुनि

चिरंतनमुनि एक अज्ञातनामा श्वेताम्बर साधु थे। इन्होंने तत्त्वार्थ पर साधारण टिप्पण लिखा है। ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के बाद किसी समय हुए हैं, क्योंकि इन्होंने अध्याय ५, सूत्र ३१ के टिप्पण में चौदहवीं शताब्दी के मल्लिषेण की 'स्याद्वादमंजरी' का उल्लेख किया है।

(ज) वाचक यशोविजय

वाचक यशोविजय की लिखी तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति का अपूर्ण प्रथम अध्याय ही मिलता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जैन समाज में सबसे अन्त में होनेवाले सर्वोत्तम प्रामाणिक विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।[3] सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक होनेवाले न्यायशास्त्र के विकास को अपनाकर

१. मलयगिरि ने तत्त्वार्थटीका लिखी थी ऐसी मान्यता उनकी प्रज्ञापनावृत्ति में उपलब्ध निम्न उल्लेख तथा ऐसे ही अन्य उल्लेखों पर से रूढ़ हुई है — "तच्चाप्राप्तकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयम्।"—प्रज्ञापना, पद १५, पृ० २९८।

२. देखें—'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना, पृ० ३६।

३. देखें—जैनतर्कभाषा, प्रस्तावना, सिंघी ग्रंथमाला।

इन्होंने जैन श्रुत को तर्कबद्ध किया है और भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक प्रकरण लिखकर जैन तत्त्वज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है।

(झ) गणी यशोविजय

गणी यशोविजय वाचक यशोविजय से भिन्न हैं। इनका समय अज्ञात है। इनके विषय में अन्य ऐतिहासिक परिचय भी इस समय कुछ नहीं है। इनकी कृति के रूप में केवल तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती टबा-टिप्पण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इनकी और कोई रचना है या नहीं, यह ज्ञात नहीं। टिप्पण की भाषा और शैली को देखते हुए ये सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं। इनकी दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :

(१) जैसे वाचक यशोविजय आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने 'अष्ट-सहस्री' जैसे दिगम्बर-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं वैसे ही गणी यशो-विजय ने भी तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धिमान्य दिगम्बर सूत्रपाठ पर मात्र सूत्रों का अर्थपूरक टिप्पण लिखा है और टिप्पण लिखते हुए उन्होंने जहाँ-जहाँ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद या मतविरोध आता है वहाँ सर्वत्र श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ही अर्थ किया है। सूत्रपाठ दिगम्बर होते हुए भी अर्थ श्वेताम्बरीय है।

(२) अब तक तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में टिप्पण लिखनेवालों में प्रस्तुत यशोविजय गणी ही प्रथम माने जाते हैं, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में और किसी का कुछ लिखा हुआ अभी तक जानकारी में नहीं आया।

गणी यशोविजयजी के श्वेताम्बर होने की बात तो निश्चित है, क्योंकि टिप्पण के अन्त में ऐसा उल्लेख है,[1] और दूसरा सबल प्रमाण तो उनका बालावबोध-टिप्पण ही है। सूत्र का पाठभेद[2] और दिगम्बरीय

---

१. "इति श्वेताम्बराचार्यश्रीउमास्वामिगण (णि) कृततत्त्वार्थसूत्रं तस्य बालावबोधः श्रीयशोविजयगणिकृतः समाप्तः।"—प्रवर्तक श्री कान्तिविजय के शास्त्र-संग्रह की लिखित टिप्पणी की पुस्तक।

२. इसे स्वीकार करने में अपवाद भी है जो कि बहुत थोड़ा है। उदाहरणार्थ अध्याय ४ का १९ वाँ सूत्र इन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ से नहीं लिया, क्योंकि

सूत्रों की संख्या स्वीकार करने पर भी अर्थ उन्होंने दिगम्बर परम्परा के अनुकूल कहीं नहीं किया। हाँ, यहाँ एक प्रश्न होता है कि श्वेताम्बर होते हुए भी यशोविजयजी ने दिगम्बर सूत्रपाठ क्यों लिया? क्या वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित नहीं थे, या परिचित होने पर भी उन्हें दिगम्बर सूत्रपाठ में ही श्वेताम्बर सूत्रपाठ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिखाई दिया? इसका उत्तर यही उचित जान पड़ता है कि वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित तो अवश्य ही होंगे और उनकी दृष्टि में उसी पाठ का महत्त्व भी होगा, क्योंकि वैसा न होता तो वे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार टिप्पणी लिखते ही नहीं। ऐसा होने पर भी दिगम्बर सूत्रपाठ ग्रहण करने का कारण यह होना चाहिए कि जिस सूत्रपाठ के आधार पर सभी दिगम्बर विद्वान् हजार वर्ष से दिगम्बर परम्परा के अनुसार ही श्वेताम्बर आगमों से विपरीत अर्थ करते आए हैं उसी सूत्रपाठ से श्वेताम्बर परम्परा के ठीक अनुकूल अर्थ निकालना और करना बिलकुल शक्य तथा संगत है, ऐसी छाप दिगम्बर पक्ष पर डालना और साथ ही श्वेताम्बर अभ्यासियों को दर्शाना कि दिगम्बर या श्वेताम्बर चाहे जो सूत्रपाठ लो, पाठभेद होते हुए भी अर्थ तो एक ही प्रकार का निकलता है और वह श्वेताम्बर परम्परा के अनुकूल ही है—दिगम्बर सूत्रपाठ से चौंकने की या उसे विरोधी पक्ष का समझकर फेंक देने की कोई आवश्यकता नहीं। चाहे तो भाष्यमान्य सूत्रपाठ सीखें या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ याद करें। तत्त्व दोनों में एक ही है। इस तरह एक ओर दिगम्बर विद्वानों को यह बतलाने के लिए कि उनके सूत्रपाठ में से सरलतापूर्वक सत्य अर्थ क्या निकल सकता है और दूसरी ओर श्वेताम्बर अभ्यासियों को पक्षभेद के कारण दिगम्बर सूत्रपाठ से न चौंकें यह समझाने के उद्देश्य से ही इन यशोविजयजी ने दिगम्बर सूत्रपाठ पर टिप्पणी लिखी हो ऐसा जान पड़ता है।

(ञ) पूज्यपाद

पूज्यपाद का मूल नाम देवनन्दी है। ये विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने व्याकरण आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे

दिगम्बर परम्परा सोलह स्वर्ग मानती है इसलिए इन्होंने यहाँ बारह स्वर्गों के नामवाला श्वेताम्बर सूत्र लिया है।

१. देखें—सर्वार्थसिद्धि, २. ५३; ९. ११ और १०.९।

हैं, जिनमें से कुछ तो उपलब्ध हैं और कुछ अभी तक मिले नहीं।[1] दिगम्बर व्याख्याकारों में पूज्यपाद से पहले केवल शिवकोटि[2] के ही होने की सूचना मिलती है। इन्हीं पूज्यपाद की दिगम्बरत्व-समर्थक 'सर्वार्थसिद्धि' नामक तत्त्वार्थव्याख्या बाद में सम्पूर्ण दिगम्बर विद्वानों के लिए आधारभूत बनी है।

(ट) भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' के बाद तत्त्वार्थ पर इनकी ही व्याख्या मिलती है जो 'राजवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैन-न्याय के प्रस्थापक विशिष्ट गण्यमान्य विद्वानों में से एक हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं जो जैनन्याय के प्रत्येक अभ्यासी के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।[3]

(ठ) विद्यानन्द

विद्यानन्द विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं।[4] ये भारतीय दर्शनों के विशिष्ट ज्ञाता थे और इन्होंने तत्त्वार्थ पर 'श्लोकवार्तिक' नामक पद्यबद्ध विस्तृत व्याख्या लिखकर कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसक ग्रन्थकारों की स्पर्द्धा की और जैनदर्शन पर किए गए मीमांसकों के प्रचण्ड आक्रमण का सबल उत्तर दिया।

(ड) श्रुतसागर

'श्रुतसागर' नामक दिगम्बर सूरि १६वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। इन्होंने तत्त्वार्थ पर टीका लिखी है। इनकी अन्य कई रचनाएँ हैं।[5]

---

१. देखें—जैन साहित्य संशोधक, प्रथम भाग, पृ० ८३।

२. शिवकोटिकृत तत्त्वार्थ-व्याख्या, उसके अवतरण आदि आज उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने तत्त्वार्थ पर कुछ लिखा था, ऐसी सूचना कुछ अर्वाचीन शिलालेखों की प्रशस्तियों से मिलती है। शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य थे, ऐसी मान्यता है। देखें—स्वामी समन्तभद्र, पृ० ९६।

३. देखें—न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना।

४. देखें—अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक की प्रस्तावना।

५. देखें—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित श्रुतसागरी वृत्ति की प्रस्तावना, पृ० ९८।

(ढ) विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, लक्ष्मीदेव, योगदेव और अभयनन्दिसूरि आदि

अनेक दिगम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर साधारण संस्कृत व्याख्याएँ लिखी हैं। उनका मुझे विशेष परिचय नहीं मिला। इतने संस्कृत व्याख्याकारों के अतिरिक्त तत्त्वार्थ की हिन्दी आदि भाषाओं में टीका लिखनेवाले अनेक दिगम्बर विद्वान् हो गए हैं, जिनमें से कुछ ने तो कन्नड़ भाषा में टीकाएँ लिखी हैं और शेष ने हिन्दी भाषा में टीकाएँ लिखी हैं।[1]

३. तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्वार्थशास्त्र का बाह्य तथा आभ्यन्तर विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए मूल ग्रन्थ के आधार पर नीचे लिखी चार बातों पर विचार किया जाता है—(क) प्रेरक सामग्री, (ख) रचना का उद्देश्य, (ग) रचनाशैली और (घ) विषयवर्णन।

(क) प्रेरक सामग्री

ग्रन्थकार को जिस सामग्री ने 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखने की प्रेरणा दी वह मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित की जाती है।

१. आगमज्ञान का उत्तराधिकार—वैदिक दर्शनों में जैसे वेद वैसे ही जैनदर्शन में आगम-ग्रन्थ मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, दूसरे ग्रन्थों का प्रामाण्य आगम का अनुसरण करने में ही है। इस आगमज्ञान का पूर्व परम्परा से चला आया उत्तराधिकार वाचक उमास्वाति को समुचित रूप में मिला था, इसलिए सम्पूर्ण आगमिक विषयों का ज्ञान उन्हें स्पष्ट तथा व्यवस्थित रूप में था।

२. संस्कृत भाषा—काशी, मगध, बिहार आदि प्रदेशों में रहने तथा विचरने के कारण और कदाचित्, ब्राह्मणजाति के होने के कारण वाचक उमास्वाति ने अपने समय की प्रधान भाषा संस्कृत का गहरा अध्ययन किया था। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्राकृत भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का द्वार ठीक-ठीक खुलने से संस्कृत भाषा के वैदिक दर्शनसाहित्य और बौद्ध दर्शनसाहित्य को जानने का उन्हें अवसर मिला और उस अवसर का पूरा उपयोग करके उन्होंने अपने ज्ञानभंडार को खूब समृद्ध किया।

---

१. देखें—तत्त्वार्थभाष्य के हिन्दी अनुवाद की श्री नाथूरामजी प्रेमी की प्रस्तावना।

३. **दर्शनान्तरों का प्रभाव**—संस्कृत भाषा द्वारा वैदिक और बौद्ध साहित्य में प्रवेश करने के कारण उन्होंने तत्कालीन नई-नई रचनाएँ देखीं, उनकी वस्तुओं तथा विचारसरणियों को जाना, उन सबका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इसी ने उन्हें जैन साहित्य में पहले से स्थान न पानेवाली संक्षिप्त दार्शनिक सूत्रशैली तथा संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने को प्रेरित किया।

४. **प्रतिभा**—उक्त तीनों हेतुओं के होते हुए भी यदि उनमें प्रतिभा न होती तो तत्त्वार्थ का इस रूप में कभी उद्‌भव ही न होता। अतः उक्त तीनों हेतुओं के साथ प्रेरक सामग्री में उनकी प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(ख) रचना का उद्देश्य

कोई भी भारतीय शास्त्रकार जब स्वीकृत विषय पर शास्त्र-रचना करता है तब वह अपने विषयनिरूपण के अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष को ही रखता है, फिर भले ही वह विषय अर्थ, काम, ज्योतिष या वैद्यक जैसा आधिभौतिक हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा आध्यात्मिक। सभी मुख्य-मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारम्भ में उस-उस विद्या के अन्तिम फल के रूप में मोक्ष का ही निर्देश हुआ और उपसंहार में भी उस विद्या से मोक्षसिद्धि का कथन किया गया है।

वैशेषिकदर्शन का प्रणेता कणाद प्रमेय की चर्चा करने से पूर्व उस विद्या के निरूपण को मोक्ष का साधनरूप बतलाकर ही उसमें प्रवर्तित होता है।[1] न्यायदर्शन का सूत्रकार गौतम प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मानकर ही उसके निरूपण में प्रवृत्त होता है।[2] सांख्यदर्शन का निरूपक भी मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की पूर्ति के लिए अपनी विश्वोत्पत्ति विद्या का वर्णन करता है।[3] ब्रह्ममीमांसा में ब्रह्म और जगत् का निरूपण भी मोक्ष के साधन की पूर्ति के लिए ही हुआ है। योगदर्शन में योग-क्रिया और अन्य बहुत-सी प्रासंगिक बातों का वर्णन मात्र मोक्ष का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए ही है। भक्तिमार्गियों के शास्त्रों का उद्देश्य भी, जिनमें जीव, जगत् और ईश्वर आदि विषयों का वर्णन है, भक्ति की

१. देखें—कणादसूत्र, १. १. ४।

२. देखें—न्यायसूत्र, १. १. १।

३. देखें—ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका, का० २।

पुष्टि द्वारा अन्त में मोक्ष प्राप्त करना ही है। बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद का अथवा चार आर्यसत्यों में समाविष्ट आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषय के निरूपण का उद्देश्य भी मोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैनदर्शन के शास्त्र भी इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर लिखे गए हैं। वाचक उमास्वाति ने भी अन्तिम उद्देश्य मोक्ष रखकर ही उसकी प्राप्ति का उपाय सिद्ध करने के लिए निश्चित की हुई सभी वस्तुओं का वर्णन अपने तत्त्वार्थ में किया है।[1]

(ग) रचना-शैली

पहले से ही जैन आगमों की रचना-शैली बौद्ध पिटकों जैसी लम्बे और वर्णनात्मक सूत्रों के रूप में प्राकृत भाषा में चली आती थी। दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा की संक्षिप्त सूत्रों की रचना-शैली धीरे-धीरे बहुत प्रतिष्ठित हो गई थी। इस संस्कृत सूत्र-शैली ने वाचक उमास्वाति को आकर्षित किया और उसी में उन्हें लिखने की प्रेरणा हुई। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैन संप्रदाय में संस्कृत भाषा में छोटे-छोटे सूत्रों के रचयिता सर्वप्रथम उमास्वाति ही हैं। उनके बाद ही यह सूत्रशैली जैन परम्परा में प्रतिष्ठित हुई और व्याकरण, अलंकार, आचार, नीति, न्याय आदि अनेक विषयों पर श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों विद्वानों ने इस शैलो में संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थों की रचना की।

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र कणाद के वैशेषिकसूत्रों की भाँति दस

---

१. वाचक उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचना की प्रेरणा 'उत्तराध्ययन' के २८वें अध्ययन से मिली है, ऐसा ज्ञात होता है। इस अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है। इस अध्ययन में मोक्ष के मार्गों को सूचित कर उनके विषय के रूप में जैन तत्त्वज्ञान का अत्यन्त संक्षेप में निरूपण है। इसी वस्तु का उमास्वाति ने विस्तार करके उसमें समग्र आगम के तत्त्वों को गूंथ दिया है। उन्होंने अपने सूत्र-ग्रंथ का प्रारम्भ भी मोक्षमार्ग-प्रतिपादक सूत्र से ही किया है। दिगम्बर परम्परा में तो तत्त्वार्थसूत्र 'मोक्षशास्त्र' के नाम से ही प्रसिद्ध है। बौद्ध-परम्परा में विशुद्धिमार्ग नामक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना पाँचवीं सदी के आसपास पालि भाषा में बुद्धघोष ने की है। इसमें समग्र पालि-पिटकों का सार है। इसका पूर्ववर्ती विमुक्तिमार्ग नामक ग्रन्थ भी बौद्ध-परम्परा में था जिसका अनुवाद चीनी भाषा में मिलता है। विशुद्धिमार्ग और विमुक्तिमार्ग दोनों शब्दों का अर्थ मोक्षमार्ग ही है।

अध्यायों में विभक्त हैं, जिनकी संख्या ३४४ है, जब कि कणाद के सूत्रों की संख्या ३३३ है। इन अध्यायों में वैशेषिक आदि सूत्रों के सदृश आह्निक-विभाग अथवा ब्रह्मसूत्र आदि के समान पाद-विभाग नहीं है। जैन साहित्य में 'अध्ययन' के स्थान पर 'अध्याय' का आरंभ करनेवाले भी उमास्वाति ही हैं। उनके द्वारा शुरू न किया गया आह्निक और पाद-विभाग भी आगे चलकर उनके अनुयायी अकलंक आदि द्वारा शुरू कर दिया गया है। बाह्य-रचना में कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थसूत्र का विशेष साम्य होते हुए भी उसमें जानने योग्य एक विशेष अन्तर है, जो जैनदर्शन के परम्परागत मानस पर प्रकाश डालता है। कणाद अपने मंतव्यों को सूत्र में प्रतिपादित करके उनको साबित करने के लिए अक्षपाद गौतम के सदृश पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष न करते हुए भी उनकी पुष्टि में हेतुओं का उपन्यास तो बहुधा करते ही हैं, जब कि वाचक उमास्वाति अपने एक भी सिद्धान्त की सिद्धि के लिए कहीं भी युक्ति, प्रयुक्ति या हेतु नहीं देते। वे अपने वक्तव्य का स्थापित सिद्धान्त के रूप में ही कोई भी युक्ति या हेतु दिए बिना अथवा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किए बिना ही योगसूत्रकार पतंजलि की तरह वर्णन करते चले जाते हैं। उमास्वाति के सूत्रों और वैदिक दर्शनों के सूत्रों की तुलना करते हुए एक छाप मन पर पड़ती है कि जैन परम्परा श्रद्धा-प्रधान है, वह अपने सर्वज्ञ के वक्तव्य को अक्षरशः स्वीकार कर लेती है और उसमें शंका-समाधान का अवकाश नहीं देखती जिसके परिणामस्वरूप संशोधन, परिवर्धन और विकास करने योग्य बुद्धि के अनेक विषय तर्कवाद के युग में भी अचर्चित रह कर मात्र श्रद्धा के आधार पर आज तक टिके हुए हैं।[1] वैदिक दर्शन-परम्परा बुद्धिप्रधान होकर अपने माने हुए सिद्धान्तों की परीक्षा करती है, उसमें शंका-समाधानपरक चर्चा करती है और बहुत बार तो पहले से माने गए सिद्धान्तों को तर्कवाद से उलट कर नए सिद्धान्तों की स्थापना करती है अथवा उनमें संशोधन-परिवर्धन करती है। सारांश यह है कि जैन परम्परा ने विरासत में प्राप्त तत्त्वज्ञान और आचार को बनाए रखने में जितनी रुचि ली है उतनी नूतन सर्जन में नहीं ली।

---

१. सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि अनेक धुरंधर तार्किकों द्वारा किया हुआ तर्कविकास और तार्किक चर्चा भारतीय विचार के विकास में विशिष्ट स्थान रखती है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, फिर भी प्रस्तुत कथन गौण-प्रधान भाव और दृष्टिभेद की अपेक्षा से ही है। तत्त्वार्थसूत्रों और उपनिषदों आदि को

(घ) विषय-वर्णन

विषय का चुनाव—कितने ही दर्शनों में विषय का वर्णन ज्ञेय-मीमांसा-प्रधान है, जैसे कि वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शन में। वैशेषिकदर्शन अपनी दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए उसमें मूल द्रव्य कितने हैं, कैसे हैं और उनसे सम्बन्धित दूसरे पदार्थ कितने तथा कैसे हैं, इत्यादि का वर्णन करके मुख्य रूप से जगत् के प्रमेयों की ही मीमांसा करता है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रधान रूप से जगत् के मूलभूत प्रमेय तत्त्वों की ही मीमांसा करता है। वेदान्तदर्शन भी जगत् के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की ही मीमांसा प्रधान रूप से करता है। परन्तु कुछ दर्शनों में चारित्र की मीमांसा मुख्य है, जैसे कि योग और बौद्ध-दर्शन में। जीवन की शुद्धि क्या है, वह कैसे साध्य है, उसमें कौन-कौन बाधक हैं इत्यादि जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों का हल योगदर्शन ने हेय (दुःख), हेयहेतु (दुःख का कारण), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्ष का कारण) इस चतुर्व्यूह का निरूपण करके और बौद्ध-दर्शन ने चार आर्यसत्यों का निरूपण करके किया है। अर्थात् पहले दर्शनविभाग का विषय ज्ञेयतत्त्व और दूसरे दर्शनविभाग का चारित्र है।

भगवान् महावीर ने अपनी मीमांसा में ज्ञेयतत्त्व और चारित्र को समान स्थान दिया है। इस कारण उनकी तत्त्वमीमांसा एक ओर जीव-अजीव के निरूपण द्वारा जगत् के स्वरूप का वर्णन करती है और दूसरी ओर आस्रव, संवर आदि तत्त्वों का वर्णन करके चारित्र का स्वरूप दरसाती है। उनकी तत्त्वमीमांसा का अर्थ है ज्ञेय और चारित्र का

लीजिए। तत्त्वार्थ के व्याख्याकार धुरंधर तार्किक होते हुए भी और सम्प्रदाय-भेद में विभक्त होते हुए भी जो चर्चा करते हैं और तर्क का प्रयोग करते हैं वह सब पहले से स्थापित जैनसिद्धान्त को स्पष्ट करने अथवा उसका समर्थन करने के लिए ही। इनमें से किसी व्याख्याकार ने नया विचारसर्जन नहीं किया या श्वेताम्बर-दिगम्बर की तात्त्विक मान्यता में कुछ भी अन्तर नहीं डाला। दूसरी ओर उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार तर्क के जोर पर यहाँ तक स्वतन्त्र चर्चा करते हैं कि उनके बीच तात्त्विक मान्यता में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर खड़ा हो गया है। इसमें क्या गुण और क्या दोष है, यह वक्तव्य नहीं, वक्तव्य केवल वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है। सापेक्ष होने से गुण और दोष दोनों परम्पराओं में हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

समान रूप से विचार। इस मीमांसा में भगवान् ने नौ तत्त्वों को रखकर इनके प्रति अचल श्रद्धा को जैनत्व की प्राथमिक शर्त मानकर उसका वर्णन किया है। त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीर के मार्ग का अनुयायी तभी माना जा सकता है जब कि वह इन पर श्रद्धा रखता हो, अर्थात् 'जिनकथित ये तत्त्व ही सत्य हैं' ऐसी रुचि-प्रतीतिवाला हो, फिर चाहे इन नौ तत्त्वों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न भी किया हो। इस कारण जैन दर्शन में नौ तत्त्वों के जैसा महत्त्व अन्य किसी विषय का नहीं है। इस वस्तुस्थिति के कारण ही वा० उमास्वाति ने अपने प्रस्तुत शास्त्र के विषय के रूप में इन नौ तत्त्वों को उपयुक्त समझा और इन्हीं का वर्णन सूत्रों में सात संख्या द्वारा करके उन सूत्रों के विषयानुरूप 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम दिया। उमास्वाति ने नौ तत्त्वों की मीमांसा में ज्ञेयप्रधान और चारित्रप्रधान दोनों दर्शनों का समन्वय देखा, तो भी उन्होंने उसमें अपने समय में विशेष चर्चाप्राप्त प्रमाण-मीमांसा के निरूपण की उपयोगिता अनुभव की। इस प्रकार उन्होंने अपने ग्रन्थ को अपने ध्यान में आनेवाली सभी मीमांसाओं से परिपूर्ण करने के लिए नौ तत्त्वों के अतिरिक्त ज्ञान-मीमांसा को विषय के रूप में स्वीकार करके तथा न्यायदर्शन की प्रमाणमीमांसा के स्थान पर जैन ज्ञानमीमांसा बतलाने की अपने ही सूत्रों में योजना की। इस तरह समुच्चय रूप में कहना चाहिए कि उमास्वाति ने अपने सूत्र के विषय के रूप में ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीनों मीमांसाओं को जैन दृष्टि के अनुसार अपनाया है।

विषय का विभाजन—तत्त्वार्थ के वर्ण्य विषय को उमास्वाति ने दस अध्यायों में इस प्रकार से विभाजित किया है—पहले अध्याय में ज्ञान की, दूसरे से पाँचवें तक चार अध्यायों में ज्ञेय की और छठे से दसवें तक पाँच अध्यायों में चारित्र की मीमांसा। यहाँ उक्त तीनों मीमांसाओं की क्रमशः मुख्य व सारभूत बातें देकर प्रत्येक की दूसरे दर्शनों के साथ संक्षेप में तुलना की जाती है।

ज्ञानमीमांसा की सारभूत बातें—पहले अध्याय में ज्ञान से सम्बन्धित मुख्य आठ बातें इस प्रकार हैं—१. नय और प्रमाण रूप से ज्ञान का विभाजन। २. मति आदि आगम-प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाणों में विभाजन। ३. मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन, उनके भेद-प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४. जैन-परम्परा में प्रमाण माने गए आगम-शास्त्र का श्रुतज्ञान के रूप में वर्णन।

५. अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६. पाँचों ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय-निर्देश और उनकी एक साथ शक्यता। ७. कुछ ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते हैं तथा ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८. नय के भेद-प्रभेद।

तुलना—ज्ञानमीमांसा की ज्ञानचर्चा 'प्रवचनसार' के ज्ञानाधिकार जैसी तर्कपुरस्सर और दार्शनिक शैली की नहीं, बल्कि नन्दीसूत्र की ज्ञानचर्चा जैसी आगमिक शैली की होकर ज्ञान के सम्पूर्ण भेद-प्रभेदों का तथा उनके विषयों का मात्र वर्णन करनेवाली और ज्ञान-अज्ञान के बीच का भेद बतानेवाली है। इसमें अवग्रह, ईहा आदि लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति का जो क्रम[1] है वह न्यायशास्त्र[2] की निर्विकल्प-सविकल्प ज्ञान की और बौद्ध अभिधम्मत्थसंगहो[3] की ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का स्मरण कराता है। अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष ज्ञानों[4] का जो वर्णन है वह वैदिक[5] और बौद्धदर्शन के सिद्ध, योगी तथा ईश्वर के ज्ञान का स्मरण कराता है। दिव्य ज्ञान में वर्णित मनःपर्याय का निरूपण योगदर्शन[6] और बौद्धदर्शन[7] के परचित्तज्ञान का स्मरण दिलाता है। प्रत्यक्षपरोक्ष रूप से प्रमाणों का विभाजन[8] वैशेषिक और बौद्धदर्शन में वर्णित दो प्रमाणों का[9], सांख्य और योगदर्शन में वर्णित तीन प्रमाणों का,[10] न्यायदर्शन में प्ररूपित चार प्रमाणों का[11] और मीमांसादर्शन में प्रतिपादित छः आदि

---

१. तत्त्वार्थ, १५–१९।

२. देखें—मुक्तावली, का० ५२ से आगे।

३. परिच्छेद ४, पैरेग्राफ ८ से आगे।

४. तत्त्वार्थ, १. २१–२६ और ३०।

५. प्रशस्तपादकंदली, पृ० १८७।

६. योगदर्शन, ३. १९।

७. अभिधम्मत्थसंगहो, परि० ९, पैरेग्राफ २४ और नागार्जुन का धर्मसंग्रह, पृ० ४।

८. तत्त्वार्थ, १. १०-१२।

९. प्रशस्तपादकंदली, पृ० २१३, पं० १२ और न्यायबिन्दु, १. २।

१०. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका, का० ४ और योगदर्शन १. ७।

११. न्यायसूत्र, १. १. ३।

प्रमाणों[1] का समन्वय है। इस ज्ञानमीमांसा में ज्ञान-अज्ञान[2] का जो विवेक है वह न्यायदर्शन की यथार्थ-अयथार्थ बुद्धि[3] तथा योगदर्शन के प्रमाण और विपर्यय के विवेक[4] जैसा है। इसमें नय[5] का जैसा स्पष्ट निरूपण है वैसा दर्शनान्तर में कहीं भी नहीं है। संक्षेप में कह सकते हैं कि वैदिक तथा बौद्ध दर्शन में वर्णित प्रमाणमीमांसा के स्थान पर जैन-दर्शनसम्मत मान्यता को प्रस्तुत ज्ञानमीमांसा में उमास्वाति ने ब्योरेवार प्रतिपादित किया है।

ज्ञेयमीमांसा की सारभूत बातें—ज्ञेयमीमांसा में जगत् के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का वर्णन है, जिनमें से मात्र जीव तत्त्व की चर्चा दो से चार तक के तीन अध्यायों में है। दूसरे अध्याय में जीव-तत्त्व के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त संसारी जीवों के अनेक भेद-प्रभेदों का और उनसे सम्बन्धित अनेक बातों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में अधोलोकवासी नारकों व मध्यलोकवासी मनुष्यों तथा तिर्यंचों (पशु-पक्षी आदि) का वर्णन होने से उनसे सम्बन्धित अनेक बातों के साथ नरकभूमि एवं मनुष्यलोक का सम्पूर्ण भूगोल आ जाता है। चौथे अध्याय में देव-सृष्टि का वर्णन होने से उसमें खगोल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दिव्यधामों एवं उनकी समृद्धि का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में प्रत्येक द्रव्य के गुणधर्म का सामान्य स्वरूप बतलाकर साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा द्रव्य मात्र की विस्तृत चर्चा है।

ज्ञेयमीमांसा में मुख्य सोलह बातें आती हैं, जो इस प्रकार हैं :

दूसरे अध्याय में—१. जीव तत्त्व का स्वरूप। २. संसारी जीव के भेद। ३. इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इंद्रियों का विभाजन। ४. मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति। ५. जन्मों के और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाजन। ६. शरीर के भेद, उनका तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनकी शक्यता। ७. जातियों का लिंग-विभाजन और न टूटनेवाले आयुष्य को भोगनेवालों का निर्देश। तीसरे व चौथे अध्याय में—८. अधोलोक के

---

१. शाबर-भाष्य, १. ५।

२. तत्त्वार्थ, १. ३३।

३. तर्कसंग्रह—बुद्धिनिरूपण।

४. योगसूत्र, १. ६।

५. तत्त्वार्थ, १. ३४-३५।

विभाग, उसमें रहनेवाले नारक-जीव और उनकी दशा तथा आयुमर्यादा आदि। ९. द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन तथा उसमें रहनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवन-काल। १०. देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग-स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मण्डल अर्थात् खगोल का वर्णन। पांचवें अध्याय में—११. द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य, उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२. पुद्गल का स्वरूप, उसके भेद और उत्पत्ति के कारण। १३. सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४. पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५. द्रव्य-सामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य माननेवाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६. गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

तुलना—इनमें से अनेक बातें आगमों तथा प्रकरण ग्रन्थों में हैं, परन्तु वे सभी इस ग्रन्थ की तरह संक्षेप में संकलित और एक ही स्थल पर न होकर बिखरी हुई हैं। 'प्रवचनसार' के ज्ञेयाधिकार में और 'पंचास्तिकाय' के द्रव्याधिकार में ऊपर उल्लिखित पाँचवें अध्याय के ही विषय हैं, परन्तु उनका निरूपण इस ग्रन्थ से भिन्न पड़ता है। पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में तर्कपद्धति तथा विस्तार है, जब कि पाँचवें अध्याय में संक्षिप्त तथा सीधा वर्णन है।

ऊपर दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की जो सारभूत बातें दी हैं वैसा अखण्ड, व्यवस्थित और सांगोपांग वर्णन किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध मूल दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थ में दिखाई नहीं देता। बादरायण ने अपने ब्रह्म-सूत्र के तीसरे एवं चौथे अध्याय में जो वर्णन दिया है वह उक्त दूसरे, तीसरे एवं चौथे अध्याय की कितनी ही बातों के साथ तुलना के योग्य है; क्योंकि इसमें मरण के बाद की स्थिति, उत्क्रांति, भिन्न-भिन्न जातियों के जीव, भिन्न-भिन्न लोक और उनके स्वरूप का वर्णन है।[1]

दूसरे अध्याय में जीव का लक्षण उपयोग[2] कहा गया है, वह आत्म-वादी सभी दर्शनों द्वारा स्वीकृत उनके ज्ञान या चैतन्य लक्षण से भिन्न नहीं है। वैशेषिक और न्यायदर्शन के इन्द्रियवर्णन की अपेक्षा तत्त्वार्थ के दूसरे अध्याय का इन्द्रियवर्णन[3] भिन्न दिखाई देते हुए भी उसके इन्द्रिय-

१. देखें—हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १६२ तथा आगे।

२. तत्त्वार्थ, २. ८।

३. तत्त्वार्थ, २. १५-२१।

सम्बन्धी भेद, उनके नाम और प्रत्येक का विषय न्याय[1] तथा वैशेषिक दर्शन के साथ लगभग शब्दशः समान हैं। वैशेषिक दर्शन[2] में जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरों का वर्णन है तथा सांख्यदर्शन[3] में जो सूक्ष्म लिंग और स्थूल शरीर का वर्णन है वह तत्त्वार्थ[4] के शरीर-वर्णन से भिन्न दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही अनुभव के भिन्न पहलुओं (पार्श्वों) का सूचक है। तत्त्वार्थ[5] में जो बीच से टूट सके और न टूट सके ऐसी आयु का वर्णन है और उसकी जो उपपत्ति बतलाई गई है उसका योगसूत्र[6] और उसके भाष्य के साथ शब्दशः साम्य है। तत्त्वार्थ के तीसरे तथा चौथे अध्याय में प्रतिपादित भूगोलविद्या का किसी भी दूसरे दर्शन के सूत्रकार ने स्पर्श नहीं किया। ऐसा होते हुए भी योगसूत्र ३.२६ के भाष्य में नरकभूमियों का, उनके आधारभूत घन, सलिल, वात, आकाश आदि तत्त्वों का, उनमें रहनेवाले नारकों का, मध्यलोक का, मेरु का, निषध, नील आदि पर्वतों का, भरत, इलावृत्त आदि क्षेत्रों का, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि द्वीपसमुद्रों का, ऊर्ध्वलोक-सम्बन्धी विविध स्वर्गों का, उनमें रहनेवाली देवजातियों का, उनकी आयु का, उनके स्त्री, परिवार आदि भोगों का और रहन-सहन का जो विस्तृत वर्णन है वह तत्त्वार्थ के तीसरे एवं चौथे अध्याय की त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा न्यून प्रतीत होता है। इसी प्रकार बौद्ध-ग्रंथों[7] में वर्णित द्वीप, समुद्र, पाताल, शीत-उष्ण, नारक और विविध देवों का वर्णन भी तत्त्वार्थ की त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा संक्षिप्त ही है। फिर भी इन वर्णनों का शब्दसाम्य और विचार-पद्धति की समानता देखकर आर्य-दर्शनों की विभिन्न शाखाओं का एक मूल शोधने की प्रेरणा मिलती है।[8]

---

१. न्यायसूत्र, १. १. १२ और १४।

२. देखें—तर्कसंग्रह में पृथ्वी से वायु तक का निरूपण।

३. सांख्यकारिका, का० ४० से ४२।

४. तत्त्वार्थ, २. ३७-४९।

५. तत्त्वार्थ, २. ५२।

६. योगसूत्र, ३.२२; विस्तार के लिए देखें—प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० ११-१२।

७. धर्मसंग्रह, पृ० २९-३१ तथा अभिधम्मत्थसंगहो, परि० ५ पैरा ३ से आगे।

८. तत्त्वार्थ की श्रुतसागरकृत वृत्ति की प्रस्तावना (पृ० ८६) में पं० महेन्द्रकुमार ने बौद्ध, वैदिक आदि ग्रन्थों से लोक का जो विस्तृत वर्णन उद्धृत किया है वह पुरातन भूगोल-खगोल के जिज्ञासुओं के देखने योग्य है।

पाँचवें अध्याय की वस्तु, शैली और परिभाषा का दूसरे दर्शनों की अपेक्षा वैशेषिक और सांख्य दर्शनों के साथ अधिक साम्य है। इसका षड्-द्रव्यवाद वैशेषिक दर्शन[1] के षट्पदार्थवाद की याद दिलाता है। इसमें प्रयुक्त साधर्म्य-वैधर्म्यवाली शैली वैशेषिक दर्शन[2] के प्रतिबिम्ब जैसी भासित होती है। यद्यपि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय[3] इन दो द्रव्यों की कल्पना दूसरे किसी दर्शनकार ने नहीं की और जैन दर्शन का आत्म-स्वरूप[4] भी दूसरे सभी दर्शनों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है, तो भी आत्मवाद और पुद्गलवाद से सम्बन्धित बहुत-सी बातों का वैशेषिक, सांख्य आदि के साथ अधिक साम्य है। जैन दर्शन[5] की तरह न्याय, वैशेषिक[6], सांख्य[7] आदि दर्शन भी आत्मबहुत्ववादी ही हैं। जैन दर्शन का पुद्गलवाद[8] वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद[9] और सांख्य दर्शन के प्रकृति-वाद[10] के समन्वय का भान कराता है, क्योंकि इसमें आरंभ और परिणाम उभयवाद का स्वरूप आता है। एक ओर तत्त्वार्थ में कालद्रव्य को मानने-वाले मतान्तर[11] का उल्लेख और दूसरी ओर उसके निश्चित रूप से निर्दिष्ट लक्षणों[12] से ऐसा मानने को जी चाहता है कि जैन तत्त्वज्ञान के व्यवस्थापकों के ऊपर कालद्रव्य के विषय में वैशेषिक[13] और सांख्य दोनों दर्शनों के मन्तव्य की स्पष्ट छाप है; क्योंकि वैशेषिक दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है, जब कि सांख्य दर्शन नहीं मानता। तत्त्वार्थ में

---

१. वैशेषिकसूत्र, १. १. ४।
२. प्रशस्तपाद, पृ० १६ तथा आगे।
३. तत्त्वार्थ, ५. १ और ५. १७; विशेष विवरण के लिए देखें—जैन साहित्य संशोधक, खण्ड ३, अङ्क १ तथा ४।
४. तत्त्वार्थ, ५. १५-१६।
५. तत्त्वार्थ, ५. २।
६. व्यवस्थातो नाना— ३. २. २०।
७. पुरुषबहुत्वं सिद्धम् सांख्यकारिका, का० १८।
८. तत्त्वार्थ, ५. २३-२८।
९. देखें—तर्कसंग्रह, पृथ्वी आदि भूतों का निरूपण।
१०. सांख्यकारिका, का० २२ से आगे।
११. तत्त्वार्थ, ५. ३८।
१२. तत्त्वार्थ, ५. २२।
१३. २. २. ६।

वर्णित कालद्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दोनों पक्ष, जो आगे चलकर दिगम्बर[१] और श्वेताम्बर भिन्न-भिन्न मान्यता के रूप में विभाजित हो गए हैं, पहले से ही जैन दर्शन में होंगे या उन्होंने वैशेषिक और सांख्य दर्शन के विचार-संघर्ष के परिणामस्वरूप किसी समय जैन दर्शन में स्थान प्राप्त किया, यह शोध का विषय है। परन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि मूल तत्त्वार्थ और उसकी व्याख्याओं[२] में काल के लिंगों का प्रतिपादन वैशेषिक सूत्रों के साथ शब्दशः मिलता-जुलता है। सत् और नित्य की तत्त्वार्थगत व्याख्या सांख्य और योग दर्शन के साथ सादृश्य रखती है। इनमें वर्णित परिणामिनित्य का स्वरूप तत्त्वार्थ के सत् और नित्य के साथ शब्दशः मिलता है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं में द्रव्यारम्भ की जो योग्यता[३] वर्णित है वह तत्त्वार्थ में वर्णित पौद्गलिक बन्ध (द्रव्यारम्भ) की योग्यता[४] की अपेक्षा अलग प्रकार की है। तत्त्वार्थ[५] की द्रव्य और गुण की व्याख्या का वैशेषिक दर्शन[६] की व्याख्या के साथ अधिक सादृश्य है। तत्त्वार्थ और सांख्य-योग की परिणाम-सम्बन्धी परिभाषा समान है। तत्त्वार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय के रूप में सत् पदार्थ का विवेक सांख्य के सत् और परिणामवाद की तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण और कर्म को मुख्य सत् मानने की प्रवृत्ति का स्मरण दिलाता है।

चारित्रमीमांसा की सारभूत बातें—जीवन में कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, इनका मूल बीज क्या है, हेय प्रवृत्तियों का सेवन करनेवालों के जीवन का परिणाम क्या होता है, हेय प्रवृत्तियों का त्याग शक्य हो तो वह किन-किन उपायों से सम्भव है और इनके स्थान पर किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ अंगीकार की जाएँ, उनका जीवन में क्रमशः और अन्त में क्या परिणाम आता है—ये सब विचार छठे से दसवें अध्याय तक की चारित्र-मीमांसा में आते हैं। ये सब विचार जैन दर्शन की बिलकुल अलग परि-भाषा और साम्प्रदायिक प्रणाली के कारण मानो किसी भी दर्शन के साथ

१. देखें—कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और पंचास्तिकाय का कालनिरूपण तथा सर्वार्थसिद्धि, ५. ३९।

२. देखें—भाष्यवृत्ति, ५. २२ और प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १०।

३. प्रशस्तपाद, वायुनिरूपण, पृ० ४८।

४. तत्त्वार्थ, ५. ३२-३५।

५. तत्त्वार्थ, ५, ३७ और ४०।

६. प्रस्तुत प्रस्तावना, पृ० १०-११।

साम्य नहीं रखते, ऐसा आपाततः भास होता है, तो भी बौद्ध या योग दर्शन के सूक्ष्म अध्येता को यह ज्ञात हुए बिना नहीं रहता कि जैन चारित्रमीमांसा का विषय चारित्र-प्रधान उक्त दो दर्शनों के साथ अधिक से अधिक और अद्भुत रूप से साम्य रखता है। यह साम्य भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभाजित, विभिन्न परिभाषाओं में संगठित और उन-उन शाखाओं में न्यूनाधिक विकास-प्राप्त परन्तु मूल में आर्य जाति के एक ही आचारदाय—आचारविषयक उत्तराधिकार का भान कराता है।

चारित्रमीमांसा की मुख्य बातें ग्यारह हैं: छठे अध्याय में—१. आस्रव का स्वरूप, उसके भेद तथा किस-किस प्रकार के आस्रवसेवन से कौन-कौन से कर्म बंधते हैं, इसका वर्णन है। सातवें अध्याय में—२. व्रत का स्वरूप, व्रत लेनेवाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग का वर्णन है, ३. हिंसा आदि दोषों का स्वरूप, ४. व्रत में संभाव्य दोष, ५. दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु का वर्णन है। आठवें अध्याय में—६. कर्मबन्ध के मूलहेतु और कर्मबन्ध के भेद हैं। नवें अध्याय में—७. संवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेद-प्रभेद, ८. निर्जरा और उसका उपाय, ९. भिन्न-भिन्न अधिकारवाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य दर्शाया है। दसवें अध्याय में—१०. केवलज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप तथा ११. मुक्ति प्राप्त करनेवाली आत्मा को किस रीति से कहाँ गति होती है, इसका वर्णन है।

तुलना—तत्त्वार्थ की चारित्रमीमांसा प्रवचनसार के चारित्र-वर्णन से भिन्न पड़ती है, क्योंकि उसमें तत्त्वार्थ के सदृश आस्रव, संवर आदि तत्त्वों की चर्चा नहीं है। उसमें तो केवल साधु की दशा का और वह भी दिगम्बर साधु के लिए विशेष अनुकूल दशा का वर्णन है। पंचास्तिकाय और समयसार में तत्त्वार्थ के सदृश ही आस्रव, संवर, बंध आदि तत्त्वों को लेकर चारित्र-मीमांसा की गई है, तो भी इन दोनों में अन्तर यह है कि तत्त्वार्थ के वर्णन में निश्चय की अपेक्षा व्यवहार का चित्र अधिक खींचा गया है, इसमें प्रत्येक तत्त्व से सम्बन्धित सभी बातें हैं और त्यागी गृहस्थ तथा साधु के सभी प्रकार के आचार तथा नियम वर्णित हैं जो जैनसंघ का संगठन सूचित करते हैं, जब कि पंचास्तिकाय और समयसार में वैसा नहीं है। उनमें तो आस्रव, संवर आदि तत्त्वों की निश्चयगामी तथा उपपत्तिवाली चर्चा है, उनमें तत्त्वार्थ के सदृश जैन गृहस्थ तथा साधु के प्रचलित व्रतों का वर्णन नहीं है।

योगदर्शन के साथ प्रस्तुत चारित्रमीमांसा की तुलना को जितना अवकाश है उतना ही यह विषय दिलचस्प है, परन्तु यह एक स्वतंत्र लेख का विषय होने से यहाँ उसको स्थान नहीं, तो भी जिज्ञासुओं का ध्यान खींचने के लिए उनकी स्वतन्त्र तुलनाशक्ति पर विश्वास रखकर नीचे संक्षेप में तुलना करने योग्य सारभूत बातों की एक सूची दी जाती है :

तत्त्वार्थसूत्र	योगदर्शन
१. कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तिरूप आस्रव (६. १)	१. कर्माशय (२. १२)
२. मानसिक आस्रव (८. १)	२. निरोध के विषयरूप में ली जानेवाली चित्तवृत्तियाँ (१.६)
३. सकषाय व अकषाय—यह दो प्रकार का आस्रव (६. ५)	३. क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार का कर्माशय (२. १२)
४. सुख-दुःखजनक शुभ व अशुभ आस्रव (६. ३-४)	४. सुख-दुःखजनक पुण्य व अपुण्य कर्माशय (२. १४)
५. मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के पाँच हेतु (८. १)	५. अविद्या आदि पाँच बन्धक क्लेश (२. ३)
६. पाँचों में मिथ्यादर्शन की प्रधानता	६. पाँचों में अविद्या की प्रधानता (२. ४)
७. आत्मा और कर्म का विलक्षण सम्बन्ध ही बन्ध (८. २-३)	७. पुरुष और प्रकृति का विलक्षण संयोग ही बन्ध (२. १७)
८. बन्ध ही शुभ-अशुभ हेय विपाक का कारण	८. पुरुष व प्रकृति का संयोग ही हेय दुःख का हेतु (२. १७)
९. अनादि बन्ध मिथ्यादर्शन के अधीन	९. अनादि संयोग अविद्या के अधीन (२. २४)
१०. कर्मों के अनुभागबन्ध का आधार कषाय (६. ५)	१०. कर्मों के विपाकजनन का मूल क्लेश (२. १३)
११. आस्रवनिरोध ही संवर (९.१)	११. चित्तवृत्तिनिरोध ही योग (१.२)
१२. गुप्ति, समिति आदि और विविध तप आदि संवर के उपाय (९. २-३)	१२. यम, नियम आदि और अभ्यास, वैराग्य आदि योग के उपाय (१. १२ से और २. २९ से)

१३. अहिंसा आदि महाव्रत (७.१)	१३. अहिंसा आदि सार्वभौम यम (२. ३०)
१४. हिंसा आदि वृत्तियों में ऐहिक, पारलौकिक दोषों का दर्शन करके उन्हें रोकना (७. ४)	१४. प्रतिपक्ष भावना द्वारा हिंसा आदि वितर्कों को रोकना (२. ३३-३४)
१५. हिंसा आदि दोषों में दुःखपने की ही भावना करके उन्हें त्यागना (७. ५)	१५. विवेकी की दृष्टि में सम्पूर्ण कर्माशय दुःखरूप (२. १५)
१६. मैत्री आदि चार भावनाएँ (७. ६)	१६. मैत्री आदि चार भावनाएँ[1] (१. ३३)
१७. पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार आदि चार शुक्ल ध्यान (९. ४१-४६)	१७. सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचाररूप चार संप्रज्ञात समाधियाँ[2] (१. १६ और ४१, ४४)
१८. निर्जरा और मोक्ष (९. ३ और १०. ३)	१८. आंशिकहान–बन्धोपरम और सर्वथाहान[3] (२. २५)
१९. ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा और मोक्ष का हेतु (१. १)	१९. सांगयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (२. २६)
२०. जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्यज्ञान और चारण-विद्यादि लब्धियाँ (१. १२ और १०.७ का भाष्य)	२०. संयमजनित वैसी ही विभूतियाँ[4] (२. ३९ और ३. १६ से आगे)
२१. केवलज्ञान (१०. १)	२१. विवेकजन्य तारक ज्ञान(३.५४)

इनके अतिरिक्त कितनी ही बातें ऐसी भी हैं जिनमें से एक बात

---

१. ये चार भावनाएँ बौद्ध परम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती हैं और उन पर बहुत जोर दिया गया है ।

२. ध्यान के ये चार भेद बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध हैं ।

३. इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं, जो तीसरा आर्यसत्य है ।

४. बौद्धदर्शन में इनके स्थान पर पाँच अभिज्ञाएँ हैं। देखें—धर्मसंग्रह, पृ० ४ और अभिधम्मत्थसंगहो, परिच्छेद ९ पैरा २४ ।

पर एक दर्शन द्वारा तो दूसरी बात पर दूसरे दर्शन द्वारा जोर दिया गया है, अतः वह बात उस-उस दर्शन के एक विशिष्ट विषय के रूप में अथवा एक विशेषता के रूप में प्रसिद्ध हो गई। उदाहरणार्थ कर्म-सिद्धान्त को लीजिए। बौद्ध एवं योग दर्शन[1] में कर्म के मूल सिद्धान्त तो हैं ही। योग दर्शन में तो इन सिद्धान्तों का ब्योरेवार वर्णन भी है, फिर भी कर्म-सिद्धान्त विषयक जैन दर्शन में एक विस्तृत और गहरा शास्त्र बन गया है जैसा कि दूसरे किसी भी दर्शन में नहीं है। इसी कारण चारित्रमीमांसा में कर्म-सिद्धान्त का वर्णन करते हुए जैनसम्मत सम्पूर्ण कर्मशास्त्र[2] वाचक उमास्वाति ने संक्षेप में ही समाविष्ट कर दिया है। इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से चारित्र की मीमांसा जैन, बौद्ध और योग तीनों दर्शनों में समान होते हुए भी कुछ कारणों से व्यवहार में अन्तर दिखाई देता है और यह अन्तर ही उस-उस दर्शन के अनुगामियों की विशेषता बन गया है। क्लेश और कषाय का त्याग सभी के मत में चारित्र है, उसे सिद्ध करने के अनेक उपायों में से कोई एक पर तो दूसरा दूसरे पर अधिक जोर देता है। जैन-आचार के संगठन में देह-दमन[3] की प्रधानता दिखाई देती है, बौद्ध-आचार के संगठन में ध्यान पर जोर दिया गया है और योग दर्शनानुसारी परिव्राजकों के आचार के संगठन में प्राणायाम, शौच आदि पर। यदि मुख्य चारित्र की सिद्धि में ही देहदमन, ध्यान तथा प्राणायाम आदि का उचित उपयोग हो तब तो इन सबका समान महत्त्व है, परन्तु जब ये बाह्य अंग मात्र व्यवहार की लीक बन जाते हैं और उनमें से मुख्य चारित्र की सिद्धि की आत्मा निकल जाती है तभी इनमें विरोध की गंध आती है और एक सम्प्रदाय का अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय के आचार की निरर्थकता बतलाने लगता है। बौद्ध साहित्य में और बौद्ध-अनुगामी वर्ग में जैनों के देहदमनप्रधान तप की निन्दा[4] दिखाई पड़ती है, जैन साहित्य और जैन-अनुगामी वर्ग में बौद्धों के सुखशीलवर्तन और ध्यान का तथा परिव्राजकों के प्राणायाम व शौच का परिहास[5] दिखाई देता

१. देखें—योगसूत्र, २. ३-१४।
२. तत्त्वार्थ, ६. ११-२६ और ८. ४-२६।
३. तत्त्वार्थ, ९. ९; "देहदुक्खं महाफलं"—दशवैकालिक, ८. २७।
४. मज्झिमनिकाय, सूत्र १४।
५. सूत्रकृतांग, अ. ३ उ. ४ गा. ६ की टीका तथा अ. ७ गा. १४ से आगे।

है। ऐसा होने से उस-उस दर्शन की चारित्रमीमांसा के ग्रंथों में व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित वर्णन का विशेष भिन्न दिखाई देना स्वाभाविक है। यही कारण है कि तत्त्वार्थ की चारित्रमीमांसा में प्राणायाम या शौच विषयक एक भी सूत्र दिखाई नहीं देता, तथा ध्यान का अधिक वर्णन होते हुए भी उसकी सिद्धि के लिए बौद्ध या योग दर्शन में वर्णित व्यावहारिक उपाय तत्त्वार्थ में नहीं है। इसी भाँति तत्त्वार्थ में परीषह और तप का जैसा विस्तृत तथा व्यापक वर्णन है वैसा योग या बौद्ध दर्शन की चारित्रमीमांसा में नहीं दिखाई देता।

इसके अतिरिक्त चारित्रमीमांसा के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान में रखने जैसी है। उक्त तीनों दर्शनों में ज्ञान और चारित्र (क्रिया) दोनों का स्थान है, फिर भी जैन दर्शन में चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण स्वीकार करके ज्ञान को उसके अंगरूप में स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्ध और योग दर्शनों में ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानकर ज्ञान के अंगरूप में चारित्र को स्थान दिया गया है। यह बात उक्त तीनों दर्शनों के साहित्य तथा उनके अनुयायी-वर्ग के जीवन का बारीकी से अध्ययन करनेवाले को ज्ञात हो जाती है। इस कारण तत्त्वार्थ की चारित्रमीमांसा में चारित्रलक्षी क्रियाओं का और उनके भेद-प्रभेदों का अधिक वर्णन स्वाभाविक ही है।

तुलना पूरी करने के पूर्व चारित्र-मीमांसा के अन्तिम साध्य मोक्ष के स्वरूप के विषय में उक्त दर्शनों की क्या कल्पना है, यह जान लेना भी आवश्यक है। दुःख के त्याग में से ही मोक्ष की कल्पना उद्भूत होने से सभी दर्शन दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। न्याय[1], वैशेषिक[2], योग और बौद्ध ये चारों दर्शन ऐसा मानते हैं कि दुःख-नाश के अतिरिक्त मोक्ष में दूसरी कोई भावात्मक वस्तु नहीं है। अतः उनके अनुसार मोक्ष में यदि सुख हो तो वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं अपितु उस दुःख के अभाव में ही पर्यवसित है, जब कि जैन दर्शन वेदान्त की तरह यह मानता है कि मोक्ष-अवस्था मात्र दुःखनिवृत्ति नहीं बल्कि इसमें विषय-निरपेक्ष स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु भी है—मात्र सुख ही नहीं, उसके अतिरिक्त ज्ञान जैसे अन्य स्वाभाविक गुणों का आविर्भाव जैन दर्शन इस अवस्था में स्वीकार करता है, जब कि

१. देखें—न्यायसूत्र, १. १. २२।

२. देखें—वैशेषिकसूत्र, ५. २. १८।

दूसरे दर्शनों की प्रक्रिया इसे स्वीकार नहीं करती। मोक्ष के स्थान के संबंध में जैन दर्शन का मत सबसे निराला है। बौद्ध दर्शन में तो स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व का स्पष्ट स्थान न होने से मोक्ष के स्थान के संबंध में उसमें से किसी भी विचार-प्राप्ति की आशा को अवकाश नहीं है। सभी प्राचीन वैदिक दर्शन आत्मविभुत्व-वादी होने से उनके मत में मोक्ष के किसी पृथक् स्थान की कल्पना ही नहीं है, परंतु जैन दर्शन स्वतंत्र आत्मतत्त्व-वादी है, फिर भी आत्मविभुत्व-वादी नहीं है, अतः उसके लिए मोक्ष के स्थान का विचार करना आवश्यक हो गया और यह विचार उसने किया भी है। तत्त्वार्थ के अन्त में वाचक उमास्वाति कहते हैं कि मुक्त हुए जीव हरएक प्रकार के शरीर से छूटकर ऊर्ध्वगामी होकर अन्त में लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं और सदा वहीं रहते हैं।

४. तत्त्वार्थ की व्याख्याएँ

साम्प्रदायिक व्याख्याओं के विषय में 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र की तुलना 'ब्रह्मसूत्र' के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार बहुत-से विषयों में परस्पर नितान्त भिन्न मत रखनेवाले अनेक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर व्याख्याएँ लिखी हैं और उसीसे अपने वक्तव्य को उपनिषदों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है[1], उसी प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं और उसीसे परस्पर विरोधी मन्तव्यों को भी आगम के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इससे सामान्य बात इतनी ही सिद्ध होती है कि जैसे वेदान्त-साहित्य में प्रतिष्ठा होने के कारण भिन्न-भिन्न मत रखने-वाले प्रतिभाशाली आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र का आश्रय लेकर उसी के द्वारा अपने विशिष्ट वक्तव्य को दर्शाने की आवश्यकता अनुभव की, वैसे ही जैन वाङ्मय में स्थापित तत्त्वार्थाधिगम की प्रतिष्ठा के कारण उसका आश्रय लेकर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को अपने-अपने मन्तव्यों को प्रकट करने की आवश्यकता हुई। इतना स्थूल साम्य होते हुए भी ब्रह्म-सूत्र की और तत्त्वार्थ की साम्प्रदायिक व्याख्याओं में एक विशेष महत्त्व का भेद है कि तत्त्वज्ञान के जगत्, जीव, ईश्वर आदि मौलिक विषयों में ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार एक-दूसरे से बहुत ही भिन्न पड़ते हैं और बहुत बार तो उनके विचारों में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर दिखाई देता

१. शंकर, निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ आदि।

है; जबकि तत्त्वार्थ के दिगम्बर या श्वेताम्बर किसी भी सम्प्रदाय के व्याख्याकारों में वैसी बात नहीं है। उनमें तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों में कोई अन्तर नहीं है और जो थोड़ा-बहुत अंतर है वह भी बिलकुल साधारण बातों में है और ऐसा नहीं कि जिसमें समन्वय को अवकाश ही न हो अथवा वह पूर्व-पश्चिम जितना हो। वस्तुतः जैन तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में खास मतभेद पड़ा ही नहीं, इससे उनकी तत्त्वार्थ-व्याख्याओं में दिखाई देने-वाला मतभेद बहुत गम्भीर नहीं माना जाता।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर प्राचीन-अर्वाचीन, छोटी-बड़ी, संस्कृत तथा लौकिक भाषा की अनेक व्याख्याएँ हैं, परन्तु उनमें से जिनका ऐति-हासिक महत्त्व हो, जैन तत्त्वज्ञान को व्यवस्थित करने में तथा विकसित करने में जिनका प्राधान्य हो और जिनका खास दार्शनिक महत्त्व हो ऐसी चार ही व्याख्याएँ[1] इस समय मौजूद हैं। उनमें से तीन तो दिगंबर सम्प्रदाय की हैं, जो साम्प्रदायिक भेद की ही नहीं बल्कि विरोध की तीव्रता बढ़ने के बाद प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं; और एक स्वयं सूत्रकार वाचक उमास्वाति की स्वोपज्ञ ही है। अतः इन चार व्याख्याओं के विषय में ही यहाँ कुछ चर्चा करना उचित होगा।

(क) भाष्य और सर्वार्थसिद्धि

'भाष्य' और 'सर्वार्थसिद्धि' इन दोनों टीकाओं के विषय में कुछ विचार करने के पहले इन दोनों के सूत्रपाठों के विषय में विचार करना आवश्यक है। यथार्थ में एक ही होते हुए भी बाद में साम्प्रदायिक भेद के कारण सूत्रपाठ दो हो गए हैं, जिनमें एक श्वेताम्बर और दूसरा दिग-म्बर के रूप में प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर मानेजानेवाले सूत्रपाठ के स्वरूप का भाष्य के साथ मेल बैठने से उसे भाष्यमान्य कह सकते हैं और दिगम्बर मानेजानेवाले सूत्रपाठ के स्वरूप का सर्वार्थसिद्धि के साथ मेल बैठने से उसे सर्वार्थसिद्धिमान्य कह सकते हैं। सभी श्वेताम्बर आचार्य भाष्यमान्य सूत्रपाठ का अनुसरण करते हैं और सभी दिगम्बर आचार्य सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का। सूत्रपाठ के सम्बन्ध में नीचे लिखी चार बातें यहाँ ज्ञातव्य हैं —१. सूत्रसंख्या, २. अर्थभेद, ३. पाठान्तरविषयक भेद और ४. यथार्थता।

१. इसमें यशोविजयगणि अपवाद हैं। देखें—प्रस्तावना, पृ० ३८-४०।

१. सूत्रसंख्या—भाष्यमान्य सूत्रों की संख्या ३४४ है और सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रों की संख्या ३५७ है।

२. अर्थभेद—सूत्रों की संख्या और कहीं-कहीं शाब्दिक रचना में अन्तर होते हुए भी मूलसूत्रों से ही अर्थ में महत्त्वपूर्ण अन्तरवाले तीन स्थल हैं, शेष सब मूलसूत्रों से खास अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता। इन तीन स्थलों में स्वर्ग की बारह और सोलह संख्या विषयक पहला (४. २०), काल का स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दूसरा (५. ३८) और तीसरा पुण्य-प्रकृतियों में हास्य आदि चार प्रकृतियों के होने न होने का (८. २६) है।

३. पाठान्तरविषयक भेद—दोनों सूत्रपाठों के पारस्परिक भेद के अतिरिक्त इस प्रत्येक सूत्रपाठ में भी भेद आता है। सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता ने जो पाठान्तर निर्दिष्ट किया है[1] उसको यदि अलग कर दिया जाए तो सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि सब दिगम्बर टीकाकार सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ में कुछ भी पाठ-भेद सूचित नहीं करते। अतः कहना चाहिए कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय जो सूत्रपाठ प्राप्त किया तथा सुधारा-बढ़ाया गया उसी को निर्विवाद रूप से बाद के सभी दिगम्बर टीकाकारों ने मान्य रखा, जब कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ के विषय में ऐसी बात नहीं है। यह सूत्रपाठ श्वेताम्बररूप में एक होने पर भी उसमें कितने ही स्थानों पर भाष्य के वाक्य सूत्ररूप में दाखिल हो जाने का, कितने ही स्थानों पर सूत्ररूप में माने जानेवाले वाक्यों का भाष्यरूप में गिने जाने का, कहीं-कहीं मूलतः एक ही सूत्र के दो भागों में बँट जाने का और कहीं मूलतः दो सूत्र मिलकर एक ही सूत्र हो जाने का सूचन भाष्य की लभ्य दोनों टीकाओं में सूत्रों की पाठान्तर विषयक चर्चा से स्पष्ट होता है।[2]

४. यथार्थता—उक्त दोनों सूत्रपाठों में मूल कौन-सा है और परिवर्तित कौन-सा है, यह प्रश्न सहज उत्पन्न होता है। अब तक किए गए विचार से मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ ही मूल है अथवा वह सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा मूल सूत्रपाठ के अत्यन्त निकट है।

१. देखें—२. ५३।

२. देखें—२. १९; २. ३७; ३. ११; ५. २–३; ७. ३ और ५ इत्यादि

सूत्रपाठ के विषय में इतनी चर्चा करने के पश्चात् अब सूत्रों पर सर्व-प्रथम रचित भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि इन दो टीकाओं के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक लगता है। भाष्यमान्य सूत्रपाठ का मूल होना अथवा मूलपाठ के विशेष निकट होना तथा पूर्व कथनानुसार भाष्य का वाचक उमास्वातिकृत होना—इन बातों में दिगम्बर आचार्यों का मौन स्वाभाविक है। क्योंकि पूज्यपाद के बाद के सभी दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि और उसका मान्य सूत्रपाठ ही है। यदि वे भाष्य या भाष्यमान्य सूत्रपाठ को उमास्वातिकर्तृक कहते हैं तो पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और उसकी व्याख्या का प्रामाण्य पूरा-पूरा नहीं रह सकता। दिगम्बर परम्परा सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य सूत्र-पाठ को प्रमाणसर्वस्व मानती है। ऐसी स्थिति में भाष्य और सर्वार्थसिद्धि दोनों की प्रामाण्य-विषयक जाँच किए बिना यह प्रस्तावना अधूरी ही रहती है। भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय में कोई सन्देह न होते हुए भी दलील के लिए यदि ऐसा मान लिया जाए कि यह स्वोपज्ञ नहीं है तो भी इतना तो निर्विवाद रूप से कहा ही जा सकता है कि भाष्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा प्राचीन है तथा तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका है, क्योंकि वह सर्वार्थसिद्धि की भाँति साम्प्रदायिक नहीं है। इस तत्त्व को समझने के लिए यहाँ तीन बातों की पर्यालोचना की जाती है—(क) शैली-भेद, (ख) अर्थ-विकास और (ग) साम्प्रदायिकता।

(क) शैली-भेद—किसी एक ही सूत्र के भाष्य और उसकी सर्वार्थ-सिद्धिवाली व्याख्या को सामने रखकर तुलना की दृष्टि से देखनेवाले को यह मालूम हुए बिना नहीं रहता कि सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की शैली प्राचीन है तथा पद-पद पर सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का प्रतिबिम्ब है। इन दोनों टीकाओं से भिन्न और दोनों से प्राचीन तीसरी किसी टीका के होने का यथेष्ट प्रमाण जब तक नहीं मिलता तब तक भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना करनेवाले ऐसा कहे बिना नहीं रह सकते कि भाष्य को सामने रखकर सर्वार्थसिद्धि की रचना हुई है। भाष्य की शैली प्रसन्न और गंभीर है, फिर भी दार्शनिक दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि की शैली निःसन्देह विशेष विकसित और परिमार्जित है। संस्कृत भाषा में लेखन और जैन साहित्य में दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है वह भाष्य में दिखाई नहीं देता, फिर भी इन दोनों रचनाओं की भाषा में जो बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है उससे स्पष्ट है कि भाष्य ही प्राचीन है।

उदाहरणार्थ, प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य में सम्यक् शब्द के विषय में लिखा है कि 'सम्यक्' निपात है अथवा 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अञ्च' धातु का रूप है। इस विषय में सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति-रहित अखंड है अथवा व्युत्पन्न है—धातु और प्रत्यय दोनों मिलाकर व्युत्पत्तिपूर्वक सिद्ध हुआ है। 'अञ्च' धातु को 'क्विप्' प्रत्यय लगाया जाए तब 'सम्+अञ्चति' इस रीति से 'सम्यक्' शब्द बनता है। 'सम्यक्' शब्द विषयक निरूपण की उक्त दो शैलियों में भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की स्पष्टता अधिक है। इसी प्रकार भाष्य में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में इतना ही लिखा है कि दर्शन 'दृशि' धातु का रूप है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट वर्णित है। भाष्य में 'ज्ञान' और 'चारित्र' शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट वर्णित है और बाद में उसका जैनदृष्टि से समर्थन किया गया है। इसी प्रकार समास में दर्शन और ज्ञान शब्दों में पहले कौन आए और बाद में कौन आए, यह सामासिक चर्चा भाष्य में नहीं है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में वह स्पष्ट है। इसी तरह पहले अध्याय के दूसरे सूत्र के 'तत्त्व' शब्द के भाष्य में मात्र दो अर्थ सूचित किए गए हैं, जब कि सर्वार्थसिद्धि में इन दोनों अर्थों की व्युत्पत्ति की गई है और 'दृशि' धातु का श्रद्धा अर्थ कैसे लिया जाए, यह बात भी सूचित की गई है, जो भाष्य में नहीं है।

(ख) **अर्थविकास**[1]—अर्थ की दृष्टि से भी भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन प्रतीत होती है। जो एक बात भाष्य में होती है उसको विस्तृत करके—उस पर अधिक चर्चा करके—सर्वार्थसिद्धि में निरूपण हुआ है। व्याकरणशास्त्र और जैनेतर दर्शनों की जितनी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में है उतनी भाष्य में नहीं है। जैन परिभाषा का, संक्षिप्त होते हुए भी, जो स्थिर विशदीकरण और वक्तव्य का जो विश्लेषण सर्वार्थसिद्धि में है वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की तार्किकता बढ़ जाती है और भाष्य में जो नहीं हैं ऐसे विज्ञानवादी बौद्ध आदि के मन्तव्य उसमें जोड़े जाते हैं और इतर दर्शनों का खंडन

१. तुलना करें—१. २; १. १२; १. ३२ और २. १ इत्यादि सूत्रों का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं।

(ग) साम्प्रदायिकता[1]—उक्त दो बातों की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की बात अधिक महत्त्वपूर्ण है। काल-तत्त्व, केवलि-कवलाहार, अचेलकत्व और स्त्री-मुक्ति जैसे विषयों के तीव्र मतभेद का रूप धारण करने के बाद और इन बातों पर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, जब कि भाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का यह तत्त्व दिखाई नहीं देता। जिन बातों में रूढ़ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साथ दिगम्बर सम्प्रदाय का विरोध है उन सभी बातों को सर्वार्थसिद्धि के प्रणेता ने सूत्रों में संशोधन करके या उनके अर्थ में खींचतान करके अथवा असंगत अध्याहार आदि करके दिगम्बर सम्प्रदाय की अनुकूलता की दृष्टि से चाहे जिस रीति से सूत्रों में से उत्पन्न करके निकालने का साम्प्रदायिक प्रयत्न किया है। वैसा प्रयत्न भाष्य में कहीं दिखाई नहीं देता। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धि साम्प्रदायिक विरोध का वातावरण जम जाने के बाद आगे चलकर लिखी गई है और भाष्य इस विरोध के वातावरण से मुक्त है।

तब यहाँ प्रश्न होता है कि इस प्रकार यदि भाष्य प्राचीन है तो उसे दिगम्बर परम्परा ने क्यों छोड़ा ? इसका उत्तर यही है कि सर्वार्थसिद्धिकार को श्वेताम्बर सम्प्रदाय की जिन मान्यताओं का खंडन करना था वह खंडन भाष्य में नहीं था। इतना ही नहीं, भाष्य अधिकांशतः रूढ़ दिगम्बर परम्परा का पोषक भी नहीं था और बहुत-से स्थानों पर तो वह उलटा दिगम्बर परम्परा से बहुत विपरीत पड़ता था।[2] अतः पूज्यपाद ने भाष्य को एक ओर रख कर सूत्रों पर स्वतंत्र टीका लिखी और सूत्रपाठ में इष्ट सुधार तथा वृद्धि की[3] और उसकी व्याख्या में जहाँ मतभेद-

---

१. देखें—५. ३९; ६. १३; ८. १; ९. ९; ९. ११; १०. ९ इत्यादि सूत्रों की सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ उन्हीं सूत्रों का भाष्य।

२. तत्त्वार्थ, ९. ७ तथा २४ के भाष्य में वस्त्र का उल्लेख है एवं १०. ७ के भाष्य में 'तीर्थंकरीतीर्थ' का उल्लेख है।

३. जहाँ-जहाँ अर्थ की खींचतान की है अथवा पुलाक आदि जैसे स्थलों पर ठीक-ठीक विवरण नहीं हो सका उन सूत्रों को क्यों न निकाल डाला ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रपाठ की अति प्रसिद्धि और निकाल डालने पर अप्रामाण्य का आक्षेप आने का डर था, ऐसा जान पड़ता है।

वाली बात आई वहाँ स्पष्ट रूप से दिगम्बर मन्तव्य ही स्थापित किया। ऐसा करने में पूज्यपाद के लिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थ मुख्य आधार-भूत रहे हैं, ऐसा जान पड़ता है। ऐसा होने से दिगम्बर परम्परा ने सर्वार्थसिद्धि को मुख्य प्रमाणरूप में स्वीकार कर लिया और भाष्य स्वाभाविक रूप में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य रह गया। भाष्य पर किसी भी दिगम्बर आचार्य ने टीका नहीं लिखी, इससे वह दिगम्बर-परम्परा से दूर ही रह गया। अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने भाष्य पर टीकाएँ लिखी हैं और कहीं-कहीं पर भाष्य के मन्तव्यों का विरोध किए जाने पर भी समष्टि रूप से उसका प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। इसी लिए वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि भाष्य के प्रति दिगम्बर परम्परा की जो आज-कल मनोवृत्ति देखी जाती है वह प्राचीन दिगम्बराचार्यों में नहीं थी। क्योंकि अकलंक जैसे प्रमुख दिगम्बराचार्य भी यथासम्भव भाष्य के साथ अपने कथन की संगति दिखाने का प्रयत्न करके भाष्य के विशिष्ट प्रामाण्य का सूचन करते हैं (देखें—राजवार्तिक ५. ४. ८.) और कहीं भी भाष्य का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन नहीं करते या अप्रामाण्य व्यक्त नहीं करते।

(ख) दो वार्तिक

ग्रन्थों का नामकरण भी आकस्मिक नहीं होता; खोज की जाए तो उसका भी विशिष्ट इतिहास है। पूर्वकालीन और समकालीन विद्वानों की भावना से तथा साहित्य के नामकरण-प्रवाह से प्रेरणा लेकर ही ग्रन्थकार अपनी कृतियों का नामकरण करते हैं। व्याकरण पर पातंजल महाभाष्य की प्रतिष्ठा का प्रभाव बाद के अनेक ग्रन्थकारों पर पड़ा, यह बात हम उनकी कृतियों के भाष्य नाम से जान सकते हैं। इसी प्रभाव ने, सम्भव है, वा० उमास्वाति को भाष्य नामकरण करने के लिए प्रेरित किया हो। बौद्ध साहित्य में एक ग्रन्थ का नाम 'सर्वार्थसिद्धि' होने का स्मरण है। उसके और प्रस्तुत सर्वार्थसिद्धि के नाम का पौर्वापर्य सम्बन्ध अज्ञात है, परन्तु वार्तिकों के विषय में इतना निश्चित है कि एक बार भारतीय वाङ्मय में वार्तिक युग आया और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्तिक नाम के अनेक ग्रन्थ लिखे गए। उसी का असर तत्त्वार्थ के प्रस्तुत वार्तिकों के नामकरण पर है। अकलंक ने अपनी टीका का नाम 'तत्त्वार्थवार्तिक' रखा है, जो राजवार्तिक नाम से प्रसिद्ध

है।[1] विद्यानन्दकृत तत्त्वार्थव्याख्या का 'श्लोकवार्तिक' नाम कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' का अनुकरण है, इसमें कोई संदेह नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र पर लिखित अकलङ्क के 'राजवार्तिक' और विद्यानन्द के 'श्लोकवार्तिक' दोनों का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि ही है। यदि अकलङ्क को सर्वार्थसिद्धि न मिली होती तो राजवार्तिक का वर्तमान स्वरूप इतना विशिष्ट नहीं होता और यदि राजवार्तिक का आश्रय न मिला होता तो विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक की विशिष्टता भी दिखाई न देती, यह निश्चित है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ये दोनों साक्षात् या परंपरा से सर्वार्थसिद्धि के ऋणी होने पर भी दोनों में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विशेष विकास हुआ है। उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' की तरह 'तत्त्वार्थवार्तिक' गद्य में है, जब कि 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' तथा धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' एवं सर्वज्ञात्म मुनिकृत संक्षेपशारीरकवार्तिक की तरह पद्य में है। कुमारिल की अपेक्षा विद्यानन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं ही अपने पद्यवार्तिक की टीका भी लिखी है। राजवार्तिक में लगभग समस्त सर्वार्थसिद्धि आ जाती है, फिर भी उसमें नवीनता और प्रतिभा इतनी अधिक है कि सर्वार्थसिद्धि को साथ रखकर राजवार्तिक पढ़ते समय उसमें कुछ भी पुनरुक्ति दिखाई नहीं देती। लक्षणनिष्णात पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धिगत सभी विशेष वाक्यों को अकलङ्क ने पृथक्करण और वर्गीकरण पूर्वक वार्तिकों में परिवर्तित कर डाला है और वृद्धि करने योग्य दिखाई देनेवाली बातों तथा वैसे प्रश्नों के विषय में नवीन वार्तिक भी रचे हैं तथा सब वार्तिकों पर स्वयं ही स्फुट विवरण लिखा है। अतः समष्टिरूप से देखते हुए 'राजवार्तिक' सर्वार्थसिद्धि का विवरण होने पर भी वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ है। सर्वार्थसिद्धि में जो दार्शनिक अभ्यास दिखाई देता है उसकी अपेक्षा राजवार्तिक का दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ़ जाता है। राजवार्तिककार का एक ध्रुव मन्त्र यह है कि उसे जिस बात पर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अनेकान्त' का आश्रय लेकर ही कहता है। 'अनेकान्त' राजवार्तिक की प्रत्येक चर्चा की चाबी है। अपने समय तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों ने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किए और अनेकान्तवाद की जो त्रुटियाँ बतलाईं उन सबका निरसन करने और अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप बतलाने के लिए ही

१. सांख्यसाहित्य में भी एक राजवार्तिक नाम का ग्रन्थ था।

अकलङ्क ने प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर सिद्धलक्षणवाली सर्वार्थसिद्धि का आश्रय लेकर अपने राजवार्तिक की भव्य इमारत खड़ी की है। सर्वार्थसिद्धि में जो आगमिक विषयों का अति विस्तार है उसे राजवार्तिककार ने कम कर दिया है[1] और दार्शनिक विषयों को ही प्राधान्य दिया है।

दक्षिण भारत में निवास करते हुए विद्यानन्द ने देखा कि पूर्वकालीन और समकालीन अनेक जैनेतर विद्वानों ने जैन दर्शन पर जो आक्रमण किए हैं उनका उत्तर देना बहुत कुछ शेष है और विशेष कर मीमांसक कुमारिल आदि द्वारा किए गए जैन दर्शन के खंडन का उत्तर दिए बिना उनसे रहा नहीं गया, तभी उन्होंने श्लोकवार्तिक की रचना की। उन्होंने अपना यह उद्देश्य सिद्ध किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में मीमांसा दर्शन का जितना और जैसा सबल खंडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की अन्य किसी टीका में नहीं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में चर्चित कोई भी मुख्य विषय छूटा नहीं; बल्कि बहुत-से स्थानों पर तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी-बहुत कृतियाँ महत्त्व रखती हैं उनमें 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बर साहित्य में एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है जो राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना में बैठ सके। भाष्य में दिखाई देनेवाला साधारण दार्शनिक अभ्यास सर्वार्थसिद्धि में कुछ गहरा बन जाता है और राजवार्तिक में वह विशेष गाढ़ा होकर अंत में श्लोकवार्तिक में खूब जम जाता है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के इतिहासज्ञ अध्येता को मालूम ही हो जाएगा कि दक्षिण भारत में दार्शनिक विद्या और स्पर्धा का जो समय आया और अनेकमुखी पांडित्य विकसित हुआ उसी का प्रतिबिम्ब इन दो ग्रन्थों में है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैन दर्शन का प्रामाणिक अध्ययन करने के पर्याप्त साधन हैं, परन्तु इनमें से राजवार्तिक गद्यमय व सरल तथा विस्तृत होने से तत्त्वार्थ के समस्त टीका-ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ति अकेला ही कर देता है। ये दो वार्तिक यदि नहीं होते तो दसवीं

---

१. तुलना करें—१. ७-८ की सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक।

शताब्दी तक के दिगम्बर साहित्य में जो विशिष्टता आई है और इसकी जो प्रतिष्ठा बँधी है वह निश्चय ही अधूरी रहती। साम्प्रदायिक होने पर भी ये दो वार्तिक अनेक दृष्टियों से भारतीय दार्शनिक साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परम्परा के अनेक विषयों पर तथा अनेक ग्रन्थों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।

(ग) दो वृत्तियाँ

मूल सूत्र पर रची गई व्याख्याओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद अब व्याख्या पर रचित व्याख्याओं का परिचय प्राप्त करना क्रमप्राप्त है। ऐसी दो व्याख्याएँ इस समय पूरी-पूरी उपलब्ध हैं, जो श्वेताम्बर हैं। इन दोनों का मुख्य साम्य संक्षेप में इतना ही है कि ये व्याख्याएँ उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्य को शब्दशः स्पर्श करती हैं और उसका विवरण करती हैं। भाष्य का विवरण करते समय भाष्य का आश्रय लेकर सर्वत्र आगमिक वस्तु का ही प्रतिपादन करना और जहाँ भाष्य आगम से विरुद्ध जाता दिखाई देता हो वहाँ भी अन्ततः आगमिक परम्परा का ही समर्थन करना, यह इन दोनों वृत्तियों का समान ध्येय है। इतना साम्य होते हुए भी इन दोनों वृत्तियों में परस्पर भेद भी है। एक वृत्ति जो प्रमाण में बड़ी है वह एक ही आचार्य की कृति है, जब कि दूसरी छोटी वृत्ति तीन आचार्यों की मिश्र कृति है। लगभग अठारह हजार श्लोक-प्रमाण बड़ी वृत्ति में अध्यायों के अन्त में तो प्रायः 'भाष्यानुसारिणी' इतना ही उल्लेख मिलता है, जब कि छोटी वृत्ति के हर एक अध्याय के अन्त का उल्लेख कुछ न कुछ भिन्न है। कहीं 'हरिभद्रविरचितायाम्' (प्रथमाध्याय की पुष्पिका) तो कहीं 'हरिभद्रोद्धृतायाम्' (द्वितीय, चतुर्थ एवं पंचमाध्याय के अन्त में) है, कहीं 'हरिभद्रारब्धायाम्' (छठे अध्याय के अन्त में) तो कहीं 'प्रारब्धायाम्' (सातवें अध्याय के अन्त में) है, कहीं 'यशोभद्राचार्यनिर्यूढायाम्' (छठे अध्याय के अन्त में) तो कहीं 'यशोभद्रसूरिशिष्यनिर्वाहितायाम्' (दसवें अध्याय के अन्त में) है, बीच में कहीं 'तत्रैवान्यकर्तृकायाम्' (आठवें अध्याय के अन्त में) तथा 'तस्यामेवान्यकर्तृकायाम्' (नवें अध्याय के अन्त में) है। इन सब उल्लेखों में भाषाशैली तथा समुचित संगति का अभाव देखकर कहना पड़ता है कि ये सब उल्लेख उस कर्ता के अपने नहीं हैं। हरिभद्र ने अपने पाँच अध्यायों के अन्त में स्वयं लिखा होता

तो वे 'विरचित' और 'उद्धृत' ऐसे भिन्नार्थक दो शब्द कभी प्रयुक्त नहीं करते जिनसे कोई एक निश्चित अर्थ नहीं निकल सकता कि वह भाग हरिभद्र ने स्वयं नया रचा या किसी एक या अनेक वृत्तियों का संक्षेप-विस्तार रूप में उद्धार किया। इसी प्रकार यशोभद्रलिखित अध्यायों के अन्त में भी एकवाक्यता नहीं है। 'यशोभद्रनिर्वाहितायाम्' शब्द होने पर भी 'अन्यकर्तृकायाम्' लिखना या तो व्यर्थ है या किसी अर्थान्तर का सूचक है।

ये सब असंगतियाँ देखकर अनुमान होता है कि अध्याय के अन्तवाले उल्लेख किसी एक या अनेक लेखकों के द्वारा एक समय में या अलग-अलग समय में नकल करते समय प्रविष्ट हुए हैं। ऐसे उल्लेखों की रचना का आधार यशोभद्र के शिष्य का वह पद्य-गद्य है जो उसने अपनी रचना के प्रारम्भ में लिखा है।

उपर्युक्त उल्लेखों के बाद में जुड़ने की कल्पना का पोषण इससे भी होता है कि अध्यायों के अन्त में पाया जानेवाला 'डुपडुपिकायाम्' पद अनेक जगह त्रुटित है। जो हो, अभी तो उन उल्लेखों के आधार पर निम्नोक्त बातें निष्पन्न होती हैं :

१. तत्त्वार्थ-भाष्य पर हरिभद्र ने वृत्ति लिखी जो पूर्वकालीन या समकालीन छोटी-छोटी खण्डित व अखण्डित वृत्तियों का उद्धार है, क्योंकि उसमें उन वृत्तियों का यथोचित समावेश हो गया है।

२. हरिभद्र की अधूरी वृत्ति को यशोभद्र ने तथा उनके शिष्य ने गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार पर पूरा किया।

३. वृत्ति का डुपडुपिका नाम (अगर यह नाम सत्य तथा ग्रन्थकारों का रखा हुआ हो तो) इसलिए पड़ा जान पड़ता है कि वह टुकड़े-टुकड़े में पूरी हुई, किसी एक के द्वारा पूरी न बन सकी। किसी प्रति में 'दुपदुपिका' पाठान्तर है। 'डुपडुपिका' शब्द इस स्थान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखा-सुना नहीं गया। सम्भव है वह अपभ्रष्ट पाठ हो या कोई देशी शब्द रहा हो। जैसी कि मैंने पहले कल्पना[1] की थी कि उसका अर्थ कदाचित् डोंगी हो, एक विद्वान् मित्र ने यह भी कहा था कि वह संस्कृत उडुपिका का भ्रष्ट पाठ है। पर अब सोचने से वह कल्पना और वह सूचना ठीक नहीं जान पड़ती। यशोभद्र के शिष्य ने अन्त में जो

---

१. देखें—गुजराती तत्त्वार्थ-विवेचन का परिचय, पृ० ८४।

वाक्य लिखा है उससे तो कुछ ऐसा ध्वनित होता है कि यह छोटी वृत्ति थोड़ी एक ने रची, थोड़ी दूसरे ने, थोड़ी तीसरे ने—इस कारण डुपडुपिका बन गई, एक कंथा-सी बन गई।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के साथ सिद्धसेनीय वृत्ति की तुलना करने से इतना तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो भाषा का प्रसाद, रचना की विशदता एवं अर्थ का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में है वह सिद्धसेनीय वृत्ति में नहीं है। इसके दो कारण हैं। एक तो है ग्रन्थकार का प्रकृतिभेद और दूसरा है पराश्रित रचना। सर्वार्थसिद्धि-कार और राजवार्तिककार सूत्रों पर अपना-अपना विवेचन स्वतन्त्र रूप से ही करते हैं।

सिद्धसेन को भाष्य का शब्दशः अनुसरण करते हुए पराश्रित रूप में चलना पड़ा है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीति से सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलोकन करते समय मन पर दो बातें अंकित होती हैं। पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा सिद्धसेनीय वृत्ति की दार्शनिक योग्यता कम नहीं है। पद्धति-भेद होने पर भी समष्टिरूप से इस वृत्ति में भी उन दो ग्रन्थों जितनी ही न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्ध दर्शनों की चर्चा है। दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्ति में दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्त में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की तरह आगमिक परम्परा की प्रबल रूप में स्थापना करते हैं और इसमें उनका प्रचुर आगमिक अध्ययन दिखाई देता है। सिद्धसेन की वृत्ति से ऐसा मालूम होता है कि उनके समय तक तत्त्वार्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची जा चुकी थीं। किसी-किसी स्थल पर एक ही सूत्र के भाष्य का विवरण करते हुए वे पाँच-छः तक मतान्तर निर्दिष्ट करते हैं।[1] इससे यह अनुमान करने का आधार मिलता है कि जब सिद्धसेन ने वृत्ति लिखी तब उनके सामने तत्त्वार्थ पर रची हुई कम-से-कम पाँच टीकाएँ रही होंगी। सिद्धसेन की वृत्ति में तत्त्वार्थगत विषय-सम्बन्धी जो विचार और भाषा की जो पुष्ट शैली दिखाई देती है उससे भलीभाँति मालूम होता है कि इस वृत्ति के पहले तत्त्वार्थ से सम्बन्धित काफी साहित्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लिखा गया और उसमें वृद्धि भी हुई।

१. देखें—५. ३ की सिद्धसेनीय वृत्ति, पृ० ३२१।

(घ) खण्डित वृत्ति

भाष्य पर तीसरी वृत्ति उपाध्याय यशोविजय की है। यदि यह पूर्ण मिल जाती तो सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक प्राप्त होनेवाले भारतीय दर्शनशास्त्र के विकास का एक नमूना पूर्ण करती, ऐसा वर्तमान में उपलब्ध इस वृत्ति के एक छोटे-से खण्ड से ही कहा जा सकता है। यह खण्ड प्रथम अध्याय पर भी पूरा नहीं है और इसमें ऊपर की दो वृत्तियों के समान ही शब्दशः भाष्य का अनुसरण करते हुए विवरण किया गया है। ऐसा होने पर भी इसमें जो गहरी तर्कानुगामी चर्चा, जो बहुश्रुतता एवं जो भावाभिव्यक्ति दिखाई देती है वह यशोविजय की न्यायविशारदता की परिचायक है। यदि इन्होंने यह वृत्ति सम्पूर्ण रची हो तो ढाई सौ वर्षों में ही उसका सर्वनाश हो जाना संभव नहीं लगता, अतः इस पर शोध-कार्य अपेक्षित है।

रत्नसिंह का टिप्पण

'अनेकान्त' वर्ष ३, किरण १ (सन् १९३९) में पं० जुगलकिशोरजी ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की सटिप्पण एक प्रति का परिचय कराया है। इससे ज्ञात होता है कि वह टिप्पण केवल मूलसूत्रस्पर्शी है। टिप्पणकार श्वेताम्बर रत्नसिंह का समय तो ज्ञात नहीं, पर उक्त परिचय में दिए गए अवतरणों की भाषा तथा लेखन-शैली से ऐसा मालूम होता है कि रत्नसिंह १६वीं शताब्दी के पूर्व के शायद ही हों। वह टिप्पण अभी तक छपा नहीं है। लिखित प्रति के आठ पत्र हैं।

ऊपर जो तत्त्वार्थ पर महत्त्वपूर्ण तथा अध्ययन-योग्य थोड़े से ग्रन्थों का परिचय कराया गया है वह केवल इसलिए कि पाठकों की जिज्ञासा जाग्रत हो और उन्हें इस दिशा में विशेष प्रयत्न करने की प्रेरणा मिले। वास्तव में प्रत्येक ग्रन्थ के परिचय के लिए एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है और इन सबके सम्मिलित परिचय के लिए तो एक खासी मोटी पुस्तक की अपेक्षा है जो इस स्थल की मर्यादा के बाहर है। इसलिए इतने ही परिचय से सन्तोष धारण कर विराम लेता हूँ।

—सुखलाल

परिशिष्ट

मैंने पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार से उमा-स्वाति तथा तत्त्वार्थ से सम्बन्धित बातों के विषय में कुछ प्रश्न पूछे थे। उनकी ओर से प्राप्त उत्तर का मुख्य अंश उन्हीं के शब्दों में अपने प्रश्नों के साथ नीचे दिया जाता है। वर्तमान युग के दिगम्बर विद्वानों में, ऐति-हासिक क्षेत्र में, इन दोनों की योग्यता उच्च कोटि की रही है। अतः पाठकों के लिए उनके विचार उपयोगी होने से उन्हें परिशिष्ट के रूप में यहाँ देता हूँ। पं० जुगलकिशोरजी के उत्तर के जिस अंश पर मुझे कुछ कहना है वह उनके पत्र के बाद 'मेरी विचारणा' शीर्षक में कह दिया गया है (आगे पृष्ठ ७६)।

(क) प्रश्न

१. उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य या वंशज हैं, इस भाव का सबसे पुराना उल्लेख किस ग्रंथ, पट्टावली या शिलालेख में आपके देखने में अब तक आया है? अथवा यों कहिए कि दसवीं सदी के पूर्ववर्ती किस ग्रन्थ, पट्टावली आदि में उमास्वाति के कुन्दकुन्द के शिष्य या वंशज होने की बात मिलती है?

२. आपके विचार में पूज्यपाद का समय क्या है? तत्त्वार्थ का श्वेता-म्बर-भाष्य आपके विचार में स्वोपज्ञ है या नहीं? यदि स्वोपज्ञ नहीं है तो उस पक्ष में महत्त्वपूर्ण दलीलें क्या हैं?

३. दिगम्बर परम्परा में कोई 'उच्चनागर' नामक शाखा कभी हुई है और वाचकवंश या वाचकपद धारी मुनियों का कोई गण प्राचीन काल में कभी हुआ है? यदि हुआ है तो उसका वर्णन या उल्लेख कहाँ पर है?

४. मुझे संदेह है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य थे, क्योंकि इसका कोई भी प्राचीन प्रमाण अभी तक मुझे नहीं मिला। जो मिले वे सब बारहवीं सदी के बाद के हैं। इसलिए सरसरी तौर पर जो बात ध्यान में आए सो लिखिएगा।

५. प्रसिद्ध तत्त्वार्थशास्त्र की रचना कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति ने की है, इस मान्यता के लिए दसवीं सदी से प्राचीन क्या-क्या प्रमाण या

उल्लेख हैं ? क्या दिगम्बर साहित्य में दसवीं सदी से पुराना कोई ऐसा उल्लेख है जिसमें कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की रचना करने का सूचन या कथन हो ?

६. '**तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्**' यह पद्य कहाँ का है और कितना पुराना है ?

७. पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि प्राचीन टीकाकारों ने कहीं भी तत्त्वार्थसूत्र-रचयिता के रूप में उमास्वाति का उल्लेख किया है ? यदि नहीं किया है तो बाद में यह मान्यता कैसे चल पड़ी ?

(ख) प्रेमीजी का पत्र

"आपका ता० ६ का कृपापत्र मिला। उमास्वाति कुन्दकुन्द के वंशज हैं, इस बात पर मुझे जरा भी विश्वास नहीं है। यह वंश-कल्पना उस समय की गई है जब तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि टीकाएँ बन चुकी थीं और दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस ग्रंथ को पूर्णतया अपना लिया था। दसवीं शताब्दी के पहले का कोई भी उल्लेख अभी तक मुझे इस सम्बन्ध में नहीं मिला। मेरा विश्वास है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जो बड़े-बड़े विद्वान् ग्रंथकर्ता हुए हैं, प्रायः वे किसी मठ या गद्दी के पट्टधर नहीं थे। परन्तु जिन लोगों ने गुर्वावली या पट्टावली बनाई है उनके मस्तक में यह बात भरी हुई थी कि जितने भी आचार्य या ग्रन्थकर्ता होते हैं वे किसी-न-किसी गद्दी के अधिकारी होते हैं। इसलिए उन्होंने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों को इसी भ्रमात्मक विचार के अनुसार खतौनी कर डाली है और उन्हें पट्टधर बना डाला है। यह तो उन्हें मालूम नहीं था कि उमास्वाति और कुन्दकुन्द किस-किस समय में हुए हैं; परन्तु चूँकि वे बड़े आचार्य थे और प्राचीन थे, इसलिए उनका सम्बन्ध जोड़ दिया और गुरु-शिष्य या शिष्य-गुरु बना दिया। यह सोचने का उन्होंने कष्ट नहीं उठाया कि कुन्दकुन्द कर्नाटक देश के कुंडकुंड ग्राम के निवासी थे और उमास्वाति बिहार में भ्रमण करनेवाले। उनके सम्बन्ध की कल्पना भी एक तरह से असम्भव है।

श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में जो प्राचीन आचार्य-परम्परा दी हुई है उसमें उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नहीं है। श्रुतावतार में कुंदकुंद का उल्लेख है और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है परन्तु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है। इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुरान

नहीं है फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन रचना का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उसका कथन प्रमाणकोटि का है। 'दर्शन-सार' ६६० संवत् का बनाया हुआ है, उसमें पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है परन्तु उमास्वाति का नहीं। जिनसेन के समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे परन्तु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्ताओं की प्रशंसा के प्रसंग में उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं समझते थे। एक बात और है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि के कर्ताओं ने कुन्दकुन्द का भी उल्लेख नहीं किया है, यह एक विचारणीय बात है।

मेरी समझ में कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उन्होंने जैनधर्म को वेदान्त के साँचे में ढाला था। जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ और इसीलिए उनके प्रति उन्हें कोई आदरभाव नहीं था।

'तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्' यह श्लोक मालूम नहीं कहाँ का है और कितना पुराना है। तत्त्वार्थसूत्र की मूल प्रतियों में यह पाया जाता है। कहीं-कहीं कुन्दकुन्द को भी गृध्रपिच्छ लिखा है। गृध्र-पिच्छ नाम के एक और भी आचार्य का उल्लेख है। जैनहितैषी, भाग १०, पृष्ठ ३६९ और भाग १५, अंक ६ के कुन्दकुन्द सम्बन्धी लेख पढ़वा कर देख लीजिएगा।

षट्पाहुड की भूमिका भी पढ़वा लीजिएगा।

श्रुतसागर ने आशाधर के महाभिषेक की टीका संवत् १५८२ में समाप्त की है। अतएव ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के हैं। तत्त्वार्थ की वृत्ति के और षट्पाहुड की तथा यशस्तिलक की टीका के कर्ता भी यही हैं। दूसरे श्रुतसागर के विषय में मुझे मालूम नहीं।"

(ग) जुगलकिशोरजी मुख्तार का पत्र

"आपके प्रश्नों का मैं सरसरी तौर से कुछ उत्तर दिये देता हूँ :

१. अभी तक जो दिगम्बर पट्टावलियाँ ग्रन्थादिकों में दी हुई गुर्वा-वलियों से भिन्न उपलब्ध हुई हैं वे प्रायः विक्रम की १२वीं शताब्दी के बाद की बनी हुई जान पड़ती हैं, ऐसा कहना ठीक होगा। उनमें सबसे पुरानी कौन-सी है और वह कब की बनी हुई है, इस विषय में मैं इस समय कुछ नहीं कह सकता। अधिकांश पट्टावलियों पर निर्माण के सम-

न्यादि का कुछ उल्लेख नहीं है और ऐसा भी अनुभव होता है कि किसी-किसी में अंतिम आदि कुछ भाग पीछे से भी शामिल हुआ है।

कुन्दकुन्द तथा उमास्वाति के सम्बन्धवाले कितने ही शिलालेख तथा प्रशस्तियाँ हैं, परन्तु वे सब इस समय मेरे सामने नहीं हैं। हाँ, श्रवण-बेल्गोल के जैन शिलालेखों का संग्रह इस समय मेरे सामने है, जो माणिकचंद्र दिग० जैन ग्रन्थमाला का २८ वाँ ग्रन्थ है। इसमें ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नम्बर के ७ शिलालेख दोनों के उल्लेख तथा सम्बन्ध को लिये हुए हैं। पहले पाँच लेखों में **'तदन्वये'** पद के द्वारा तथा नं० १०८ में **'वंशे तदीये'** पदों के द्वारा उमास्वाति को कुन्दकुन्द के वश में लिखा है। प्रकृत वाक्यों का उल्लेख 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १५८ पर फुटनोट में भी किया गया है। इनमें सबसे पुराना शिलालेख नं० ४७ है, जो शक सं० १०३७ का लिखा हुआ है।

२. पूज्यपाद का समय विक्रम की छठी शताब्दी है, इसकी विशेष जानकारी के लिए 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १४१ से १४३ तक देखिए। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बरीय भाष्य को मैं अभी तक स्वोपज्ञ नहीं समझता हूँ। उस पर कितना ही संदेह है, जिस सबका उल्लेख करने के लिए मैं इस समय तैयार नहीं हूँ।

३. दिगम्बरीय परम्परा में मुनियों की कोई उच्चनागर शाखा भी हुई है, इसका मुझे अभी तक कुछ पता नहीं है और न 'वाचकवंश' या 'वाचक' पदधारी मुनियों का कोई विशेष हाल मालूम है। हाँ, 'जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय' ग्रन्थ में 'अन्वयावलि' का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द और उमास्वाति दोनों के लिए 'वाचक' पद का प्रयोग किया गया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :

पुष्पदन्तो भूतबलिर्जिनचन्द्रो मुनिः पुनः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञितौ ॥

४. कुन्दकुन्द और उमास्वाति के सम्बन्ध का उल्लेख किया जा चुका है। मैं अभी तक उमास्वाति को कुन्दकुन्द का निकटान्वयी मानता हूँ—शिष्य नहीं। हो सकता है कि वे कुन्दकुन्द के प्रशिष्य रहे हों और इसका उल्लेख मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' में पृ० १५८–१५९ पर भी किया है। उक्त इतिहास में 'उमास्वाति-समय' और 'कुन्दकुन्द-समय' नामक दोनों लेखों को एक बार पढ़ जाना चाहिए।

५. विक्रम की १० वीं शताब्दी से पहले का कोई उल्लेख मेरे देखने में ऐसा नहीं आया जिसमें उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य लिखा हो।

६. **'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्'** यह पद्य तत्त्वार्थसूत्र की बहुत-सी प्रतियों के अन्त में देखा जाता है, परन्तु वह कहाँ का है और कितना पुराना है, यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

७. पूज्यपाद और अकलङ्कदेव के विषय में तो अभी ठीक नहीं कह सकता, परन्तु विद्यानन्द ने तो तत्त्वार्थसूत्र के कर्तारूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है—श्लोकवार्तिक में उनका द्वितीय नाम गृध्रपिच्छाचार्य दिया है और शायद आप्तपरीक्षा-टीका आदि में 'उमास्वाति' नाम का भी उल्लेख है।

इस तरह यह आपके दोनों पत्रों का उत्तर है, जो इस समय बन सका है। विशेष विचार फिर किसी समय किया जाएगा।"

(घ) मेरी विचारणा

विक्रम की ९–१०वीं शताब्दी के दिगम्बराचार्य विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा (श्लोक ११९) की स्वोपज्ञवृत्ति में **तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः** ऐसा कथन किया है और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक की स्वोपज्ञवृत्ति (पृ० ६, पं० ३१) में इन्हीं आचार्य ने **एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता** ऐसा कथन किया है। ये दोनों कथन तत्त्वार्थशास्त्र के उमास्वाति-रचित होने और उमास्वाति तथा गृध्रपिच्छ आचार्य दोनों के अभिन्न होने को सूचित करते हैं ऐसी पं० जुगलकिशोरजी की मान्यता जान पड़ती है। परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, अतः इस विषय में अपनी विचारणा को संक्षेप में बतला देना उचित होगा।

पहले कथन में 'तत्त्वार्थसूत्रकार' यह उमास्वाति वगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वाति का। अब यदि मुख्तारजी के कथनानुसार अर्थ किया जाए तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वाति वगैरह आचार्य तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र का अर्थ यदि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र किया जाए तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है, क्योंकि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र अकेले उमास्वामी द्वारा रचित माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों द्वारा। इससे विशेषणगत तत्त्वार्थसूत्र पद का अर्थ मात्र तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र न करके 'जिन-कथित तत्त्वप्रतिपादक सभी ग्रन्थ' इतना करना चाहिए। इस अर्थ से

फलित होता है जिन-कथित तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थ के रचनेवाले उमास्वामी वगैरह आचार्य। इस फलित अर्थ के अनुसार सीधे तौर पर इतना ही कह सकते हैं कि विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वामी भी जिन-कथित तत्त्वप्रतिपादक किसी ग्रन्थ के प्रणेता हैं। यह ग्रन्थ भले ही विद्यानन्द की दृष्टि में तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र ही हो, परन्तु इसका यह आशय उक्त कथन में से दूसरे आधारों के बिना सीधे तौर पर नहीं निकलता। इससे विद्यानन्द के आप्तपरीक्षागत पूर्वोक्त कथन से हम इतना ही आशय निकाल सकते हैं कि उमास्वामी ने जैन तत्त्व पर कोई ग्रन्थ अवश्य रचा है।

पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र का पहला मोक्षमार्गविषयक सूत्र सर्वज्ञवीतराग-प्रणीत है, इस बात को सिद्ध करनेवाली अनुमान-चर्चा में आया है। इस अनुमान-चर्चा में मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ-वीतरागप्रणीतत्व साध्य है और सूत्रत्व हेतु है। इस हेतु में व्यभिचारदोष का निरसन करते हुए विद्यानन्द ने 'एतेन' इत्यादि कथन किया है। व्यभिचारदोष पक्ष से भिन्न स्थल में संभवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्गविषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्र ही है, इससे व्यभिचार का विषयभूत माना जानेवाला गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों का सूत्र विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वाति के पक्षभूत मोक्षमार्ग-विषयक प्रथम सूत्र से भिन्न ही होना चाहिए। यह बात ऐसी है कि न्यायविद्या के अभ्यासी को शायद ही समझानी पड़े। विद्यानन्द की दृष्टि में पक्षरूप उमास्वाति के सूत्र की अपेक्षा व्यभिचार के विषयरूप से कल्पित किया सूत्र अलग ही है, इसीसे उन्होंने इस व्यभिचारदोष का निवारण करने के बाद हेतु में असिद्धता दोष को दूर करते हुए 'प्रकृतसूत्रे' कहा है। प्रकृत अर्थात् जिसकी चर्चा प्रस्तुत है वह उमास्वामी का मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र। असिद्धता दोष का निवारण करते हुए सूत्र को 'प्रकृत' विशेषण दिया है और व्यभिचार दोष को दूर करते हुए वह विशेषण नहीं दिया तथा पक्षरूप सूत्र में व्यभिचार नहीं आता, यह भी नहीं कहा, बल्कि स्पष्ट रूप से यह कहा है कि गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों के सूत्रों में व्यभिचार नहीं आता। यह सब निर्विवादरूप से यही सूचित करता है कि विद्यानन्द उमास्वामी से गृध्रपिच्छ को भिन्न ही समझते हैं, दोनों को एक नहीं। इसी अभिप्राय की पुष्टि में एक दलील यह भी है कि विद्यानन्द यदि गृध्रपिच्छ और उमास्वामी को अभिन्न ही समझते

होते तो एक जगह उमास्वामी और दूसरी जगह 'गृध्रपिच्छ आचार्य' इतना विशेषण ही उनके लिए प्रयुक्त न करते बल्कि 'गृध्रपिच्छ' के बाद वे 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग करते। उक्त दोनों कथनों की मेरी विचारणा यदि असत्य न हो तो यह फलित होता है कि विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वामी तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र के प्रणेता होंगे, परन्तु उनकी दृष्टि में गृध्रपिच्छ और उमास्वामी ये दोनों निश्चय ही भिन्न होने चाहिए।

गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ आदि विशेषणों की सृष्टि नग्नत्वमूलक वस्त्र-पात्र के त्यागवाली दिगम्बर भावना में से हुई है। यदि विद्यानन्द ने उमास्वामी को निश्चयपूर्वक दिगम्बर समझा होता तो वे उनके नाम के साथ प्राचीन समय में लगाए जानेवाले गृध्रपिच्छ आदि विशेषण जरूर लगाते। अतएव कह सकते हैं कि विद्यानन्द ने उमास्वामी को श्वेताम्बर, दिगम्बर या किसी तीसरे सम्प्रदाय का सूचित ही नहीं किया है।

—सुखलाल

अध्ययन विषयक सूचनाएँ

जैन दर्शन का प्रामाणिक अध्ययन करने के इच्छुक जैन-जैनेतर विद्यार्थी एवं शिक्षक यह पूछते हैं कि ऐसी एक पुस्तक कौन-सी है जिसका संक्षिप्त तथा विस्तृत अध्ययन किया जा सके और उससे जैन दर्शन में सन्निहित मुद्दों के प्रत्येक विषय का ज्ञान हो सके। इस प्रश्न के उत्तर में 'तत्त्वार्थ' के सिवाय अन्य किसी पुस्तक का निर्देश नहीं किया जा सकता। तत्त्वार्थ की इतनी योग्यता होने से आजकल जहाँ-तहाँ जैन दर्शन के पाठ्य-क्रम में इसका सर्वप्रथम स्थान रहता है। फिर भी उसकी अध्ययन-परिपाटी की जो रूपरेखा है वह विशेष फलप्रद प्रतीत नहीं होती। इसलिए उसकी अध्ययन-पद्धति के विषय में यहाँ पर कुछ सूचनाएँ देना अप्रासंगिक न होगा।

सामान्यतः तत्त्वार्थ के श्वेतांबर पाठक उसकी दिगम्बर टीकाओं को नहीं देखते और दिगम्बर पाठक श्वेताम्बर टीकाओं को नहीं देखते। इसका कारण संकुचित दृष्टि, साम्प्रदायिक अभिनिवेश, जानकारी का अभाव अथवा चाहे जो हो पर अगर यह धारणा सही हो तो इसके कारण पाठक का ज्ञान कितना संकुचित रहता है, उसकी जिज्ञासा कितनी अपरितृप्त रहती है और उसकी तुलना तथा परीक्षण करने की शक्ति कितनी कुंठित रहती है तथा उसके परिणामस्वरूप तत्त्वार्थ के पाठक का प्रामाण्य कितना अल्प निर्मित होता है, इसे समझने के लिए वर्तमान की सभी जैन संस्थाओं के विद्यार्थियों से अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के मार्ग में, जिज्ञासा के क्षेत्र में और सत्यान्वेषण में चौका-बंदी को अर्थात् दृष्टि-संकोच या सम्प्रदाय-मोह को स्थान हो तो उससे मूल वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। जो तुलना के विचार मात्र से ही डर जाते हैं वे या तो अपने पक्ष की प्रामाणिकता तथा सबलता के विषय में शंकित होते हैं या दूसरे के पक्ष के सामने खड़े होने की शक्ति कम रखते हैं अथवा असत्य को छोड़कर सत्य को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं तथा अपनी सत्य बात को भी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बुद्धिबल और धैर्य नहीं रखते। ज्ञान का अर्थ यही है कि संकुचितता, बंधन और

अवरोधों का अतिक्रमण कर आत्मा को विस्तृत किया जाए और सत्य के लिए गहरा उतरा जाए। इसलिए शिक्षकों के समक्ष निम्नोक्त पद्धति रखता हूँ। वे इस पद्धति को अन्तिम न मानकर उसमें भी अनुभव से सुधार करें और वास्तव में तो अध्ययन करनेवाले अपने विद्यार्थियों को साधन बनाकर स्वयं तैयार हों।

१. मूलसूत्र का सरलतापूर्वक जो अर्थ हो वह किया जाय।

२. भाष्य सर्वार्थसिद्धि इन दोनों में से किसी एक टीका को मुख्य रख उसे पहले पढ़ाया जाए और फिर तुरत ही दूसरी। इस वाचन में नीचे की खास बातों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जाए—

(क) कौन-कौन से विषय भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि में एक समान हैं और समानता होने पर भी भाषा तथा प्रतिपादन-शैली में कितना अन्तर पड़ता है ?

(ख) कौन-कौन से विषय एक में हैं और दूसरे में नहीं ? अगर हैं तो रूपान्तर से जो विषय दूसरे में छोड़ दिए गए हों या जिनको नवीन रूप से चर्चा की गई हो वे कौन से हैं और इसका कारण क्या है ?

(ग) उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार भाष्य और सर्वार्थसिद्धि इन दोनों का पृथक्करण करने के बाद जो विद्यार्थी अधिक योग्य हो उसे 'प्रस्तावना' में दी हुई तुलना के अनुसार अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलना करने के लिए प्रेरित किया जाए और जो विद्यार्थी साधारण हो उसे भविष्य में ऐसी तुलना करने की दृष्टि से कुछ रोचक सूचनाएँ की जाएँ।

(घ) ऊपर दी हुई सूचना के अनुसार पाठ पढ़ाने के बाद पढ़े हुए उसी सूत्र का राजवार्तिक स्वयं पढ़ जाने के लिए विद्यार्थियों से कहा जाए। वे यह सम्पूर्ण राजवार्तिक पढ़ कर उसमें से पूछने योग्य प्रश्न या समझने के विषय नोट करके दूसरे दिन शिक्षक के सामने रखें। इस चर्चा के समय शिक्षक यथासम्भव विद्यार्थियों में ही परस्पर चर्चा करा कर उनके द्वारा ही (स्वयं केवल तटस्थ सहायक रह कर) कहलवाए। भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा राजवार्तिक में क्या कम हुआ है, कितनी वृद्धि हुई है, क्या-क्या नवीन है—यह जानने की दृष्टि विद्यार्थियों में परिमार्जित हो।

३. इस तरह भाष्य और सर्वार्थसिद्धि का अध्ययन राजवार्तिक के अवलोकन के बाद पुष्ट होने पर उक्त तीनों ग्रन्थों में नहीं हों, ऐसे और

खास ध्यान देने योग्य जो-जो विषय श्लोकवार्तिक में चर्चित हों उन विषयों की सूची तैयार करके रखना एवं अनुकूलता के अनुसार उन्हें विद्यार्थियों को पढ़ाना या स्वयं पढ़ने के लिए कहना चाहिए। इतना होने के बाद सूत्र की उक्त चारों टीकाओं ने क्रमशः कितना और किस-किस प्रकार का विकास किया है और ऐसा करने में उन-उन टीकाओं ने अन्य दर्शनों से कितना लाभ उठाया है या अन्य दर्शनों को उनकी क्या देन है, ये सभी बातें विद्यार्थियों को समझानी चाहिए।

४. किसी परिस्थिति के कारण राजवार्तिक का पठन-पाठन सम्भव न हो तथापि श्लोकवार्तिक के समान राजवार्तिक में भी जो-जो विषय अधिक सुन्दर रूप में चर्चित हों और जिनका जैन-दर्शन के अनुसार बहुत अधिक महत्त्व हो उनकी एक सूची तैयार करना तो विद्यार्थियों को सिखाना ही चाहिए। भाष्य और सर्वार्थसिद्धि ये दो ग्रन्थ पाठ्यक्रम में नियत हों और राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के वे विशिष्ट प्रकरण भी सम्मिलित किए जाएँ जो उक्त दोनों ग्रन्थों में अचर्चित हों एवं शेष सभी अवशिष्ट विषय ऐच्छिक रहें। उदाहरणार्थ राजवार्तिक की सप्तभंगी और अनेकान्तवाद की चर्चा तथा श्लोकवार्तिक की सर्वज्ञ, आप्त, जगत्कर्ता आदि की, नय की, वाद की और पृथ्वी-भ्रमण की चर्चा। इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनीय वृत्ति से विशिष्ट चर्चावाले भागों को छाँटकर उन्हें पाठ्यक्रम में रखना चाहिए। उदाहरणार्थ १. १; ५. २९, ३१ के भाष्य की वृत्ति में आई हुई चर्चाएँ।

५. अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले शिक्षक तत्त्वार्थ का बाह्य और आभ्यन्तरिक परिचय कराने के लिए विद्यार्थियों के समक्ष रुचिकर प्रवचन करे एवं उनमें दिलचस्पी पैदा करे। दर्शनों के इतिहास एवं क्रम-विकास की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए बीच-बीच में प्रसंगानुसार समुचित प्रवचनों की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

६. भूगोल, खगोल, स्वर्ग तथा पाताल विषयक विद्या के तीसरे एवं चौथे अध्याय के शिक्षण के विषय में दो विरोधी पक्ष हैं। एक पक्ष उसे शिक्षण में रखने का विरोध करता है, जब कि दूसरा उस शिक्षण के बिना सर्वज्ञ-दर्शन के अध्ययन को अधूरा मानता है। ये दोनों एकान्त (आग्रह) की अन्तिम सीमाएँ हैं। इसलिए शिक्षक के लिए यही समुचित है कि वह इन दोनों अध्यायों का शिक्षण देते हुए भी उसके पीछे

रही हुई दृष्टि में परिवर्तन करे। तीसरे एवं चौथे अध्याय का सारा वर्णन सर्वज्ञ-कथित है, इसमें किंचित् भी परिवर्तन या संशोधन नहीं हो सकता, आजकल के सभी वैज्ञानिक अन्वेषण और विचार जैन-शास्त्रों के विरुद्ध होने के कारण सर्वथा मिथ्या एवं त्याज्य हैं—इस प्रकार का आग्रह रखने की अपेक्षा एक समय आर्यदर्शनों में स्वर्ग-नरक, भूगोल-खगोल विषयक कैसी-कैसी मान्यताएँ प्रचलित थीं और इन मान्यताओं में जैन-दर्शन का क्या स्थान है—इस ऐतिहासिक दृष्टि से इन अध्यायों का शिक्षण दिया जाए तो मिथ्या समझकर त्याग देने योग्य विषयों में भी जानने योग्य बहुत-कुछ बच रहता है। इससे सत्य-शोधन के लिए जिज्ञासा का क्षेत्र तैयार होता है और जो सत्य है उसे बुद्धि की कसौटी पर कसने की विशेष प्रेरणा मिलती है।

७. उच्चस्तरीय विद्यार्थियों तथा गवेषकों के लिए मैं कुछ सूचनाएँ और भी करना चाहता हूँ। पहली बात तो यह है कि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य आदि मे आए हुए मुद्दों का उद्गमस्थान किन-किन श्वेताम्बर तथा दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थों में है, यह ऐतिहासिक दृष्टि से देखना चाहिए और फिर उनकी तुलना करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि उन मुद्दों के विषय में बौद्ध पिटक तथा महायान शाखा के अमुक ग्रन्थ क्या कहते हैं, उनमें इस विषय का कैसा वर्णन है, यह देखना चाहिए। सभी वैदिक दर्शनों के मूल सूत्रों और भाष्यों से एतद्विषयक सीधी जानकारी प्राप्त करके उनकी तुलना करनी चाहिए। मैंने ऐसा किया है और मेरा अनुभव है कि तत्त्वज्ञान तथा आचार के क्षेत्र में भारतीय आत्मा एक है। अस्तु, ऐसा अध्ययन किए बिना तत्त्वार्थ का पूरा महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

८. यदि प्रस्तुत हिन्दी विवेचन द्वारा ही तत्त्वार्थसूत्र पढ़ाया जाए तो शिक्षक पहले एक-एक सूत्र लेकर उसके सभी विषय मौखिक रूप में समझा दे और उसमें विद्यार्थियों का प्रवेश हो जाने पर उस-उस भाग के प्रस्तुत विवेचन का वाचन स्वयं विद्यार्थियों से ही कराए और प्रश्नों के द्वारा विश्वास कर ले कि विषय उनकी समझ में आ गया है।

९. प्रस्तुत विवेचन द्वारा एक संदर्भ पर्यंत सूत्र अथवा संपूर्ण अध्याय की पढ़ाई होने के बाद 'प्रस्तावना' में निर्दिष्ट तुलनात्मक दृष्टि के आधार पर शिक्षक सक्षम विद्यार्थियों के समक्ष पढ़ाए गए विषयों की स्पष्ट तुलना करे।

उपर्युक्त पद्धति के अनुसार शिक्षण देने में निःसंदेह शिक्षक पर भार बढ़ता है, पर उस भार को उत्साह और बुद्धिपूर्वक उठाए बिना शिक्षक का स्थान उच्च नहीं बन सकता और विद्यार्थी-वर्ग भी विचारदरिद्र ही रह जाता है। इसलिए शिक्षक को अधिक से अधिक तैयारी करनी चाहिए और उसकी सफलता के लिए विद्यार्थियों का मानस तैयार करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से तो ऐसा करना अनिवाय है ही, पर वर्तमान ज्ञान-प्रवाह को देखते हुए सबके साथ समान रूप से बैठने की व्यावहारिक दृष्टि से भी यह अनिवार्य है।

—सुखलाल

तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ

तत्त्वार्थसूत्र का कौन-सा पाठ मूल रूप में दोनों परम्पराओं में विद्यमान है, यह कहना बहुत ही कठिन है। यदि साम्प्रदायिक भावना से अलग रहकर विचार किया जाए तो यह प्रश्न ऐतिहासिक महत्त्व का बन जाता है। तत्त्वार्थसूत्र आगमिक काल के अन्त की रचना है। उसके तुरन्त बाद ही उत्तर से आकर पश्चिम और दक्षिण में केन्द्रित जैन-संघ निश्चित रूप से श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदायों में विभक्त हो गया। दक्षिण में गये तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में काफी परिवर्तन हुए, जो इस समय दिगम्बर सूत्रपाठ और सर्वार्थसिद्धि के रूप में उपलब्ध हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म के इतिहास के एक ऐसे मोड़ पर खड़ा हुआ जहाँ से उसने दोनों परम्पराओं को सहसा प्रभावित किया।

कठिनाई यह है कि इस जटिल समस्या के समाधान के लिए प्रामाणिक साक्ष्यों का प्रायः अभाव है। यहाँ इसके समाधान का प्रयास निम्न तीन पहलुओं से किया जा रहा है—१. भाषागत परिवर्तन, २. प्रत्येक आवृत्ति में सूत्रों का विलोपन और ३. सूत्रगत मतभेद। यहाँ यह कहना अभीष्ट होगा कि इस समस्या के समाधान में मुख्यतया अंतिम दो साधनों का उपयोग किया गया है परन्तु तार्किक दृष्टि से समुचित निर्णय के लिए वे पूर्णतः सक्षम सिद्ध नहीं हुए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि भाषागत अध्ययन भी विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ, यद्यपि यह साधन सर्वाधिक प्रामाणिक है। यहाँ यह संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारी एक समस्या उसके भाष्य के विषय में भी है। वह स्वोपज्ञ है या नहीं, इसका अध्ययन यहाँ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह स्वयं में एक बड़ी समस्या है और इस विषय पर स्वतंत्र रूप से लिखा जा सकता है।

हम इस विवेचन का श्रीगणेश तत्त्वार्थसूत्र के दोनों पाठों में आए हुए भाषागत परिवर्तन की छान-बीन से करेंगे। इसके लिए संबंधित सूत्रों को उनकी विशेषताओं के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है और उनका मूल्यांकन इस आधार पर किया गया है कि कहाँ

संदर्भ की दृष्टि से अर्थ की स्पष्टता अधिक है। प्रत्येक वर्ग के अंत में दी हुई संख्या इस प्रकार के मूल्यांकन की सूचक है। कोष्ठक के बाहर की संख्या श्वेताम्बर सूत्रों, छोटे कोष्ठक ( ) के भीतर की संख्या दिगम्बर सूत्रों तथा बड़े कोष्ठक [ ] के भीतर की संख्या अनिर्णीत सूत्रों का निर्देश करती है। उदाहरणार्थ ३, (२), [१] का तात्पर्य यह है कि इस वर्ग के कुल छः सूत्रों में से श्वेताम्बर सम्मत तीन सूत्र और दिगम्बर सम्मत दो सूत्र अर्थ की दृष्टि से अधिक स्पष्ट हैं तथा एक सूत्र के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। दिगम्बर सूत्रों को सर्वत्र श्वेताम्बर सूत्रों के अनन्तर रखा गया है तथा उनके सूत्रांक छोटे कोष्ठक में दिए गए हैं। सभी स्रोतों से जो भी सामग्री संकलित की गई है वह परिपूर्ण तो नहीं है तथापि किसी यथेष्ट निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अपर्याप्त भी नहीं है। इस विवेचन में निम्नोक्त ग्रंथों का उपयोग किया गया है—श्री केशवलाल प्रेमचन्द मोदी द्वारा संपादित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सभाष्य), कलकत्ता, १९०३ और पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा संपादित सर्वार्थसिद्धि, बनारस, १९७१। इस निबन्ध को तैयार करने में डा० कृष्णकुमार दीक्षित ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इसके लिए मैं उनकी अत्यन्त आभारी हूँ।

१. भाषागत परिवर्तन

१. शब्दों एवं सूत्रों का क्रम

१. १ : २२, २ : ३५ ····**नारक-देवानाम्** **नारक-देवानाम्**··········
(२१), (३४)····**देव-नारकाणाम्** **देव-नारकाणाम्**··········

आगम में चार गतियों का वर्णन नियमानुसार निम्न से उच्च की ओर किया गया है, क्योंकि तीन लोकों का वर्णन इसी क्रम से है। श्वेताम्बर पाठ आगम से साम्य रखता है, जब कि दिगम्बर पाठ व्याकरणानुसार है।

०, (०), [२]

२. ६ : ६ **अव्रत-कषायेन्द्रिय-क्रिया**····
(५) **इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः** ····
६ : ७ ····**भाव-वीर्याधिकरण**····
(६) ····**भावाधिकरण-वीर्य**····

८ : १० ····कषाय-नोकषाय····

(९) ····अकषाय-कषाय

सूत्र ६ : (५) में शब्दक्रम मानसिक किंवा आत्मिक प्रक्रिया पर आधारित कार्य-कारणभाव के क्रमानुसार प्रतीत होता है अथवा साम्प-रायिक आस्रव के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण के रूप में इन्द्रिय पर बल दिया गया है। स्थानांग ५.२.५१७ और समवायांग ५ में मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव-द्वार बतलाए गए हैं। इन्हें तत्त्वार्थसूत्र ८ : १ में बन्ध के कारण कहा गया है। बाद के ग्रंथों में प्रमाद को प्रायः अविरति अथवा कषाय के अंतर्गत रखा गया है। सूत्र ६ : ६ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने आग-मिक परंपरा का अनुगमन किया है। सूत्र ६ : ७ में यह अधिक स्पष्ट है—प्रथम, क्योंकि भाव और वीर्य क्रिया के आत्मिक और कायिक रूप हैं; द्वितीय, क्योंकि अधिकरण का अगले ही सूत्र में प्रतिपादन किया गया है। सूत्र ८ : १० का श्वेताम्बर पाठ व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। कर्मशास्त्रियों ने नोकषाय शब्द का एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग किया है। अकषाय शब्द अर्थ के विषय में भ्रम में डालने वाला है।

२, (०), [१]

३. ९ : ३१ (३२) वेदनायाश्च

३२ (३१) विपरीतं मनोज्ञस्य

सूत्र ९ : ३१ (३२) अमनोज्ञ से संबंधित है, अतः दक्षिण (दिग-म्बर) पाठ का ठीक अर्थ नहीं निकलता है।

१, (०), [०]

२. संयुक्तीकरण

५ : २२ वर्तना परिणामः क्रिया····

(२२) वर्तनापरिणामक्रियाः ····

६ : १३ भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयम····

(१२) भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयम····

शब्दों के संयुक्तीकरण से अभिव्यक्ति के अधिक सौष्ठव की प्रतीति के बावजूद प्रत्येक की महत्त्वपूर्ण अवधारणा की अनुभूति में कुछ कमी आ जाती है, अतः श्वेताम्बर पाठ अधिक उपयुक्त है।

२, (०), [०]

३. शब्दविन्यास

१. ६ : १६ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः
(१५) ,, ,, नारकस्यायुषः
७ : ४ ....इहामुत्र च....
(९) ....इहामुत्र....
७ : ७ ....स्वभावौ च संवेग....
(१२) .... ,, वा ,, ...

सूत्र ६ : १६ एवं ७ : ४ में 'च' संयोजक अनावश्यक है, किन्तु सूत्र ७ : ७ (१२) में 'वा' के स्थान पर 'च' अधिक उपयुक्त है।

१, (२), [०]

२. १ : २७ ....सर्व-द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु [५ : २ भाष्य—उक्तं हि....द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु....]
(२६) ....द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु
२ : ५ ....दानादि-लब्धय....
(५) ....लब्धय....
२ : ७ जीव भव्याभव्यत्वादीनि च
(७) जीव-भव्याभव्यत्वानि च
२ : २१ ....शब्दास्तेषामर्थाः
(२०) ....शब्दास्तदर्थाः
३ : १ ....ऽधोऽधः पृथुतराः [भाष्य–रत्नप्रभा....सप्त अधोऽधः]
(१) ....ऽधोऽधः
४ : ९ ....प्रवीचाराः द्वयोर्द्वयोः
(८) ....प्रवीचाराः
४ : १३ ....सूर्याश्चन्द्रमसो....
(१२) ....सूर्याचन्द्रमसो....
४ : ५२ जघन्या त्वष्टभागः
(४१) तदष्ट-भागोऽपरा
६ : १५ ....तीव्रात्म-परिणाम....
(१४) ....तीव्र परिणाम....
६ : २३ ....संघ-साधु-समाधि....
(२४) ....साधु-समाधि....
७ : २९ ....आदान-निक्षेप....

(३४) ····**आदान**····

७ : ३२ ····**निदान-करणानि**

(३७) ····**निदानानि**

१० : ६ ····**परिणामाच्च तद्गतिः**

(६) ····**परिणामाच्च**

सूत्र १ : (२६) में 'सर्व' शब्द जोड़ देने से उसके अर्थ की संदिग्धता दूर हो जाती है। 'लब्धि' शब्द अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, अतः सूत्र २ : ५ में 'दानादि' शब्द आवश्यक है। सूत्र २ : ७ में 'आदीनि' शब्द जीव के उन भावों के लिए प्रयुक्त किया गया है जिनका उल्लेख पूर्व के सूत्रों में नहीं हुआ है, उदाहरणार्थ कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि। 'च' शब्द से वैसा अर्थ प्रकट नहीं हो सकता। उससे द्रव्य के सामान्य स्वरूप जैसे अस्तित्व, गुणवत्त्व आदि का ही बोध होता है। इसलिए इस सूत्र में 'आदीनि' शब्द अपेक्षित है। सूत्र २ : (२०) में 'तद्' शब्द से अस्पष्टता उत्पन्न होती है। सूत्र ३ : १ में 'पृथुतराः' शब्द होने से जैनमतानुसार अधोलोक की रचना का तात्पर्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। सूत्र ४ : ९ का श्वेताम्बर पाठ अर्थ को अधिक स्पष्ट करता है। सूत्र ४ : १३ में जैनमतानुसार चन्द्र और सूर्य की अनेकता को सुस्पष्ट किया गया है। सूत्र ४ : ५२ (४१) में श्वेताम्बर पाठ से अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। 'परिणाम' शब्द कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है, इसलिए सूत्र ६ : १५ में 'आत्म-परिणाम' शब्द अधिक स्पष्ट अर्थ का द्योतक है। 'संघ' एक स्वतंत्र अवधारणा है, अतः सूत्र ६ : (२४) में उसका समावेश आवश्यक है। 'आदान-निक्षेप' एक पारिभाषिक शब्द है, अतः यह उसी प्रकार रखा जाना चाहिए जैसे सूत्र ७ : २९ में है। जहाँ तक सूत्र ७ : ३२ (३७) का प्रश्न है, शेष सभी शब्द संज्ञा और क्रिया के संयुक्तरूप में हैं, इसलिए 'निदान-करणानि' पाठ अधिक संगत है। सूत्र १० : ६ (६) का विषय 'तद्-गति' है, इसलिए उसका उल्लेख सूत्र में होना चाहिए।

१३, (०), [०]

३. १ : २३ **यथोक्त-निमित्तः**·········· [**भाष्य—यथोक्त-निमित्तः क्षयोपशम-निमित्त इत्यर्थः**]

(२२) **क्षयोपशम-निमित्तः** ····

२ : ३८ तेषां परंपरं सूक्ष्मम्
(३७) परंपरं सूक्ष्मम्
३ : १० तत्र भरत····
(१०) भरत····
६ : २२ विपरीतं शुभस्य
(२३) तद्-विपरीतं शुभस्य
७ : ६ मैत्री-प्रमोद कारुण्य-माध्यस्थानि सत्त्व-गुण····
(११) ,, ,, ,, च सत्त्व-गुण····
८ : ७ मत्यादीनाम्
(६) मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम्
८ : १४ दानादीनाम् [भाष्य—अन्तरायः पञ्चविधः/ तद्यथा-दानस्यान्तरायः, लाभस्यान्तरायः ····]
(१३) दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम्
९ : १८ ····यथाख्यातानि चारित्रम्
(१८) ····यथाख्यातमिति चारित्रम्

यहाँ श्वेताम्बर पाठ में भाष्य के व्याख्यात्मक शब्द जोड़ देने से, या अनावश्यक शब्द निकाल देने से, या कम-से-कम शब्द बढ़ा देने से बननेवाले दिगम्बर सूत्रों द्वारा अधिक स्पष्ट अर्थ प्रकट होता है। सूत्र ८ : ७ और १४ में प्रयुक्त 'आदि' शब्द के लिए पिछले सूत्र १ : ९ और २ : ४ देखने चाहिए। सर्वार्थसिद्धि के उल्लेखानुसार सूत्र ९ : (१८) में प्रयुक्त 'इति' शब्द के समाप्तिसूचक होने से सूत्र ९ : २ (२) के व्याख्यान की समाप्ति का संकेत मिल जाता है जिससे स्पष्टीकरण में निश्चित रूप से सुविधा होती है।

०, (८), [०]

४. ३ : २ तासु नरकाः [भाष्य—रत्नप्रभायां नरकवासानां त्रिंशच्छतसहस्राणि/शेषासु पञ्चविंशतिः ········नरक-शतसहस्रम्—इत्याषष्ठ्याः]
(२) तासु त्रिंशत्-पंचविंशति····यथाक्रमम्
७ : २७ ··· पभोगाधिकत्वानि
(३२) पभोग-परिभोगानर्थक्यानि
८ : ८ ····स्त्यानगृद्धि-वेदनीयानि च
(७) ···स्त्यानगृद्धयश्च

ये सूत्र विभिन्न प्रकार के हैं। इनके पाठभेद का मूल्यांकन करना जरा कठिन है। सूत्र ८ : ८ में प्रत्येक प्रकार की निद्रा के साथ 'वेदनीय' शब्द जोड़ देने से उसकी अनुभूति का निश्चित भाव प्रकट होता है। वैसे इस शब्द को सूत्र से निकाल देने पर भी उसके भाव में कमी नहीं आती है।

०, (०), [३]

योग ११, (१०), [६]········३५

४. दो सूत्रों की एक सूत्र में अभिव्यक्ति

१. दिगम्बर पाठ के दो सूत्रों का श्वेताम्बर पाठ के एक सूत्र में समावेश—

५ : २ **द्रव्याणि जीवाश्च**

(२-३) **द्रव्याणि/जीवाश्च**

६ : १८ **अल्पारम्भ परिग्रहत्वं स्वभाव-मार्दवार्जवं च मानुषस्य**

(१७-१८) **अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य/स्वभाव-मार्दवं च**

यहाँ सूत्र ५:२ का सूत्र (२) और (३) में विभाजन उचित मालूम पड़ता है। सूत्र ६:१८ में 'आर्जव' शब्द का रहना ठीक ही है, क्योंकि अल्पारम्भ आदि एवं स्वभाव-मार्दव आदि की अवधारणा में बहुत अन्तर नहीं है। ०, (१), [१]

२. श्वेताम्बर पाठ के दो सूत्रों का दिगम्बर पाठ के एक सूत्र में समावेश—

१ : २१-२२ **द्वि-विधोऽवधिः/भव-प्रत्ययो नारक-देवानाम्**

(२१) **भव-प्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम्**

५ : ७-८ **असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः/जीवस्य**

(८) **असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्**

६ : ३-४ **शुभः पुण्यस्य/अशुभः पापस्य**

(३) **शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य**

८ : २-३ **सकषायत्वाज्जीवः ····पुद्गलान् आदत्ते/स बन्धः**

(२) **सकषायत्वाज्जीवः ····पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः**

९ : २७-२८ **····ध्यानम्/आ-मुहूर्तात्**

(२७) **····ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्**

१० : २-३ **बन्ध-हेत्वभाव-निर्जराभ्याम्/कृत्स्न-कर्म-क्षयो मोक्षः**

(२) **बन्ध-हेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः**

इनमें दिगम्बर सूत्रकार का प्रयत्न एक ही विषय से संबंधित दो सूत्रों को एक सूत्र में निबद्ध करना रहा है। सूत्र १:२१-२२ अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं। श्वेताम्बर सूत्र ५:७-८ ठीक हैं, क्योंकि धर्म-अधर्म और जीव दो विभिन्न वर्गों से संबंधित हैं। सूत्र ६:३-४ को एक सूत्र में भी रखा जा सकता है किन्तु जोर देने के लिए ही संभवत: इन्हें दो सूत्रों में रखा गया है। इस ग्रन्थ में जो शब्द 'स' सर्वनाम से प्रारम्भ होता है उससे बिना अपवाद के नए सूत्र का निर्माण होता है, जैसे २:८-९ (८-९), ६:१-२ (१-२), ८:२२-२३ (२२-२३) तथा ९:१-२ (१-२)। यह नि:संदेह सूत्रकार की रचना-शैली है। यही शैली सूत्र ८:२-३ में भी है। सूत्र ९:२७-२८ या ९: (२७) में ध्याता, ध्यान एवं उसके काल की परिभाषा दी गई है। इसमें तीन भिन्न-भिन्न बातें समाविष्ट हैं, अत: प्रत्येक का स्वतंत्र रूप से विचार करना उचित था। इस दृष्टि से कोई भी पाठ ठीक नहीं है। श्वेताम्बर सूत्र १०:२ का कोई औचित्य नहीं है। इसके भाष्य से स्पष्ट है कि इसे सूत्र १०:१ के साथ होना चाहिए, क्योंकि इसमें जीवन्मुक्ति के कारणों का उल्लेख है। केवलज्ञान के प्रकट होने के कारणों का उल्लेख सूत्र १०:१ में कर दिया गया है और वे ही जीवन्मुक्ति की अवस्था को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं। अत: सूत्र १०:२ व्यर्थ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इससे विरोध भी उत्पन्न होता है। सयोग-केवली अवस्था में अन्त तक तीन प्रकार के योग रहते हैं, इसलिए ईर्यापथिक बन्ध का कारण उस समय भी उपस्थित रहता है, यद्यपि बन्ध की स्थिति अति अल्पकाल की होती है। अत: यह कथन कि 'बन्ध-हेतु-अभाव' सयोग-केवलित्व के प्राप्त होने का कारण है, ठीक नहीं है। सूत्र १०:२ के भाष्य में **हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भाव:** लिखा है। इसमें **हेत्वभावात्** से **बन्धहेत्वभावात्** अर्थ ही निकलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि सूत्र १०:२ भी विदेहमुक्ति के कारण के रूप में है। अत: सूत्र १०:२ संदिग्ध है। इसलिए स्पष्टता की दृष्टि से दिगम्बर पाठ ठीक है।

३, (१), [२]

योग ३, (२), [३]........८

कुल योग २२, (१२), [९]....४३

भाषागत परिवर्तन के विश्लेषण से प्रतीत होता है कि दोनों परंपराओं में मान्य तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त ४३ उदाहरणों में से २२

श्वेताम्बर-सम्मत पाठ अधिक स्पष्ट अर्थवाले हैं, जब कि दिगम्बर पाठ में ऐसे केवल १२ ही उदाहरण हैं, शेष ९ उदाहरण अनिर्णीत हैं। व्याकरण और पदविन्यास की दृष्टि से पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ के सूत्रों को निम्न रूप में परिमार्जित किया है—१. एक तरह के भावों का संयुक्तीकरण करने के लिए दो सूत्रों का एक सूत्र में समावेश, २. शब्द-क्रम की समायोजना, ३ अनावश्यक शब्दों को निकालना एवं स्पष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए कम से कम शब्दों को जोड़ना तथा ४. 'इति' शब्द द्वारा सूत्रों को वर्ग में बाँटना। ऐसा करने में तकनीकी दृष्टि से बहुत-सी गलतियाँ हुई हैं जिससे सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझने में कठिनाई होती है। इसका एक कारण है आगमिक परम्परा का दक्षिण भारत में अभाव और दूसरा है सूत्रकार की वास्तविक स्थिति को न समझना जिसने जैन सिद्धान्त को तथा अन्य मतों को बराबर ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की। फिर भी इस छानबीन से स्पष्ट है कि भाषागत अध्ययन से किसी ऐसे निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता जिसके यह कहा जा सके कि अमुक परंपरा में तत्त्वार्थसूत्र मूल रूप में है और अमुक ने दूसरे से लिया है। उपर्युक्त आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर पाठ आगमिक संदर्भ की दृष्टि से दिगम्बर पाठ से अधिक संगत है।

२. प्रत्येक आवृत्ति में सूत्रों का विलोपन

१. दिगम्बर पाठ में सूत्रों का विलोपन

२ : १९ उपयोगः स्पर्शादिषु
४ : ४९-५१ ग्रहाणामेकम्/नक्षत्राणामर्धम्/तारकाणां चतुर्भागः
४ : ५३ चतुर्भागः शेषाणाम्
५ : ४२-४४ अनादिरादिमांश्च/रूपिष्वादिमान्/योगोपयोगौ जीवेषु
९ : ३८ उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च

तत्त्वार्थसूत्र के कलकत्ता-संस्करण में यह लिखा है कि हस्तप्रति 'के' के किनारे पर ऐसा उल्लेख है कि कुछ आचार्य सूत्र २:१९ को भाष्य का अंश मानते हैं, किन्तु सिद्धसेन ने इसे सूत्ररूप में ही स्वीकार किया है। संभवतः दिगम्बर पाठ में इसे भाष्य का अंश मानकर छोड़ दिया

गया। सूत्र ४:४९-५१ और ५३ छोटे हैं जिन्हें निकाल देने पर संदर्भ में कोई कमी नहीं आती। सूत्र ५:४२-४४ में परिणाम की व्याख्या दोषपूर्ण है, अतः इनका विलोपन ठीक ही है जिसका विवेचन पं० सुखलालजी ने कर ही दिया है। सूत्र ९:३८ के विलोपन के संबंध में तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर टीकाकारों का अपना मत है। इस प्रकार श्वेताम्बर पाठ को दिगम्बर पाठ में साररूप से सुसमाहित किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्वेताम्बर पाठ मूल है और दिगम्बर पाठ में उसका परिष्कार किया गया है, क्योंकि बाद की आवृत्ति पूर्व आवृत्ति को परिष्कृत करने के बजाय बिगाड़ भी सकती है।

२. श्वेताम्बर पाठ में सूत्रों का विलोपन

१. ४ : (४२) **लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्**
   ६ : (२१) **सम्यक्त्वं च**

२. २ : (४८) **तैजसमपि [४९ भाष्य—तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति]**
   २ : (५२) **शेषास्त्रिवेदाः [५१ भाष्य—परिशेष्याच्च गम्यन्ते जराय्वण्ड-पोतजास्त्रिविधा भवन्ति–स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानीति]**
   ७ : (४-८) [भावनाओं का वर्णन सूत्र ३ के भाष्य में है, यद्यपि दोनों पाठों में थोड़ी भिन्नता है।]
   ८ : (२६) **अतोऽन्यत्पापम्** [२६ भाष्य—**अतोऽन्यत्पापम्**]
   १० : (७) **आविद्ध-कुलाल - चक्रवद्-व्यपगत - लेपालाबुवद् - एरण्ड-बीजवद्-अग्नि-शिखावच्च** [१० : ७ उपसंहारकारिका १०-१२ और १४ में नहीं अपितु ६ भाष्य में आत्मा के ऊर्ध्वगमन के दूसरे एवं चौथे कारण की अभिव्यक्ति थोड़ी उलझनपूर्ण है।]
   १० : (८) **धर्मास्तिकायाभावात्** [६ भाष्य और उपसंहारकारिका २२—**धर्मास्तिकायाभावात्**]

३. ३ : (१२-३२) [जम्बूद्वीप का वर्णन। दिगम्बर सूत्र (२४) का **भरतः षड्विंशति-पञ्च-योजन-शत-विस्तारः षड्-चैकोन-विंशति-भागा योजनस्य** और (२५) का **तद्-द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदे-**

हान्ताः ११ भाष्य में इस प्रकार हैं—तत्र पंच योजनशतानि षड्विंशानि षट्चैकोन-विंशति-भागा भरतविष्कम्भः स द्विर्द्विर्हिमवद्-धैमवतादीनामा-विदेहेभ्यः । सूत्र (२७) का भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ४ : १५ भाष्य में इस प्रकार है—ता अनुलोम-प्रतिलोमा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यो भरतैरावतेष्वनाद्यनन्तं परि-वर्तन्तेऽहो-रात्रवत् ।]

४. ५ : (२९) सद्-द्रव्य-लक्षणम्

प्रथम वर्ग के सूत्र छोटे हैं, इसलिए उनके विलोपन से संदर्भ में कमी नहीं आती । द्वितीय वर्ग के सभी दिगम्बर सूत्र भाष्य में उपलब्ध हैं, यहाँ तक कि कुछ तो शब्दशः हैं । भावनाओं के वर्णन से पूर्व सूत्र ७ : ३ (३) में इस प्रकार उल्लेख है—तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च । पदार्थों (भेदों) के उपभेद गिनाते समय सूत्रकार यथाक्रमम् शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ होता है 'सूत्रोक्तक्रम के अनुसार आगे का विवेचन करना ।' सूत्र ७ : ३ (३) में यथाक्रमम् शब्द नहीं है, अतः भावनाओं का आगे विवेचन अभिप्रेत नहीं है । इससे यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर सूत्र ७ : (३) मूल नहीं है । इसी प्रकार सूत्र ३ : (२) है जिसमें परिगणित नरकों का आगे विवेचन नहीं है ।

तृतीय वर्ग के दिगम्बर सूत्र ३ : (१२-३२) अर्थात् तीसरे अध्याय के ३९ सूत्रों में से २१ श्वेताम्बर आवृत्ति में अनुपलब्ध हैं । इनमें से तीन सूत्र अर्थात् (२४,२५, २७) ३ : ११ और ४ : १५ के भाष्य में उपलब्ध हैं, यद्यपि उनमें शब्दशः साम्य नहीं है । यहाँ पर विलुप्त सूत्रों की संख्या बहुत अधिक है, अतः श्वेताम्बर आवृत्ति में जम्बूद्वीप का वर्णन ऊर्ध्व-लोक की तुलना में बहुत संक्षिप्त है । इन अतिरिक्त सूत्रों में निम्नोक्त बातें समाविष्ट हैं—१. जम्बूद्वीप का वर्णन जैसे पर्वत, ह्रद, सरित् और क्षेत्र-विस्तार (१२-२६); २. विभिन्न क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरों में वृद्धि और ह्रास तथा मनुष्यों की आयु (२७-३१); ३. भरतक्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग (३२) । इनमें से प्रथम वर्ग के सूत्रों से जम्बूद्वीप की भौगोलिक रचना के संबंध में निश्चित जानकारी प्राप्त होती है जिसका श्वेताम्बर आवृत्ति में क्षेत्रों और पर्वतों द्वारा केवल निर्देश किया गया है । द्वितीय एवं

तृतीय वर्ग के सूत्र अधिक महत्त्व के हैं। इनमें से विशेष महत्त्वपूर्ण सभी सूत्र भाष्य में उपलब्ध हैं। समग्ररूप से देखा जाए तो इन सूत्रों का अधिक महत्त्व है क्योंकि पश्चिमी परंपरा की हस्तलिखित प्रतियों में इस अध्याय में इन दिगम्बर सूत्रों का अधिक से अधिक समावेश हुआ है। जम्बूद्वीपसमास नामक एक अन्य प्रकरण में, जिसके रचयिता उमास्वाति ही माने जाते हैं, छः क्षेत्रों और छः पर्वतों का भौगोलिक वर्णन इसी क्रम से है। इसमें मध्य के कुरु और विदेह के चार क्षेत्रों का छोड़ दिया गया है जिनका वर्णन द्वितीय आह्निक में किया गया है। इसमें हिमवान् पर्वत के वर्णन में उसके रंग की चर्चा है [तुलना करें—सूत्र ३ : (१२)]। तत्पश्चात् उस पर अवस्थित ह्रद का नाम [तुलना करें—सूत्र (१४)], उसका विस्तार [तुलना करें—सूत्र (१५-१६)], उसके बीच में एक योजन का पुष्कर [तुलना करें—सूत्र (१७)], उसमें निवास करनेवाली देवी का नाम [तुलना करें—सूत्र (१९)], उससे प्रवहमान युग्म सरिताओं के नाम [तुलना करें—सूत्र (२०)] और उनकी दिशाओं का वर्णन है [तुलना करें—सूत्र (२१-२२)]। प्रत्येक वर्षधर पर्वत के वर्णन में उसके रंग एवं ह्रदों, देवियों और नदियों के नामों तथा नदियों की दिशाओं का निर्देश है। तत्त्वार्थसूत्र में शिखरी पर्वत को हेम रंग का कहा गया है, जब कि जम्बूद्वीपसमास में उसे तपनीय रंगवाला माना गया है। सूत्र ३ : (१६) चतुर्थ आह्निक में भी है—**वापी-कुण्ड-ह्रदा दशावगाहाः**। इसी प्रकार सूत्र ३ : (२६) और (३२) भी इस आह्निक में हैं—**मेरूत्तरासु विपर्ययः** तथा **रूपादि-द्विगुण-राशिगुणो द्वीप-व्यासो नवति-शत-विभक्तो भरतादिषु विष्कम्भः**।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर सूत्रों ३ : (१२-३२) की रचना भाष्य और जम्बूद्वीपसमास के आधार पर की गई है। तार्किक दृष्टि से दूसरे रूप में यह भी कहा जा सकता है कि भाष्य तथा जम्बूद्वीपसमास की रचना दिगम्बर पाठ के आधार पर की गई है। श्वेताम्बर पाठ के १-३ वर्गों के सूत्रों के विलोपन के आधार पर अब तक जो विश्लेषण किया गया उससे यह प्रमाणित होता है कि श्वेताम्बर पाठ मूल रूप में है, क्योंकि सूत्र-शैली में **यथाक्रमम्** शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। किन्तु इसके आधार पर संपूर्ण पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। सामान्य तौर से देखा जाए तो शब्दों एवं सूत्रों के विलोपन या वृद्धिकरण से किसी एक पाठ की प्रामाणिकता निश्चित रूप से सिद्ध नहीं हो सकती जिससे यह कहा जा सके कि दूसरा पाठ उस

पर आधृत है। अब तक का हमारा प्रयत्न अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रहा है।

अब चतुर्थ वर्ग के सूत्रों की छानबीन करें। श्वेताम्बर आवृत्ति में **सद्-द्रव्य-लक्षणम्** ५ : (२९) सूत्र नहीं है, जब कि दिगम्बर आवृत्ति में **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्** [२९ (३०)] के ठीक पहले यह सूत्र आया है। यहाँ प्रश्न यह है कि सत् का यह कथन किस संदर्भ में है ? इसका पुद्गल के अन्तर्गत अर्थात् सूत्र ५ : २३-३६ के सन्दर्भ में निरूपण किया गया है जिनमें से सूत्र २५-२८ और ३२-३६ में अणु-स्कंधों का इस प्रकार वर्णन है :

अणु-स्कन्ध { २५-२८ { २५ अणु-स्कन्ध पुद्गल के भेदों के रूप में
२६–२७ अणु-स्कन्ध की उत्पत्ति
२८ स्कन्ध के चाक्षुष होने का हेतु
३२–३६ पौद्गलिक बन्ध की प्रक्रिया

सत्-नित्यत्व { २९ सत् की त्रिरूपात्मक व्याख्या
३० नित्यत्व की व्याख्या
३१ सूत्र २९–३० की युक्तियुक्तता

(द्रव्य ३७–४४ गुण-पर्याय-परिणाम, काल)

इन सूत्रों की समायोजना से आश्चर्य होता है कि सूत्र ५ : २९–३१ अणु-स्कन्ध के साथ क्यों रखे गए हैं जब कि द्रव्य के साथ उनका निरूपण करना उचित था। इस समस्या के हल के लिए इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है कि सूत्र ५ : (२९) बाद में जोड़ा गया या नहीं।

सूत्र ५ : २८ के भाष्य में लिखा है—**धर्मादीनि सन्तीति कथं गृह्यत इति/अत्रोच्यते/लक्षणतः।** इसमें स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि द्रव्य सत्-लक्षणयुक्त है, जैसा कि सूत्र ५ : (२९) की सर्वार्थसिद्धि में **यत् सत् तद् द्रव्यमित्यर्थः** के रूप में है। भाष्य में यह फलितार्थ है। भाष्य यह प्रतिपादित करता है कि सत् के स्वरूप के आधार पर ही इन द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। इससे अगले सूत्र की भूमिका बनती है। पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने की यह आनुमानिक पद्धति जैन आगम की नहीं है। इसका स्रोत उमास्वाति के समय विद्यमान जैनेतर साहित्य में ढूंढ़ना चाहिए। चन्द्रानन्दकृत वैशेषिकसूत्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में लिखा है—**सदकारणवत् तन्नित्यम्। १। तस्य कार्यं लिङ्गम्। २। कारणाभावाद्धि कार्याभावः। ३। अनित्यम्—इति च विशेष-प्रतिषेध-भावः। ४। महत्यनेकद्रव्यत्वात् रूपाच्चोप-**

लक्षिवः । ६ । अद्रव्यवत्त्वात् परमाणवनुपलब्धिः । ७ । संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि-द्रव्य-समवायात् चाक्षुषानि । १२ । अरूपिष्वचाक्षुषत्वात् । १३ ।—परमाणु की सत्ता का अनुमान उसके कार्य से होता है, क्योंकि परमाणु नित्य और अचाक्षुष है। जो महत् है वह चाक्षुष होता है क्योंकि उसमें अनेक द्रव्य हैं और वह रूपी है। रूपी द्रव्य के साथ संख्या आदि विविध गुणों का जो समवाय सम्बन्ध है उसी के कारण पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। जो सत् और कारणरहित है उसे नित्य कहा गया है। अतः यहाँ सत्-नित्य, अणु-स्कन्ध और चाक्षुष-अचाक्षुष की समस्या उठाई गई है और वस्तुतः परमाणु-महत् के इसी सन्दर्भ में सत्सामान्य का विषय लिया गया है। दूसरे शब्दों में, सूत्र ५ : २९–३१ में सत्-नित्य सम्बन्धी जो व्याख्या है वह अणु-स्कन्ध के उत्पाद और चाक्षुषत्व को लेकर है अर्थात् पुद्गल के ही सन्दर्भ में है, न कि द्रव्य के सम्बन्ध से सत् के स्वरूप के विषय में। यदि इस प्रकार के सत् का स्वरूप सूत्रकार को अभीष्ट होता तो द्रव्य के विषय में भी यही प्रश्न उठाया जाता, जैसा कि पंचास्तिकाय में है, किन्तु यहाँ वैसा अभीष्ट नहीं था। इसलिए **सद्-द्रव्य-लक्षणम्** सूत्र प्रस्तुत संदर्भ में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता और बाद में जोड़ा गया मालूम होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्र ५ : (२९) तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ नहीं है।

जहाँ तक दोनों आवृत्तियों में सूत्रों के विलोपन का प्रश्न है जिनका कि ऊपर चार वर्गों में विचार किया गया है, दिगम्बर पाठ श्वेताम्बर पाठ से अधिक संशोधित प्रतीत होता है। यह संशोधन प्रथम वर्ग के सूत्र ५ : ४२–४४ के त्रुटिपूर्ण परिणाम-स्वरूप को हटाकर, द्वितीय वर्ग के सूत्र में भाष्य ७ : ३ की महत्त्वपूर्ण भावनाओं की वृद्धि करके और तृतीय एवं चतुर्थ वर्ग के सूत्र ३ : (१२–३२) एवं ५ : (२९) की पूर्ति करके किया गया है जो निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। पश्चिमी भारत की परम्परा की हस्तलिखित प्रतियों में भी द्वितीय वर्ग के दिगम्बर सूत्र ८ : (२६) एवं १० : (७–८) का प्रायः सम्मिश्रण है। यों किसी भी पाठ की मौलिकता-अमौलिकता को सिद्ध करने का निश्चित आधार केवल चतुर्थ वर्ग का सूत्र ५ : (२९) ही है किंतु गौण प्रमाण के रूप में सूत्रकार की शैली भी है जो द्वितीय वर्ग के सूत्र ७ : ३ (३) और ७ : (४–८) के संबंध से ज्ञात होती है।

३. सूत्रगत मतभेद

निम्नोक्त आठ विषय और दो प्रकरण मुख्य मतभेद के विषय हैं, जिनका बाद में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा। इनमें दोनों परम्पराओं की सैद्धान्तिक विषमताओं तथा तत्त्वार्थसूत्र के दोनों संस्करणों में उपलब्ध विभिन्न मतों का समावेश किया गया है। हम सर्व-प्रथम दोनों संस्करणों में प्राप्त मतभेद के आठ विषयों की चर्चा करेंगे।

१. १ : ३४–३५ नय पाँच प्रकार के हैं : नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द।
—आवस्सय निज्जुत्ति १४४ से यह समर्थित है।

(३३) समभिरूढ़ और एवंभूत के समाविष्ट करने पर इनकी संख्या सात हो जाती है।
—अनुओगदार ९५३; आवस्सय निज्जुत्ति ७५४

सिद्धसेन दिवाकर ने छः नय भी माने हैं परन्तु दोनों परंपराओं के अधिकांश विद्वान् सात नय ही मानते हैं। अतः इस प्रकार की भिन्नता को, जिसका विकास विभिन्न स्तरों पर हुआ होगा, वस्तुतः मतभेद नहीं कहा जा सकता।

२. २ : १३–१४ स्थावर तीन प्रकार के हैं : पृथ्वी, अप् और वनस्पति।
तेजस् और वायु त्रस हैं।
—ठाण ३. ३. २१५; जीवाजीवाभिगम १. २२ आदि; उत्तरज्झयण ३६. ६०–७० आदि।

(१३) स्थावर पाँच प्रकार के हैं : पृथ्वी से वनस्पति पर्यन्त।
—ठाण ५. १. ४८८; प्रशमरति १९२

३. २ : ३१ अन्तराल-गति में जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है।
—भगवई ७. १. २५९; सूयगड निज्जुत्ति १७४

(३०) दो समय तक ही रहता है।
—पण्णवणा ११७५ अ (दीक्षित, जैन ऑण्टोलॉजी, पृ० ८७)

४.	२ : ४९	आहारक-शरीर चतुर्दश-पूर्वधर के होता है।
	(४९)	यह प्रमत्त-संयत के होता है।
		—पण्णवणा २१. ५७५

यथार्थतः यह मतभेद नहीं है अपितु व्याख्यात्मक भिन्नता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के अनुसार आहारक-शरीर केवल चतुर्दश-पूर्वधर के ही होता है तथा उसके प्रयोग के समय वह अनिवार्यतः प्रमत्त-संयत होता है। दोनों परंपराओं के अनुसार सभी प्रमत्त-संयत आहारक-शरीरवाले नहीं होते।

५.	४ : २	ज्योतिष्कों के तेजोलेश्या होती है तथा भवनवासी एवं व्यन्तरों के चार लेश्याएँ होती हैं—कृष्ण से तेजस् तक।
		—ठाण १. ७२
	(२)	चार लेश्याएँ तीन देव-निकायों में पायी जाती हैं—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क।
६.	४ : ३, २०	बारह कल्प।
		—आगम में १२ कल्प एकमत से मान्य हैं : पण्णवणा ५. २४३; उत्तरज्झयण ३६. २११–१२
	(३, १९)	सूत्र ४ : (३) में १२ कल्प माने गए हैं किन्तु सूत्र ४ : (१९) में १६ कल्प गिनाए गए हैं।
		—तिलोयपण्णत्ति ८. ११४ में ५२ कल्पों की गणना की गई है।
७.	५ : ३८	कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं।
	(३९)	काल भी द्रव्य है।

आगमिक परंपरा में लोक का विवेचन पाँच अस्तिकायों अथवा छः द्रव्यों के रूप में किया गया है। द्वितीय मत में काल को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है, जैसे उत्तरज्झयण २८. ७–८। प्रथम मत में काल को या तो पाँच अस्तिकायों से बिलकुल अलग रखा गया या उसे जीव और अजीव के पर्याय के रूप में माना गया। अतएव इस विषय में कोई सैद्धान्तिक विषमता नहीं है।

८.	८ : २६	सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद का पुण्य-कर्मों में समावेश।

(२५) इनका पुण्य-कर्मों में असमावेश।

सिद्धसेनगणि ने इन चार कर्मों को पुण्य के अन्तर्गत रखना उचित नहीं माना है, किन्तु उन्होंने ऐसी कारिकाएं उद्धृत की हैं जिनसे दोनों मतों का समर्थन होता है।

उपर्युक्त आठ विषयों में से तीन में अर्थात् दूसरे, तीसरे और आठवें में दोनों मतों की पुष्टि आगमिक परंपरा द्वारा होती है; तीन में अर्थात् पहले, चौथे और सातवें में वास्तव में मतभेद नहीं है; शेष दो अर्थात् पांचवां और छठा विशेष महत्त्व के नहीं हैं। दोनों परंपराओं के ग्रंथों में उपलब्ध इन विभिन्न मतों से यह निर्णय नहीं हो सकता कि कौन-सा पाठ मूल है। यहां भी हमें निराशा ही होती है।

अब हम मतभेद के दो प्रकरणों की छानबीन करेंगे। ये इस प्रकार हैं—१. पौद्गलिक बन्ध के नियम और २. परीषह। द्वितीय प्रकरण में दोनों आवृत्तियों का सूत्र अभिन्न है, जब कि प्रथम प्रकरण में सूत्रों में थोड़ी भिन्नता है।

१. पौद्गलिक बन्ध के नियम

सूत्र ५ : ३२–३६ (३३–३७) में पौद्गलिक बन्ध का निरूपण इस प्रकार किया गया है :

५ : ३२ (३३) **स्निग्ध-रूक्षत्वाद्-बन्धः**
३३ (३४) **न जघन्य-गुणानाम्**
३४ (३५) **गुण-साम्ये सदृशानाम्**
३५ (३६) **द्व्यधिकादि-गुणानां तु**
३६ **बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ**
(३७) **बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च**

दोनों पाठों में उपर्युक्त सूत्र अभिन्न रूप में हैं, केवल सूत्र ३६ (३७) में थोड़ी भिन्नता है। सूत्र ५ : ३३–३५ (३४–३६), जिनमें बन्ध के नियमों का पुद्गल के सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के गुणांशों की दृष्टि से निरूपण किया गया है, दोनों परंपराओं में बिना किसी पाठ-भेद के उपलब्ध हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से उनकी टीकाओं में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :

गुणांश	श्वे० टीकाएँ		दिग० टीकाएँ	
	सदृश	असदृश	सदृश	असदृश
१. जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२. जघन्य+एकाधिक	नहीं	है	नहीं	नहीं
३. जघन्य+द्वयधिक	है	है	नहीं	नहीं
४. जघन्य+त्र्यादि अधिक	है	है	नहीं	नहीं
५. जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	है	नहीं	नहीं
६. जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है	नहीं	नहीं
७. जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है	है	है
८. जघन्येतर+त्र्यादि जघन्येतर	है	है	नहीं	नहीं

अभिन्न सूत्रों के अर्थ में इतनी भिन्नता का होना आश्चर्य की बात है। सूत्र ३३-३५ (३४-३६) में प्रतिपादित पौद्गलिक बन्ध के नियमों के परिप्रेक्ष्य में आठों उदाहरणों में बन्ध की सम्भावना और असम्भावना की गवेषणा से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि ये सूत्र श्वेताम्बर परम्परा-सम्मत अर्थ के अनुरूप हैं, दिगम्बर परम्परा-सम्मत अर्थ से इनका तालमेल नहीं बैठता। इन सूत्रों के भाष्य से सूत्रों से अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती, यद्यपि कुछ उदाहरणों के द्वारा उन्हें समझने में सहायता मिलती है। वास्तव में सूत्र ३३-३५ के लिए भाष्य की विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपना अर्थ स्पष्ट करने में ये स्वयं सक्षम हैं। तब प्रश्न उठता है कि दिगम्बर टीकाओं में इन सूत्रों का इतना भिन्न अर्थ क्यों किया गया है ? इसकी छानबीन सर्वार्थसिद्धि के अनुसार की जाएगी, क्योंकि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक में पूज्यपाद से भिन्न कुछ भी नहीं कहा गया है।

पूज्यपाद ने सूत्र ५ : (३५) के सदृश शब्द का अर्थ 'तुल्य-जातीय' किया है जो श्वेताम्बर परम्परा से असंगत नहीं है। 'समान गुणांश होने पर सदृश परमाणुओं का बन्ध नहीं होता'—सूत्र (३५) का यह अर्थ निम्नोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है :

१. असदृश दो स्निग्ध+दो रूक्ष; तीन स्निग्ध+तीन रूक्ष
२. सदृश दो स्निग्ध+दो स्निग्ध; दो रूक्ष+दो रूक्ष

यहाँ निषेध का नियम असदृश उदाहरणों पर भी लागू किया गया है जिससे सूत्र के कथन का निश्चित रूप से खण्डन होता है। अतएव

यह प्रश्न उठता है—**यद्येवं सदृश-ग्रहणं किमर्थम् ?** जिसका यह उत्तर दिया गया है—**गुण-वैषम्ये सदृशानामपि बन्ध-प्रतिपत्त्यर्थं सदृश-ग्रहणं क्रियते।** यह उत्तर निःसंदेह सूत्र ५ : ३४ के भाष्य से लिया गया है। **सदृशानाम्** शब्द की अस्पष्ट स्थिति की आगे छानबीन नहीं की गई है। पौद्गलिक बन्ध के होने या न होने की बात सर्वार्थसिद्धि में संक्षेप में इस प्रकार है :

१. सम गुणांश	(अ) सदृश परमाणुओं में	(नहीं)
	(ब) असदृश परमाणुओं में	(नहीं)
२. विषम गुणांश	(अ) सदृश परमाणुओं में	(है)
	(ब) असदृश परमाणुओं में	(है)

अंतिम अवस्था अर्थात् २ (ब) का इसमें प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु अगले सूत्र से इस प्रकार के बन्ध की सम्भावना का बोध अवश्य हो जाता है। टीकाकार स्वयं यह स्वीकार करता है कि **सदृशानाम्** शब्द का इस संदर्भ में कोई अर्थ नहीं है। वास्तव में यह अनावश्यक है क्योंकि इससे दिगम्बर सिद्धान्त के अनुसार होनेवाले पौद्गलिक बन्ध के स्वरूप के विषय में भ्रम पैदा होता है।

सूत्र (३६) में दो गुणांश अधिक वाले परमाणुओं का बन्ध माना गया है। यहाँ **द्व्यधिकादि** शब्द का अर्थ 'द्व्यधिकता' किया गया है। इस सूत्र में अभिप्रेत बन्ध का स्वरूप पूज्यपाद की दृष्टि में इस प्रकार है :

१. असदृश	दो स्निग्ध + चार स्निग्ध; तीन स्निग्ध + पाँच स्निग्ध;
	चार स्निग्ध + छः स्निग्ध········
	दो रूक्ष + चार रूक्ष आदि
२. असदृश	दो स्निग्ध + चार रूक्ष आदि

इस प्रकार सूत्र (३६) की टीकानुसार पौद्गलिक बन्ध के होने या न होने की स्थिति इस प्रकार है :

१. दो गुणांश अधिक	(अ) सदृश परमाणुओं में	(है)
	(ब) असदृश परमाणुओं में	(है)
२. अन्य गुणांश	(अ) सदृश परमाणुओं में	(नहीं)
	(ब) असदृश परमाणुओं में	(नहीं)

सूत्र (३६) के इन नियमों द्वारा सूत्र (३५) के कथन का खण्डन होता है। सूत्र (३५) सर्वथा महत्त्वहीन एवं अनावश्यक है। पूज्यपाद ने दिगम्बर परम्परानुसार पौद्गलिक बन्ध के नियमों को स्पष्ट करने के लिए षट्खण्डागम ५. ६. ३६ से निम्न पद्य उद्धृत किया है :

> णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिएण।
> णिद्धस्स लुक्खेण हवदि बंधो जहण्ण वज्जे विसमे समे वा॥

इस पद्य में निम्न बातें समाविष्ट हैं :

१. दो गुणांश अधिक वालों का बन्ध होता है : { (अ) सदृश परमाणुओं में; (ब) असदृश परमाणुओं में

२. इस नियम में जघन्य गुणांशवालों का समावेश नहीं होता है : { (अ) सदृश परमाणुओं में; (ब) असदृश परमाणुओं में

इन नियमों का, जिनमें दिगम्बर परम्परा मान्य उपर्युक्त पौद्गलिक बन्ध के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है, सूत्र (३४) और (३६) के साथ तालमेल है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र (३५) अनावश्यक है। चूँकि दिगम्बर दृष्टि से पौद्गलिक बन्ध के लिए सूत्र ५ : (३५) में प्रयुक्त **गुण-साम्ये** शब्द महत्त्वहीन है अतः **सम** शब्द को सूत्र ५ : ३६ से निकाल देना पड़ता है जिससे सूत्र (३७) के पाठ में थोड़ा-सी भिन्नता आ जाती है। इसी प्रकार सूत्र ५ : (३५) के **सदृशानाम्** शब्द का इन नियमों से कोई तालमेल नहीं है। इसीलिए सर्वार्थसिद्धि में इस शब्द की व्याख्या इतनी उलझनपूर्ण है।

सूत्र ५ : (३५) का स्वरूप त्रुटिपूर्ण होने से दिगम्बर सिद्धान्तानुसार पौद्गलिक बन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के बजाय भ्रान्ति उत्पन्न करता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि सर्वार्थसिद्धि के ये सूत्र मौलिक नहीं हैं। सूत्र (३५) बिना किसी विशेष विचार के अन्य सूत्रों के साथ अपना लिया गया मालूम होता है। इसीलिए **द्व्यधिकादि** शब्द का अर्थ 'द्व्यधिकता' किया गया प्रतीत होता है जो कि अप्रचलित और असंगत है। जहाँ 'द्व्यधिक' शब्द किसी भ्रम को प्रश्रय देनेवाला नहीं है वहाँ उसे षट्खंडागम के अनुकूल बना दिया गया है।

२. परीषह

९ : ११ (११) एकादश जिने

सूत्र ९ : ११ (११) इस प्रकार है—एकादश जिने अर्थात् जिन के ग्यारह परीषह होते हैं जो वेदनीय कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं। वे ये हैं : क्षुत्, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण-स्पर्श और मल। सप्तमी के एकवचन में प्रयुक्त जिने शब्द से यह अभिव्यक्त नहीं होता कि वह केवल सयोग-केवली के लिए प्रयुक्त हुआ है अथवा सयोग-केवली एवं अयोग-केवली दोनों के लिए। इस सूत्र की टीकाएँ अर्थात् भाष्य और सर्वार्थसिद्धि से लेकर श्रुतसागर की वृत्ति तक सभी इस विषय में मौन हैं। भगवतीसूत्र ८. ८. ३४२ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि ये ग्यारह परीषह केवलित्व की दोनों अवस्थाओं में होते हैं। अयोग-केवली, जिसका काल अंतर्मुहूर्त मात्र होता है, योग से सर्वथा मुक्त होता है, अतः उसके परीषह होने की कोई सम्भावना ही नहीं। इसलिए 'जिन' शब्द केवल सयोग-केवली के लिए ही प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए।

सूत्र ९ : ११ (११) दोनों परम्पराओं में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार सयोग-केवली का वेदनीय कर्म उतना ही प्रभावकारी होता है जितने कि शेष तीन प्रकार के अघातिक कर्म, अतः इस सूत्र का श्वेताम्बर मान्यता से सर्वथा मेल है। दिगम्बर परम्परा में इस सूत्र का वही अर्थ नहीं है अपितु विपरीत अर्थ है अथवा तर्क के आधार पर सिद्धान्तरूप में यदि यह अर्थ मान लिया जाए तब भी उसमें 'उपचार' के रूप में ही यह स्वीकार किया गया है। दिगम्बर टीकाकार यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिनों के क्षुधा आदि परीषह नहीं होते क्योंकि उनके मोहनीय कर्म नहीं होता जो कि असाता-वेदना का सहायक कारण है, यद्यपि द्रव्यरूप में वेदनीय कर्म उनमें विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में, उनमें वेदनीय कर्म द्रव्यरूप में रहता है किन्तु भावरूप में नहीं रहता, इसलिए उनके असाता-वेदना नहीं होती। सर्वार्थसिद्धि में इसके लिए 'उपचार' का सहारा लिया गया है और इसी आधार पर सूत्र का तर्कसंगत अर्थ भी स्वीकार किया गया है—ननु च मोहनीयोदय-सहायाभावात् क्षुदादि-वेदनाभावे परीषह-व्यपदेशो न युक्तः? सत्यमेवमेतत्—वेदनाभावेऽपि द्रव्य-कर्म-सद्-भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते, निरवशेषनिरस्त·······ज्ञानातिशये चिन्ता-निरोधाभावेऽपि तत्-फल-कर्म-निर्हरण-फलापेक्षया ध्यानोपचारवत्। अन्य दिगम्बर टीकाकारों ने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया है। दोनों परंपराओं में

सैद्धान्तिक भिन्नता होने के कारण ही इस सूत्र के अर्थ में मतभेद है। यह भिन्नता केवली में कवलाहार मानने और न मानने के कारण है। दिगम्बर मतानुसार यह सूत्र ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इस सूत्र में 'न' शब्द का अध्याहार करके उसका अर्थ करना चाहिए, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि में किया गया है—**अथवा— एकादश जिने 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्।**

तब इस संदर्भ में 'उपचार' की सार्थकता कैसे समझी जाए? पूज्यपाद के कथनानुसार जिन के परीषह परीषह नहीं होते क्योंकि उनमें वेदनारूप परीषह का अभाव होता है। मोहनीय कर्म की अनुपस्थिति में भाववेदनीय-कर्म (असाता-वेदना) का उदय नहीं होता। उनमें द्रव्य-वेदनीय-कर्म की सत्ता होने से उन्हें परीषह कहा जाता है। उदाहरणार्थ सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया ध्यान नहीं हैं क्योंकि चिन्तानिरोध-रूप ध्यान का लक्षण उन पर लागू नहीं होता, किन्तु 'उपचार' से इन्हें ध्यान कहा जाता है क्योंकि इनसे कर्म-निर्हरणरूप फल प्राप्त होता है। सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया शुक्ल ध्यान के अंतिम दो भेद हैं जो दोनों परंपराओं में मान्य हैं। अतः यदि इन्हें ध्यान के रूप में माना जाए तो इसी तर्क के आधार पर दिगम्बर मतानुसार परीपहों की स्थिति माननी ही पड़ेगी, जैसा कि पूज्यपाद ने लिखा है।

यह मान्यता कि 'शुक्लध्यान के अंतिम दो भेदों को इस आधार पर ध्यान की संज्ञा दी गई है कि इनसे कर्मों का क्षय होता है' सर्वथा संदेह-पूर्ण है, क्योंकि जैन ध्यान के अंतर्गत आर्त और रौद्र ध्यानों का भी समावेश है जिनसे अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। अतएव 'उपचार' की उक्ति के लिए यहाँ कोई अवकाश नहीं है। संभवतः मोक्ष से संबंधित होने के कारण सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया को ध्यान मान लिया गया है, क्योंकि अधिकांश धार्मिक संप्रदायों में ध्यान अथवा समाधि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। यथार्थतः सूक्ष्म-क्रिया केवल सूक्ष्म काय-योगपूर्वक होने से सयोग-केवली के और तीनों प्रकार के योग से रहित होने से अयोग-केवली के ध्यानरूप नहीं होती। जो हो, उपचार की बात असिद्ध हो जाने से सूक्ष्म-क्रिया और समुच्छिन्न-क्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करने का टीकाकार का प्रयोजन सार्थक सिद्ध नहीं होता। अतएव दिगम्बर टीकाकारों की परीषह-सम्बन्धी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है।

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि मोहनीय कर्म के अभाव से जिन के भाव-वेदनीय कर्म नहीं होता। मोहनीय कर्म और वेदनीय कर्म दो अलग-अलग कर्म हैं। उनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। उनकी प्रकृति एवं कार्य को मिश्रित नहीं किया जा सकता, अन्यथा कार्मिक भेदों में विश्रृंखलता उत्पन्न हो जाएगी। यदि उपर्युक्त कथन को स्वीकार किया जाए तो वही तर्क अन्य अघातिक कर्मों के विषय में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'जिन के भाव-गोत्र कर्म नहीं होता, क्योंकि उसमें तदनुरूप मोहनीय कर्म का अभाव होता है।' टीकाकार यह भी कहते हैं कि जिन के भाव-वेदनीय कर्म नहीं होता किन्तु द्रव्य-वेदनीय कर्म होता है। यह कथन तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि एक ही कर्म का द्रव्य और भाव इन दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है, अतएव जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी होता ही है। अन्यथा यह तर्क अन्य अघातिक कर्मों के विषय में भी उसी प्रकार प्रयुक्त होना चाहिए। उदाहरणार्थ 'जिन के द्रव्य-औदारिक-शरीर-नामकर्म है किन्तु तत्सम्बद्ध भाव-कर्म नहीं होता।' ये सब तर्क निश्चित रूप से असंगत प्रतीत होते हैं; कारण, किसी परम्परा का कोई रूढ़ विश्वास प्रायः सैद्धान्तिक निष्कर्ष के साथ नहीं चलता, क्योंकि वह धार्मिक भावनाओं में उलझ जाता है। दिगम्बर परम्परा में भी यह रूढ़ विश्वास ज्यों का त्यों रह गया। यह परम्परा इस तथ्य को स्वीकार न कर सकी कि जिन के भाव-वेदनीय कर्म होता है, परन्तु यह इनकार भी न कर सकी कि उसके द्रव्य-वेदनीय कर्म होता है। इसीलिए दिगम्बर आचार्यों ने सूत्र ९ : ११ (११) को बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के स्वीकार कर लिया, परन्तु अपने रूढ़िगत विश्वास के अनुसार टीकाओं में अर्थ-संबंधी संशोधन कर डाला। उन्होंने यह संशोधन 'उपचार' की पद्धति से किया ताकि इस सूत्र का मूल अर्थ बिलकुल बिगड़ न जाए। इसमें वे असफल रहे। इससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि सूत्र ९ : ११ (११) मूलरूप में दिगम्बर परम्परा का नहीं था।

ये दो प्रकरण, जिनमें दोनों परंपराओं के सैद्धान्तिक मतभेद का समावेश है, विचाराधीन मूल पाठ की यथार्थता की सिद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। केवल इन्हीं सूत्रों की छानबीन से इस समस्या को हल करना असम्भव है। टीकाओं में इसके हल की कुंजी छिपी हुई है, अतः उन्हें सुस्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के और भी

उदाहरण हो सकते हैं, तथापि मतभेद के इन उदाहरणों तथा श्वेताम्बर संस्करण में सूत्र ५ : (२९) अर्थात् **सद्-द्रव्य-लक्षणम्** के विलोपन से यह प्रमाणित हो जाता है कि श्वेताम्बर पाठ मूल है और दिगम्बर पाठ उससे व्युत्पन्न हुआ है। इनके अतिरिक्त सूत्रकार की **यथाक्रमम्** शब्द द्वारा आगे के उपभेदात्मक सूत्र लिखने की शैली तथा 'स' सर्वनाम द्वारा हमेशा नए सूत्र प्रारम्भ करने की पद्धति जैसे कुछ छोटे प्रमाणों द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। तब तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के संशोधन का यह प्रश्न कि 'यह सामग्री भाष्य और जम्बूद्वीपसमास से दिगम्बर संस्करण में ली गई अथवा दिगम्बर संस्करण से भाष्य और जम्बूद्वीपसमास में ली गई' स्वतः हल हो जाता है।

—सुजुको ओहिरा

मूल सूत्र

सन्दर्भ-संकेत

भा०	भाष्य में	मुद्रित सूत्र
रा०	राजवार्तिक में	,,
श्लो०	श्लोकवार्तिक में	,,
स०	सर्वार्थसिद्धि में	,,
सि०	सिद्धसेनीय टीका में	,,
हा०	हारिभद्रीय टीका में	,,
टि०	तत्त्वार्थ-टिप्पण (अमुद्रित, अनेकान्त ३.१)	

रा-पा०	राजवार्तिक में निर्दिष्ट पाठान्तर
स-पा०	सर्वार्थसिद्धि में ,, ,,
सि-पा०	सिद्धसेनीय वृत्ति का प्रत्यन्तर-पाठ
सि-भा०	सिद्धसेनीय वृत्ति का भाष्य-पाठ
सि वृ०	सिद्धसेनीय वृत्तिसम्मत पाठ
सि-वृ-पा०	सिद्धसेनीय वृत्ति में निर्दिष्ट पाठान्तर

प्रथमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

जीवाजीवास्रव[1]बन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

मतिश्रुताऽवधिमनः[2]पर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

[3]आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अवग्रहे[4]हावायधारणाः ॥ १५ ॥

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितो[5]सन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्याऽवग्रहः ॥ १८ ॥

---

१. प्रास्रव–हा० ।

२. मनःपर्यय–स० रा० श्लो० ।

३. तत्र आद्ये–हा० ।

४. हापाय–भा० हा० सि० । अकलंक ने 'अपाय' तथा 'अवाय' दोनों को संगत कहा है ।

५. निःसृतानुक्तध्रु–स० रा० ।–निसृतानुक्तध्रु–श्लो० ।–क्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रु-स-पा० ।—प्रानिश्रितानुक्तध्रु-भा० सि-वृ० । –श्रितनिश्चितध्रु–सि वृ-पा० ।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥
श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥
द्विविधोऽवधिः[1] ॥ २१ ॥
तत्र[2] भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥
यथोक्तनिमित्तः[3] षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥
ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः[4] ॥ २४ ॥
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥
विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः[5] ॥ २६ ॥
मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु[6] ॥ २७ ॥
रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥
तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य[7] ॥ २९ ॥
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥
एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥
मतिश्रुताऽवधयो[8] विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥
सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥
नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा[9] नयाः ॥ ३४ ॥
आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥[10] ३५ ॥

---

१. स०रा०श्लो० में सूत्ररूप नहीं है। स० और रा० की उत्थानिका में है।
२. तत्र भव—सि०।—भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणाम्—स० रा० श्लो०।
३. क्षयोपशमनिमित्तः—स०रा० श्लो०। भाष्य में व्याख्या है—'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः।'
४. मन.पर्ययः—स० रा० श्लो०।
५. मनःपर्ययोः—स० रा० श्लो०।
६. निबन्धः द्रव्ये—स० रा० श्लो०। १. २० के भाष्य में उद्धृत सूत्रांश में 'सर्व' नहीं है।
७. मन.पर्ययस्य—स० रा० श्लो०।
८. श्रुत।विभङ्गा विप—हा०।
९. शब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः—स० रा० श्लो०।
१०. यह सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं है।

द्वितीयोऽध्यायः

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः[1] यथाक्रमं[2] सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्व[3]लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

जीवभव्याभव्यत्वादीनि[4] च ॥ ७ ॥

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

स[5] द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

समनस्काऽमनस्काः[6] ॥ ११ ॥

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः[7] ॥ १३ ॥

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः[8] ॥ १४ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

---

१. दर्शनलब्धय–स० रा० श्लो० ।

२. स० रा० श्लो० में 'यथाक्रम' नहीं है ।

३. सिद्धलेश्या–स० रा० श्लो० ।

४. त्वानि च–स० रा० श्लो० ।

५. सि-वृ-पा० में 'स' नहीं है ।

६. किसी के द्वारा किए गए सूत्र-विपर्यास की आलोचना सिद्धसेन ने की है ।

७. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः—स० रा० श्लो० ।

८. द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः—स० रा० श्लो० ।

द्विविधानि ॥ १६ ॥
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥
उपयोगः स्पर्शादिषु[1] ॥ १९ ॥
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥
स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः[2] ॥ २१ ॥
श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥
वाय्वन्तानामेकम्[3] ॥ २३ ॥
कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[4][5] ॥ २४ ॥
संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥
विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥
अनुश्रेणि गतिः ॥ २७ ॥
अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥
विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥
एकसमयोऽविग्रहः[6] ॥ ३० ॥
एकं द्वौ वाऽनाहारकः[7] ॥ ३१ ॥
सम्मूर्छनगर्भोपपाता[8] जन्म ॥ ३२ ॥

---

१. स० रा० श्लो० में नहीं है। सिद्धसेन कहते हैं–'कोई इसको सूत्र नहीं मानते और कहते हैं कि भाष्यवाक्य को ही सूत्र बना दिया गया है।'
—पृ० १६९।

२. तदर्थाः–स०रा० श्लो०। 'तदर्थाः' ऐसा समस्तपद ठीक नहीं, इस शंका का निराकरण अकलंक और विद्यानन्द ने किया है। दूसरी ओर श्वे० टीकाकारों ने इसका स्पष्टीकरण किया है कि असमस्त पद क्यों रखा गया है।

३. वनस्पत्यन्तानामेकम्—स० रा० श्लो०।

४. सिद्धसेन कहते हैं कि कोई सूत्र में 'मनुष्य' पद को अनार्ष समझते हैं।

५. सिद्धसेन कहते हैं कि कोई इसके बाद अतीन्द्रियाः केवलिनः सूत्र रखते हैं।

६. एकसमयाऽविग्रहा—स० रा० श्लो०।

७. द्वौ त्रीन्वा–स० रा० श्लो०। सूत्रगत 'वा' शब्द से कोई 'तीन' का भी संग्रह करते थे, ऐसा हरिभद्र और सिद्धसेन का कहना है।

८. पाताज्जन्म—स०।—पाता जन्म—रा० श्लो०।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३३ ॥

अराय्वण्डपोतजानां गर्भः[1] ॥ ३४ ॥

नारकदेवानामुपपातः[2] ॥ ३५ ॥

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि[3] शरीराणि[4] ॥ ३७ ॥

परं परं सूक्ष्मम्[5] ॥ ३८ ॥

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

अप्रतिघाते[6] ॥ ४१ ॥

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

सर्वस्य ॥ ४३ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः[7] ॥ ४४ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

---

१. अरायुजाण्डपोतजानां गर्भः—हा० । अरायुजाण्डपोतानां गर्भः—स० रा० श्लो० । रा० और श्लो० 'पोतज' पाठ पर आपत्ति करते हैं। सिद्धसेन को यह आपत्ति ठीक नहीं मालूम होती ।

२. देवनारकाणामुपपादः—स० रा० श्लो० ।

३. वैक्रियिका—स० रा० श्लो० ।

४. सिद्धसेन का कहना है कि कोई 'शरीराणि' को अलग सूत्र समझते हैं ।

५. भा० में तेषां पद सूत्रांश के रूप में छपा है, लेकिन भाष्यटीकाकारों के मत में यह भाष्य का अंश है ।

६. अप्रतीघाते—स० रा० श्लो० ।

७. देकस्मिन्नाचतु—स० रा० श्लो० । लेकिन टीकाओं से मालूम होता है कि एकस्य सूत्रपाठ अभिप्रेत है ।

वैक्रियमौपपातिकम्[1] ॥ ४७ ॥

लब्धिप्रत्ययं च[2] ॥ ४८ ॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव[3] ॥ ४९ ॥

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

न देवाः[4] ॥ ५१ ॥

औपपातिक[5]**चरमदेहोत्तमपुरुषा**[6]**ऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः** ॥ ५२ ॥

१. **औपपादिकं वैक्रियिकम्**–स० रा० श्लो० ।

२. इसके बाद स० रा० श्लो० में **तैजसमपि** सूत्र है । भा० में **तैजसमपि** सूत्र के रूप में नहीं है । हा० में **शुभम्**·····इत्यादि सूत्र के बाद यह सूत्ररूप में है । सि० में यह सूत्र क० ख० प्रति का पाठान्तर है । टि० में यह स्वतंत्र सूत्र है, किन्तु अगले सूत्र के बाद है । उसका यहाँ होना टिप्पणकार ने अनुचित माना है ।

३. **चतुर्दशपूर्वधर एव**–सि० । **प्रमत्तसंयतस्यैव**–स० रा० श्लो० । सिद्धसेन का कहना है कि कोई **अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमतः** विशेषण और जोड़ते हैं ।

४. इसके बाद स० रा० श्लो० में **शेषास्त्रिवेदाः** सूत्र है । श्वेताम्बर पाठ में यह सूत्र नहीं है, क्योंकि इस अर्थ का भाष्यवाक्य है ।

५. **औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसं**–स० रा० श्लो० ।

६. **चरमदेहोत्तमदेहपु**–स-पा०, रा-पा० । सिद्धसेन का कहना है कि इस सूत्र में सूत्रकार ने 'उत्तमपुरुष' पद का ग्रहण नहीं किया है–ऐसा कोई मानते हैं । पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द 'चरम' को 'उत्तम' का विशेषण समझते हैं ।

तृतीयोऽध्यायः

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ता[1]धोऽधः पृथुतराः[2] ॥ १ ॥

तासु नरकाः[3] ॥ २ ॥

नित्या[4]शुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीपलवणा[5]दयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

तत्र[6] भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्[7]षधरपर्वताः[8] ॥ ११ ॥

१. इसके विग्रह में सिद्धान्त पाठ और सामर्थ्यगम्य पाठ की चर्चा सर्वार्थ-सिद्धि में है।

२. पृथुतराः स० रा० श्लो० में नहीं। अकलङ्क पृथुतराः पाठ को अनाव-श्यक मानते हैं। इस सूत्र के बाद टि० में घर्मा वंशा शैलांजना रिष्टा माघव्या माघवीति च सूत्र है।

३. तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्—स० रा० श्लो०। इस सूत्र में सन्निहित गणना भाष्य में है।

४. तेषु नारका नित्या—सि०। नारका नित्या-स० रा० श्लो०।

५. लवणोदादयः—स० रा० श्लो०।

६. 'तत्र' टि० स० रा० श्लो० में नहीं है।

७. वंशधरपर्वताः—सि०।

८. सिद्धसेन का कहना है कि इस सूत्र के बाद तत्र पञ्च इत्यादि भाष्यवाक्य

द्विर्धातकीखण्डे ॥ १२ ॥
पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥
प्राङ्मानुषोत्तरान् मनुष्याः ॥ १४ ॥
आर्या म्लेच्छाश्च[1] ॥ १५ ॥
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ १६ ॥
नृस्थिती परापरे[2] त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥
तिर्यग्योनीनां[3] च ॥ १८ ॥

को कोई सूत्र समझते हैं। स० में इस आशय का सूत्र २४वाँ है। हरिभद्र और सिद्धसेन कहते हैं कि यहाँ कोई विद्वान् बहुत से नये सूत्र अपने आप बनाकर विस्तार के लिए रखते हैं। उनका यह कथन संभवतः सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ को लक्ष्य में रखकर है, क्योंकि उसमें इस सूत्र के बाद १२ सूत्र ऐसे हैं जो श्वे० सत्रपाठ में नहीं हैं। उसके बाद के सूत्र २४ और २५ भी भाष्यमान्य ११वें सूत्र के भाष्य-अंश ही हैं। स० रा० के सूत्र २६ से ३२ भी अधिक ही हैं। स० के १३वें सूत्र को तोड़ कर श्लो० में दो सूत्र बना दिए गए हैं। अधिक सूत्रों के पाठ के लिए स० रा० श्लो० द्रष्टव्य हैं।

१. आर्या म्लिशश्च–भा० हा०।

२. परावरे–रा० श्लो०।

३. तिर्यग्योनिजानां च—स० रा० श्लो०।

चतुर्थोऽध्यायः

देवाश्चतुर्निकायाः[1] ॥ १ ॥

तृतीयः पीतलेश्यः[2] ॥ २ ॥

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्[3]आत्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभि-योग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

त्रायस्त्रिंश[4]लोकपालवर्ज्या[5] व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पीतान्तलेश्याः[6] ॥ ७ ॥

कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् ॥ ८ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः[7] ॥ ९ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीप-दिक्कुमाराः ॥ ११ ॥

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्व[8]यक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥

१. देवाश्चतुर्णिकायाः-स० रा० श्लो० ।

२. आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः स० रा० श्लो० । देखें—विवेचन, पृ० ९५, टि० १ ।

३. पारिषदा-स० रा० श्लो० ।

४. -शल्लोक-स० ।

५. वर्ज्ञा-सि० ।

६. यह सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं है ।

७. द्वयोर्द्वयोः स० रा० श्लो० में नहीं है । इन पदों को सूत्र में रखने के विषय में किसी की शंका का समाधान करते हुए अकलङ्क कहते हैं कि ऐसा करना आर्ष-विरोध है ।

८. गन्धर्व-हा० स० रा० श्लो० ।

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो[1] ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च[2][3] ॥ १३ ॥
मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥
तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥
बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥
वैमानिकाः ॥ १७ ॥
कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥
उपर्युपरि ॥ १९ ॥
सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपरा-जितेषु सर्वार्थसिद्धे[5] च ॥ २० ॥
स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥
गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः[6] ॥ २२ ॥
पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु[7] ॥ २३ ॥
प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥
ब्रह्मलोकालया[8] लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥
सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च[9] ॥ २६ ॥
विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

१. –सूर्याचन्द्रमसौ–स० रा० श्लो० ।
२. –प्रकीर्णकता–स० रा० श्लो० ।
३. –ताराश्च–हा० ।
४. –माहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रा–स० रा० श्लो० । श्लो० में सतार पाठ है । दिगम्बर परम्परा के भी प्राचीन ग्रन्थों में बारह कल्पों का कथन है । देखें—जैन जगत, वर्ष ४, अंक ६, पृ० २०२; अनेकांत, वर्ष ५, अंक १०-११, पृ० ३४२ ।
५. –सिद्धौ च–स० रा० श्लो० ।
६. टि० में इसके बाद उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः सूत्र है ।
७. पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुः शेषेष्विति—रा-पा० ।
८. –लया लौका–स० रा० श्लो०; सि-पा० ।
९. –व्याबाधारिष्टाश्च–स० रा० श्लो० । देखें– विवेचन, पृ० १०८, टि० १ ।

औपपातिकमनुष्येभ्यः[1] शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥
स्थितिः[2] ॥ २९ ॥
भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥
शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥
असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥
सौधर्मादिषु यथाक्रमम्[3] ॥ ३३ ॥
सागरोपमे ॥ ३४ ॥
अधिके च ॥ ३५ ॥
सप्त सानत्कुमारे[4] ॥ ३६ ॥
विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च[5] ॥ ३७ ॥
आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[6] च ॥ ३८ ॥
अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥
सागरोपमे[7] ॥ ४० ॥
अधिके च ॥ ४१ ॥
परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४२ ॥
नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥
भवनेषु च ॥ ४५ ॥
व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

१. –पादिक–स० रा० श्लो० ।
२. इस सूत्र से ३२ वें सूत्र तक के लिए स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता–यह एक ही सूत्र स० रा० श्लो० में है । श्वे० दि० दोनों परंपराओं में भवनपति की उत्कृष्ट स्थिति के विषय में मतभेद है ।
३. इस सूत्र से ३५वें सूत्र तक के लिए एक ही सूत्र सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके च स० रा० श्लो० में है । दोनों परंपराओं में स्थिति के परिमाण में भी अन्तर है । देखें–प्रस्तुत सूत्रों की टीकाएँ ।
४. सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त–स० रा० श्लो० ।
५. त्रिसप्तनवैकादशपंचदशभिरधिकानि तु–स० रा० श्लो० ।
६. सिद्धौ च–स०रा० श्लो० ।
७. यह और इसके बाद का सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं है ।

परा पल्योपमम्[1] ॥ ४७ ॥
ज्योतिष्काणामधिकम्[2] ॥ ४८ ॥
ग्रहाणामेकम्[3] ॥ ४९ ॥
नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥
तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥
जघन्या त्वष्टभागः[4] ॥ ५२ ॥
चतुर्भागः शेषाणाम्[5] ॥ ५३ ॥



१. परा पल्योपममधिकम्—स० रा० श्लो० ।

२. ज्योतिष्काणां च-स० रा० श्लो० ।

३. यह और ५०, ५१ सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं है ।

४. तदष्टभागोऽपरा—स० रा० श्लो० । ज्योतिष्कों की स्थिति विषयक जो सूत्र दिगम्बर पाठ में नहीं हैं उन सूत्रों के विषय की पूर्ति राजवार्तिककार ने इसी सूत्र के वार्तिकों में की है ।

५. स० रा० श्लो० में नहीं है । स० और रा० में एक और अंतिम सूत्र—लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्—४२ है, जो श्लो० में नहीं है ।

पञ्चमोऽध्यायः

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

द्रव्याणि जीवाश्च[1] ॥ २ ॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि[2] ॥ ३ ॥

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥

आऽऽकाशादेकद्रव्याणि[3] ॥ ५ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः[4] ॥ ७ ॥

जीवस्य[5] ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

---

१. स० रा० श्लो० में इस एक सूत्र के स्थान पर द्रव्याणि व जीवाश्च ये दो सूत्र हैं। सिद्धसेन कहते हैं–'कोई इस सूत्र को उपर्युक्त प्रकार से दो सूत्र बनाकर पढ़ते हैं जो ठीक नहीं है।'
अकलङ्क के सामने भी किसी ने शङ्का उठाई है–द्रव्याणि जीवाः ऐसा 'च' रहित एक सूत्र ही क्यों नहीं रखते ?' विद्यानन्द का कहना है कि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ही दो सूत्र बनाए गए हैं।

२. सिद्धसेन कहते हैं–'कोई इस सूत्र को तोड़कर नित्यावस्थितानि एवं अरूपाणि ये दो सूत्र बनाते हैं।' नित्यावस्थितान्यरूपाणि पाठान्तर भी उन्होंने वृत्ति में दिया है। नित्यावस्थितान्यरूपीणि ऐसे एक और पाठ का भी उन्होंने निर्देश किया है। 'कोई नित्यपद को अवस्थित का विशेषण समझते हैं' ऐसा भी वे कहते हैं। इस सूत्र की व्याख्या के मतान्तरों के लिए सिद्धसेनीय वृत्ति द्रष्टव्य है।

३. देखें—विवेचन, पृ० ११५, टि० १।

४. –धर्माधर्मैकजीवानाम्–स० रा० श्लो०।

५. स० रा० श्लो० में यह पृथक् सूत्र नहीं है। सिद्धसेन ने पृथक् सूत्र रखने के कारण का स्पष्टीकरण किया है।

नाणोः ॥ ११ ॥
लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥
असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां[1] प्रदीपवत् ॥ १६ ॥
गतिस्थित्युपग्रहो[2] धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥
आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥
सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥
परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥
वर्तना परिणामः क्रिया[3] परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्द्योतवन्तश्च ॥२४॥
अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥
सङ्घातभेदेभ्य[4] उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥
भेदादणुः ॥ २७ ॥
भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः[5] ॥ २८ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[6] ॥ २९ ॥
तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

१. –विसर्पा–स० रा० श्लो० ।

२. –पग्रहौ–सि० स० रा० श्लो० । अकलंक ने द्विवचन का समर्थन किया है । देखें—विवेचन, पृ० १२३, टि० १ ।

३. वर्तनापरिणामक्रियाः पर–स० । वर्तनापरिणामक्रिया पर–रा० ।

४. भेदसंघातेभ्य उ–स० रा० श्लो० ।

५. –चाक्षुषः–स० रा० श्लो० । सिद्धसेन इस सूत्र के अर्थ में किसी का मतभेद बतलाते हैं ।

६. इस सूत्र से पहले स० और श्लो० में सद् द्रव्यलक्षणम् सूत्र है । लेकिन रा० में ऐसा अलग सूत्र नहीं है, उसमें तो यह बात उत्थानिका में ही कही गई है । भाष्य में इसका भावकथन है ।

अर्पितानर्पितसिद्धेः[1] ॥ ३१ ॥
स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥
न जघन्यगुणानाम्[2] ॥ ३३ ॥
गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥
द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥
बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ[3] ॥ ३६ ॥
गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥
कालश्चेत्येके[4] ॥ ३८ ॥
सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥
द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥
तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥
अनादिरादिमांश्च[5] ॥ ४२ ॥
रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥
योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

१. इस सूत्र की व्याख्या में मतभेद है। हरिभद्र सबसे निराला ही अर्थ करते हैं। हरिभद्र की व्याख्या का सिद्धसेन ने मतान्तररूप में निर्देश किया है।

२. बन्ध की प्रक्रिया में श्वे० दि० मतभेद के लिए देखें—विवेचन, पृ० १३९।

३. बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ—स० श्लो०। रा० में सूत्र के अन्त में 'च' है। अकलंक ने समाधिकौ पद का खण्डन किया है।

४. देखें—विवेचन, पृ० १४४, टि० १। कालश्च—स० रा० श्लो०।

५. ये अन्तिम तीनों सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं हैं। राजवार्तिककार ने भाष्य के मत का खण्डन किया है। विस्तार के लिए देखें—विवेचन, पृ० १४६-१४७। टि० में इसके पहले स द्विविधः सूत्र है।

षष्ठोऽध्यायः

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

शुभः पुण्यस्य[1] ॥ ३ ॥

अशुभः पापस्य[2] ॥ ४ ॥

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः[3] पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याऽधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ७ ॥

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रि-स्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ १० ॥

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥११॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः[5] क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १३ ॥

---

१. देखें—विवेचन, पृ० १४२, टि० १ ।

२. यह सूत्ररूप में हा० में नहीं है । लेकिन शेषं पापम् सूत्र है । सि० में अशुभः पापस्य सूत्ररूप में छपा है, लेकिन टीका से मालूम होता है कि यह भाष्य-अंश है ।

३. इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः—हा० सि० टि०; स० रा० श्लो० । भाष्यमान्य पाठ में अव्रत ही पहले है । सूत्र की टीका करते समय सिद्धसेन के सामने इन्द्रिय पाठ प्रथम है । किन्तु सूत्र के भाष्य में अव्रत पाठ प्रथम है । सिद्धसेन को जब सूत्र और भाष्य की यह असंगति ज्ञात हुई तो उन्होंने इसे दूर करने की कोशिश भी की ।

४. -भावाधिकरणवीर्यविशे—स० रा० श्लो० ।

५. भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः—स० रा० श्लो० ।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १४ ॥

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १५ ॥[1]

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च[2] नारकस्यायुषः ॥ १६ ॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य[3] ॥ १८ ॥

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्[4] ॥ १९ ॥

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य[5] ॥ २० ॥[6]

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥

विपरीतं[7] शुभस्य ॥ २२ ॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं[8] ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घ[9]साधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति [10]तीर्थकृत्त्वस्य ॥ २३ ॥

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुण[11]च्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२४॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥



---

१. -तीव्रपरि–स० रा० श्लो० ।

२. स० रा० श्लो० में 'च' नहीं है ।

३. इसके स्थान पर अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य और स्वभावमार्दवं च ये दो सूत्र दिगम्बर परंपरा में हैं । एक ही सूत्र क्यों नहीं बनाया गया, इस शंका का समाधान भी दिगम्बर टीकाकारों ने किया है ।

४. देखें—विवेचन, पृ० १५७, टि० १ ।

५. देखें—विवेचन, पृ० १५७, टि० २ ।

६. इसके बाद टि० में सम्यक्त्वं च सूत्र है ।

७. तद्विप–स० रा० श्लो० ।

८. भीक्ष्णज्ञा–स० रा० श्लो० ।

९. स० रा० श्लो० में 'सङ्घ' नहीं है ।

१०. तीर्थकरत्वस्य–स० रा० श्लो० ।

११. -गुणोच्छा–स० । गुणच्छा–रा० श्लो० ।

सप्तमोऽध्यायः

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च[1] ॥ ३ ॥

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्[2] ॥ ४ ॥

दुःखमेव वा[3] ॥ ५ ॥

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि[4] सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥६॥

जगत्कायस्वभावौ च[5] संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

---

१. -पञ्च पञ्चशः सि-वृ-पा० । अकलंक के सामने पञ्चशः पाठ होने को आशंका की गई है । इस सूत्र के बाद वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष (क्ष्य-रा०) शुद्धिसद्धर्मा (सधर्मा-श्लो०) विसंवादाः पञ्च ॥६॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥ ऐसे पाँच सूत्र स० रा० श्लो० में हैं जिनका भाव इसी सूत्र के भाष्य में है ।

२. -मुत्रापाया-स० रा० श्लो० ।

३. सिद्धसेन कहते हैं कि इसी सूत्र के व्याधिप्रतीकारत्वात् कंडूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म तथा परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चाऽवितृप्तिः इन भाष्यवाक्यों को कोई दो सूत्र मानते हैं ।

४. -माध्यस्थानि च स-स० रा० श्लो० ।

५. स० रा० श्लो० में 'च' के स्थान में 'वा' है ।

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥
निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥
अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥
अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥
दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च[1][2][3] ॥ १६ ॥
मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता[4] ॥ १७ ॥
शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः[5] ॥ १८ ॥
व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥
बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः[6] ॥ २० ॥
मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः[7] ॥ २१ ॥
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥
परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः[8][9][10] ॥ २३ ॥

---

१. प्रोषधो–स० रा० श्लो० ।
२. भोगातिथि–भा० । सिद्धसेन-वृत्ति में भी इस सूत्र के भाष्य में परिमाण शब्द नहीं है । देखें—पृ० ९३. पं० १२ ।
३. देखें—विवेचन पृ० १८१, टि० १ ।
४. सल्लेखना–स० रा० श्लो० ।
५. रतीचाराः-भा० सि०; रा० श्लो० ।
६. –वधच्छेदाति–स० रा० श्लो० ।
७. रहोभ्या–स० रा० श्लो० ।
८. –त्वरिकापरि–स० रा० श्लो० ।
९. –डाकामतीव्राभि–स० रा० श्लो० ।
१०. इस सूत्र के स्थान पर कोई परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशः (शाः) सूत्र मानते हैं, ऐसा सिद्धसेन का कहना है । यह सूत्र दिगम्बर पाठ से कुछ-कुछ मिलता है । देखें—ऊपर की टिप्पणी ।
कुछ लोग इसी सूत्र का पदविच्छेद परविवाहकरणं इत्वरिका-

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि[1] ॥ २५ ॥
आनयन[2]प्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः[3] ॥ २६ ॥
कन्दर्पकौत्कुच्य[4]मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि[5] ॥ २७ ॥
योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि[6] ॥ २८ ॥
अप्रत्यवेक्षिता[7]प्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणा[8]नादरस्मृत्यनुपस्थापनानि[9] ॥ २९ ॥
सचित्तसम्बद्ध[10]संमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥ ३० ॥
सचित्तनिक्षेप[11]पिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः[12] ॥ ३१ ॥
जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदान[13]करणानि ॥ ३२ ॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥
विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३४ ॥



गमनं परिगृहीतापरिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः करते हैं, ऐसा सिद्धसेन कहते हैं। इस प्रकार पदच्छेद करने वाला इत्वरिका पद का अर्थ करना भी सिद्धसेन को मान्य नहीं है।

१. -स्मृत्यन्तराधानानि-स० रा० श्लो०।
२. किसी के मत से आनायन पाठ है, ऐसा सिद्धसेन कहते हैं।
३. -पुद्गलप्रक्षेपाः-भा० हा०। हा० वृत्ति में तो पुद्गलक्षेपाः ही पाठ है। सि-वृ० में पुद्गलप्रक्षेप पाठ है।
४. -कौकुच्य-भा० हा०।
५. -करणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि-स० रा० श्लो०।
६. स्मृत्यनुपस्थानानि-स० रा० श्लो०।
७. अप्रत्युपेक्षि-हा०।
८. -दानसंस्तरो-स० रा० श्लो०।
९. -स्मृत्यनुपस्थानानि-स० रा० श्लो०।
१०. -सम्बन्ध-स० रा० श्लो०।
११. -क्षेपापिधान-स० रा० श्लो०।
१२. टि० में यह सूत्र नहीं है।
१३. -निदानानि-स० रा० श्लो०।

अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥ २ ॥

स बन्धः[1] ॥ ३ ॥

प्रकृतिस्थित्यनु[2]भावप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्क[3]नामगोत्रान्तरायाः ॥ ५ ॥

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा[4] यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

मत्यादीनाम्[5] ॥ ७ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान-
गृ[6]द्धिवेदनीयानि[7] च ॥ ८ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः

---

१. यह सूत्र स० रा० श्लो० में दूसरे सूत्र के अन्त में ही समाहित है।

२ –त्यनुभव–स० रा० श्लो०।

३. –नीयायुर्नाम–स० रा० श्लो०।

४. –भेदो–रा०।

५ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्–स० रा० श्लो०। किन्तु यह पाठ सिद्धसेन को अपार्थक मालूम होता है। अकलङ्क और विद्यानन्द श्वे० परंपरासम्मत लघुपाठ की अपेक्षा उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं।

६. –स्त्यानर्द्धि–सि०। सि–भा० का पाठ 'स्त्यानगृद्धि' मालूम होता है क्योंकि सिद्धसेन कहते हैं–स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः।

७. –स्त्यानगृद्धयश्च–स० रा० श्लो०। सिद्धसेन ने वेदनीय पद का समर्थन किया है।

८. दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः–स० रा० श्लो०।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्य-रत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥ १० ॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरस-गन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥ १२ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

दानादीनाम् ॥ १४ ॥

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १५ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥ १८ ॥

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

---

१. किसी को यह इतना लम्बा सूत्र नहीं जँचता, इसका पूर्वाचार्य ने जो उत्तर दिया है वही सिद्धसेन ने उद्धृत किया है—

दुर्व्याख्यानो गरीयाश्च मोहो भवति बन्धनः ।
न तत्र लाघवादिष्टं सूत्रकारेण दुर्वचम् ॥

२. –नुपूर्व्यागु–स० रा० श्लो० । सि० वृ० में आनुपूर्व्य पाठ है । अन्य के मत से सिद्धसेन ने आनुपूर्वी पाठ बताया है । दोनों के मत से सूत्र का भिन्न-भिन्न रूप भी उन्होंने दर्शाया है ।

३. –देययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च–स० रा० श्लो० ।

४. दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् स० रा० श्लो० ।

५. –विंशतिर्नामगोत्रयोः–स० रा० श्लो० ।

६. –ण्यायुषः स० रा० श्लो० ।

७. –मुहूर्ता–स० रा० श्लो० ।

विपाकोऽनुभावः[1] ॥ २२ ॥

स यथानाम ॥ २३ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ[2]स्थिताः सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्[3] ॥ २६ ॥

१. –नुभवः–स० रा० श्लो० ।

२. –वगाहस्थि–स० रा० श्लो० ।

३. देखें—विवेचन, पृ० २०५, टि० १ । इसके स्थान पर स० रा० श्लो० में दो सूत्र हैं–सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् तथा अतोऽन्यत् पापम् । दूसरे सूत्र को अन्य टीकाकारों ने भाष्य-अंश माना है ।

नवमोऽध्यायः

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

उत्तमः[1] क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्[2]वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः[3] ॥ ७ ॥

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः[4] परीषहाः ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञाना[5]दर्शनानि ॥ ९ ॥

सूक्ष्मसम्[6]परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

एकादश[7] जिने ॥ ११ ॥

बादरसम्पराये[8] सर्वे ॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

१. उत्तमक्ष–स० रा० श्लो० ।

२. –शुच्यास्रव–स० रा० श्लो० ।

३. अपरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः । अपरे अनुप्रेक्षा-शब्दमेकवचनान्तमधीयते ।–सि-वृ० ।

४. देखें—विवेचन, पृ० २१३, टि० १ ।

५. –प्रज्ञाज्ञानसम्यक्त्वानि–हा० ।

६. –साम्पराय–स० रा० श्लो० ।

७. देखें—विवेचन, पृ० २१६, टि० १ ।

८. देखें—विवेचन, पृ० २१६, टि० २ ।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥
चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥
वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥
एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः[1] ॥ १७ ॥
सामायिकच्छेदोपस्थाप्य[2]परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय[3]-
यथाख्यातानि[4] चारित्रम् ॥ १८ ॥
अनशनावमौदर्य[5]वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय-
क्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥
नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं[6] यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥
आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारो-
पस्थापनानि[7] ॥ २२ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥
आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष[8]कग्लानगणकुलसङ्घसाधु-
समनोज्ञानाम्[9] ॥ २४ ॥
वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥
बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

१. -देकान्नविंशतेः-हा० । -युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः-स० । युगपदेक-स्मिन्नेकोनविंशतेः—रा० श्लो० ।

२. -पस्थापनापरि- स० रा० श्लो० ।

३. सूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति—स० रा० श्लो० । राजवार्तिककार को अथाख्यात पाठ इष्ट मालूम होता है क्योंकि उन्होंने यथाख्यात को विकल्प में रखा है । सिद्धसेन को भी अथाख्यात पाठ इष्ट है । देखें—विवेचन, पृ० २१८ ।

४. केचित् विच्छिन्नपदमेव सूत्रमधीयते-सि-वृ० ।

५. -मोदर्य-स० रा० श्लो० ।

६. -द्विभेदा-स० श्लो० ।

७. -स्थापनाः-स० रा० श्लो० ।

८. -शैक्षग्ला-स० । शैक्ष्यग्ला-रा० श्लो० ।

९. -समनोज्ञानाम्-स० रा० श्लो० ।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्[1] ॥ २७ ॥
आमुहूर्तात् ॥ २८ ॥
आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि[2] ॥ २९ ॥
परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥
आर्तममनोज्ञानां[3] सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३१ ॥
वेदनायाश्च[4] ॥ ३२ ॥
विपरीतं मनोज्ञानाम्[5] ॥ ३३ ॥
निदानं च ॥ ३४ ॥
तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥
हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३६ ॥
आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य[6] ॥ ३७ ॥
उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[7] ॥ ३९ ॥

१. स० रा० श्लो० में ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् है, अतः २८वाँ सूत्र उनमें अलग नहीं है। देखें—विवेचन, पृ० २२२, टि० २।
२. –धर्म्य–स० रा० श्लो०।
३. –नोज्ञस्य–स० रा० श्लो०।
४. यह सूत्र स० रा० श्लो० में विपरीतं मनोज्ञानाम् के बाद है अर्थात् उनके मतानुसार यह ध्यान का द्वितीय नहीं, तृतीय भेद है।
५. मनोज्ञस्य-स० रा० श्लो०।
६. –धर्म्यम–हा०। -धर्म्यम्–स० रा० श्लो०। दिगम्बर सूत्रपाठ में स्वामी का विधान करनेवाला अप्रमत्तसंयतस्य अंश नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि इसके बाद का उपशान्तक्षीण सूत्र भी नहीं है। स्वामी का विधान सर्वार्थसिद्धि में है। उसे लक्ष्य में रखकर अकलंक ने श्वे० परंपरासम्मत सूत्रपाठ विषयक स्वामी के विधान का खण्डन भी किया है। उसी का अनुगमन विद्यानन्द ने भी किया है। देखें—विवेचन, पृ० २२६-२७।
७. देखें—विवेचन, पृ० २२७, टि० १। पूर्वविदः अंश भा० हा० में न तो इस सूत्र के अंश के रूप में है और न अलग सूत्र के रूप में। सि० में अलग सूत्र के रूप में है, लेकिन टीकाकार की दृष्टि में यह भिन्न नहीं है। दिगम्बर टीकाओं में इसी सूत्र के अंश के रूप में है।

परे केवलिनः ॥ ४० ॥

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि[1] ॥ ४१ ॥

तत्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे[2] ॥ ४३ ॥

अविचारं[3] द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः ॥ ४६ ॥

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४७ ॥

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः[4]
साध्याः ॥ ४९ ॥



१. निवर्तीनि हा० सि०; स० रा० श्लो० । स० को प्रत्यन्तर का पाठ निवृत्तीनि भी है ।

२. –तर्कविचारे पूर्वे-स० । –तर्कवीचारे पूर्वे–रा० श्लो० ।

३. संपादक की भ्रान्ति से यह सूत्र सि० में अलग नहीं है । रा० और श्लो० में अवीचारं पाठ है ।

४. –पादस्था –स० रा० श्लो० ।

दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥
बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्[1] ॥ २ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥
[2]औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शन-
सिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥
पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः[3] ॥ ६ ॥
क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-
सङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥



१. -भ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः-स० रा० श्लो० ।
२. इसके स्थान पर स० रा० श्लो० में औपशमिकादिभव्यत्वानां च और अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ये दो सूत्र हैं ।
३. तद्गतिः पद स० रा० श्लो० में नहीं है और इस सूत्र के बाद उनमें आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च और धर्मास्तिकायाभावात् ये दो सूत्र और हैं जिनका मन्तव्य भाष्य में ही आ जाता है । टि० में इसके बाद धर्मास्तिकायाभावात् सूत्र है ।

विवेचन

: १ :

ज्ञान

संसार में अनन्त प्राणी हैं और वे सभी सुख के अभिलाषी हैं। यद्यपि सब की सुख की कल्पना एक-सी नहीं है तथापि विकास की न्यूनाधिकता के अनुसार संक्षेप में प्राणियों के तथा उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते हैं। पहले वर्ग में अल्प विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक ही सीमित है। दूसरे वर्ग में अधिक विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की प्राप्ति में सुख न मानकर आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में सुख मानते हैं। दोनों वर्गों के माने हुए सुख में यही अन्तर है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा स्वाधीन। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। काम और मोक्ष—दो ही पुरुषार्थ हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु प्राणिवर्ग के लिए मुख्य साध्य नहीं है। पुरुषार्थों में अर्थ और धर्म की गणना मुख्य साध्यरूप से नहीं किन्तु काम और मोक्ष के साधन के रूप में है। अर्थ काम का और धर्म मोक्ष का प्रधान साधन है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है। इसलिए उसी के साधनभूत धर्म को तीन विभागों में विभक्त करके शास्त्रकार प्रथम सूत्र में उनका निर्देश करते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। १।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का मात्र नाम-निर्देश है। उनके स्वरूप और भेदों का वर्णन आगे विस्तार से किया जानेवाला है, फिर भी यहाँ संक्षेप में स्वरूपविषयक संकेत किया जा रहा है।

मोक्ष का स्वरूप—बन्ध और बन्ध के कारणों के अभाव से होनेवाला परिपूर्ण आत्मिक विकास मोक्ष है अर्थात् ज्ञान और वीतरागभाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

साधनों का स्वरूप—जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, अथवा जिससे हेय (छोड़ने योग्य) एवं उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो वह सम्यग्दर्शन है। नय और प्रमाण[1] से होनेवाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् रागद्वेष और योग[2] की निवृत्ति से होनेवाला स्वरूप रमण सम्यक्चारित्र[3] है।

साधनों का साहचर्य—जब उक्त तीनों साधन परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं तभी सम्पूर्ण मोक्ष सम्भव है, अन्यथा नहीं। एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण रूप में प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता[4] के कारण तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण मोक्ष अर्थात् अशरीरसिद्धि या विदेहमुक्ति नहीं होती और चौदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्थारूप[5] पूर्ण चारित्र के प्राप्त होते ही तीनों साधनों की परिपूर्णता से पूर्ण मोक्ष हो जाता है।

साहचर्य-नियम—उक्त तीनों साधनों में से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी[6] होते हैं।

१. जो ज्ञान शब्द में उतारा जाता है अर्थात् जिसमें उद्देश्य और विधेय रूप से वस्तु भासित होती है वह ज्ञान 'नय' है और जिसमें उद्देश्य-विधेय के विभाग के बिना ही अर्थात् अविभक्त वस्तु का सम्पूर्ण या असम्पूर्ण यथार्थ भान हो वह ज्ञान 'प्रमाण' है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—अध्याय १, सूत्र ६; **न्यायावतार**, श्लोक २९–३० का गुजराती अनुवाद।

२. योग अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया।

३. हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसादि महाव्रतों का अनुष्ठान सम्यक्चारित्र कहलाता है क्योंकि उसके द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति की जाती है एवं इससे दोषों का त्याग और महाव्रतों का पालन स्वतः सिद्ध होता है।

४. यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में वीतरागभावरूप चारित्र तो पूर्ण ही है तथापि यहाँ वीतरागता और अयोगता—इन दोनों को पूर्ण चारित्र मानकर ही अपूर्णता कही गई है। ऐसा पूर्ण चारित्र चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है और तुरन्त ही अशरीरसिद्धि होती है।

५. आत्मा की एक ऐसी अवस्था जिसमें ध्यान की पराकाष्ठा के कारण मेरुसदृश निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है, शैलेशी अवस्था है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—हिन्दी **दूसरा कर्मग्रन्थ**, पृष्ठ ३०।

६. एक ऐसा भी पक्ष है जो दर्शन और ज्ञान के अवश्यम्भावी साहचर्य को न मानकर वैकल्पिक साहचर्य को मानता है। उसके मतानुसार कभी दर्शनकाल में ज्ञान नहीं भी

जैसे सूर्य की उष्णता और प्रकाश एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक-दूसरे के बिना नहीं रहते; पर सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य अवश्यम्भावी नहीं है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के बिना भी कुछ काल तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रहते हैं। फिर भी उत्क्रान्ति (विकास) के क्रमानुसार सम्यक्चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है तब उसके पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन आदि दो साधन अवश्य होते हैं।

प्रश्न—यदि आत्मिक गुणों का विकास ही मोक्ष है और सम्यग्दर्शन आदि उसके साधन भी आत्मा के विशिष्ट गुणों का विकास ही हैं, तो फिर मोक्ष और उसके साधन में क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर—कुछ नहीं।

प्रश्न—यदि अन्तर नहीं है तो मोक्ष साध्य और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय उसके साधन—यह साध्य-साधनभाव कैसे ? क्योंकि साध्य-साधनसम्बन्ध भिन्न वस्तुओं में देखा जाता है।

उत्तर—साधक-अवस्था की अपेक्षा से मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य-साधन-भाव कहा गया है, सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि साधक का साध्य परिपूर्ण दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्ष होता है और उसकी प्राप्ति रत्नत्रय के क्रमिक विकास से ही होती है। यह शास्त्र साधक के लिए है, सिद्ध के लिए नहीं। अतः इसमें साधक के लिए उपयोगी साध्य-साधन के भेद का ही कथन है।

प्रश्न—संसार में तो धन-कलत्र-पुत्रादि साधनों से सुख-प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, फिर उसे छोड़कर मोक्ष के परोक्ष सुख का उपदेश क्यों ?

उत्तर—मोक्ष का उपदेश इसलिए है कि उसमें सच्चा सुख मिलता है। संसार में जो सुख मिलता है वह सच्चा सुख नहीं, सुखाभास है।

प्रश्न—मोक्ष में सच्चा सुख और संसार में सुखाभास कैसे है ?

उत्तर—सांसारिक सुख इच्छा की पूर्ति से होता है। इच्छा का स्वभाव है

होता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी देव-नारक-तिर्यञ्च को तथा कुछ मनुष्यों को विशिष्ट श्रुतज्ञान अर्थात् आचाराङ्गादि अङ्गप्रविष्ट-विषयक ज्ञान नहीं होता। इस मत के अनुसार दर्शन के समय ज्ञान न पाने का मतलब विशिष्ट श्रुतज्ञान न पाने से है। परन्तु दर्शन और ज्ञान को अवश्य सहचारी माननेवाले पक्ष का आशय यह है कि दर्शन-प्राप्ति के पहले जीव में जो मति आदि अज्ञान होता है वही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या मिथ्या-दर्शन की निवृत्ति से सम्यक् रूप में परिणत हो जाता है और वह मति आदि ज्ञान कहलाता है। इस मत के अनुसार जो और जितना विशेष बोध सम्यक्त्व-प्राप्ति-काल में हो वही सम्यग्ज्ञान है, विशिष्ट श्रुतमात्र नहीं।

कि एक इच्छा पूरी होते-न-होते दूसरी सैकड़ों इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सब इच्छाओं की तृप्ति सम्भव नहीं, अगर हो भी तो फिर तब तक हजारों इच्छाएँ और पैदा हो जाती हैं जिनका पूर्ण होना सम्भव नहीं। अतएव संसार में इच्छापूर्तिजन्य सुख के पलड़े से अपूर्ण इच्छाजन्य दुःख का पलड़ा भारी ही रहता है। इसीलिए उसमें सुखाभास कहा गया है। मोक्ष की स्थिति ऐसी है कि उसमें इच्छाओं का ही अभाव हो जाता है और स्वाभाविक संतोष प्रकट होता है। इसलिए उसमें संतोषजन्य सुख ही सुख है। यही सच्चा सुख है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। २।

यथार्थ रूप से पदार्थों का निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु

तन्निसर्गादधिगमाद्वा। ३।

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग अर्थात् परिणाम मात्र से अथवा अधिगम अर्थात् उपदेशादि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

जगत् के पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने की रुचि सांसारिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की महत्त्वाकांक्षा से होती है। धन, प्रतिष्ठा आदि सांसारिक वासना के कारण जो तत्त्व-जिज्ञासा होती है वह सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम मोक्ष नहीं, संसार होता है। परन्तु तत्त्वनिश्चय की जो रुचि मात्र आत्मिक तृप्ति के लिए, आध्यात्मिक विकास के लिए होती है वही सम्यग्दर्शन है।

निश्चय और व्यवहार सम्यक्त्व—आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप में जानने की, हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि के रूप में एक प्रकार का जो आत्मिक परिणाम है वही निश्चय सम्यक्त्व है। उस रुचि से होनेवाली धर्मतत्त्वनिष्ठा व्यवहार सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के लिङ्ग—सम्यग्दर्शन की पहचान करानेवाले लिंग पाँच हैं—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। १. तत्त्वों के असत् पक्षपात से होनेवाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम प्रशम है। २. सांसारिक बन्धनों का भय संवेग है। ३. विषयों में आसक्ति का कम होना निर्वेद है। ४. दुःखी प्राणियों का दुःख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है। ५. आत्मा आदि परोक्ष किन्तु युक्तिप्रमाण से सिद्ध पदार्थों का स्वीकार आस्तिक्य है।

हेतुभेद—सम्यग्दर्शन के योग्य आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होते ही सम्यग्दर्शन का

आविर्भाव होता है। पर किसी आत्मा को उसके आविर्भाव में बाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं। एक व्यक्ति शिक्षक आदि की मदद से शिल्प आदि कोई कला सीख लेता है और दूसरा बिना किसी की मदद के अपने-आप सीख लेता है। आन्तरिक कारण की समानता होने पर भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा को लेकर प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगम-सम्यग्दर्शन ये दो भेद किये गये हैं। बाह्य निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई प्रतिमा आदि धार्मिक वस्तु के अवलोकन से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, कोई गुरु का उपदेश सुनकर, कोई शास्त्र पढ़-सुनकर और कोई सत्संग के द्वारा।

उत्पत्ति-क्रम[1]—अनादिकालीन संसार-प्रवाह में तरह-तरह के दुःखों का अनुभव करते-करते योग्य आत्मा में कभी अपूर्व परिणामशुद्धि हो जाती है। इस परिणामशुद्धि को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से रागद्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य का आग्रह) में बाधक है। राग-द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाती है। यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व है। २–३।

तात्त्विक अर्थों का नाम-निर्देश

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्[2] ।४।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तत्त्व हैं।

बहुत-से ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व कहे गये हैं, परन्तु यहाँ पुण्य और पाप दोनों का आस्रव या बन्धतत्त्व में समावेश करके सात तत्त्व ही कहे गये हैं। अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए—पुण्य-पाप दोनों द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि आत्मसम्बद्ध कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध-विशेष ही द्रव्य-बन्धतत्त्व है। द्रव्य-पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप है—दोनों ही बन्धतत्त्व में

---

१. उत्पत्ति-क्रम की स्पष्टता के लिए देखिए—हिन्दी **दूसरा कर्मग्रन्थ**, पृ० ७ तथा **चौथा कर्मग्रन्थ**, प्रस्तावना, पृ० १३।

२. बौद्धदर्शन में जो दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य हैं, सांख्य तथा योगदर्शन में जो हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय यह चतुर्व्यूह है, जिसे न्यायदर्शन में अर्थपद कहा है, उनके स्थान में आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं।

अन्तर्भूत हैं, क्योंकि बन्ध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय (परिणाम) ही भावबन्ध है।

प्रश्न—आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व न तो जीव-अजीव की तरह स्वतंत्र हैं और न अनादि-अनन्त। वे तो यथासम्भव जीव या अजीव की अवस्था-विशेष ही हैं। अतः उन्हें जीव-अजीव के साथ तत्त्वरूप से क्यों गिना गया ?

उत्तर—वस्तुस्थिति यही है अर्थात् यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ अनादि-अनन्त और स्वतंत्र भाव नहीं है किन्तु मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी होनेवाला ज्ञेय-भाव है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष होने से मोक्ष के जिज्ञासुओं के लिए जिन वस्तुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वे ही वस्तुएँ यहाँ तत्त्वरूप में वर्णित हैं। मोक्ष तो मुख्य साध्य ही है, इसलिए उसको तथा उसके कारण को जाने बिना मोक्षमार्ग में मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसी तरह यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी तत्त्व का और उसके कारण का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ में अस्खलित प्रवृत्ति नहीं कर सकता। मुमुक्षु को सबसे पहले यह जान लेना जरूरी है कि अगर मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ तो मुझमें पाया जानेवाला सामान्य स्वरूप किस-किसमें है और किसमें नहीं है। इसी ज्ञान की पूर्ति के लिए सात तत्त्वों का कथन है। जीव-तत्त्व के कथन का अर्थ है मोक्ष का अधिकारी। अजीव-तत्त्व से यह सूचित किया गया कि जगत् में एक ऐसा भी तत्त्व है जो जड़ होने से मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। बन्ध-तत्त्व से मोक्ष का विरोधी भाव और आस्रव-तत्त्व से उस विरोधी भाव का कारण निर्दिष्ट किया गया। संवर-तत्त्व से मोक्ष का कारण और निर्जरा-तत्त्व से मोक्ष का क्रम सूचित किया गया है। ४।

निक्षेपों का नामनिर्देश

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। ५।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप या विभाग होता है।

समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ-सामान्य के चार विभाग हैं। ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में चार अर्थनिक्षेप बतलाये गये हैं जिससे यह पृथक्करण स्पष्ट रूप

से हो सके कि मोक्ष-मार्गरूप से सम्यग्दर्शन आदि अर्थ और तत्त्वरूप से जीवाजीवादि अर्थ अमुक प्रकार का लेना चाहिए, दूसरे प्रकार का नहीं। वे चार निक्षेप ये हैं : १. जो अर्थ व्युत्पत्ति-सिद्ध नहीं है, मात्र माता, पिता या अन्य लोगों के संकेत से जाना जाता है वह नामनिक्षेप है; जैसे, एक ऐसा व्यक्ति जिसमें सेवक-योग्य कोई गुण नहीं है, पर किसी ने जिसका नाम सेवक रख दिया है। २. जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र हो अथवा जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया हो वह स्थापना-निक्षेप है; जैसे, किसी सेवक का चित्र या मूर्ति। ३. जो अर्थ भावनिक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् उसकी पूर्व या उत्तर अवस्थारूप हो वह द्रव्यनिक्षेप है; जैसे, एक ऐसा व्यक्ति जो वर्तमान में सेवाकार्य नहीं करता, पर या तो वह सेवा कर चुका है या आगे करने वाला है। ४. जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति[1] या प्रवृत्ति-निमित्त ठीक-ठीक घटित हो वह भावनिक्षेप है; जैसे, एक ऐसा व्यक्ति जो सेवक योग्य कार्य करता है।

सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के और जीव-अजीवादि तत्त्वों के भी चार-चार निक्षेप हो सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में वे भावरूप ही ग्राह्य हैं। ५।

१. संक्षेप में नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रूढ़। रसोइया, सुनार इत्यादि यौगिक शब्द हैं। गाय, घोड़ा इत्यादि रूढ़ शब्द हैं। रसोई बनानेवाला रसोइया और सुवर्ण का काम करनेवाला सुनार। यहाँ रसोई और सुवर्ण का काम करने की क्रिया ही रसोइया और सुनार शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। अर्थात् ये शब्द ऐसी क्रिया के आश्रय से ही बने हैं और इसीलिए वह क्रिया ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती हैं। यदि यही बात संस्कृत शब्दों पर लागू करनी हो तो पाचक, कुम्भकार आदि शब्दों में क्रमशः पाक-क्रिया और घट-निर्माण की क्रिया को व्युत्पत्ति-निमित्त समझना चाहिए। सारांश यह है कि यौगिक शब्दों में व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रवृति का निमित्त बनता है। लेकिन रूढ़ शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते, रूढ़ि के अनुसार उनका अर्थ होता है। गाय (गो), घोड़ा (अश्व) आदि शब्दों की कोई खास व्युत्पत्ति नहीं होती, लेकिन यदि कोई किसी प्रकार कर ले तो भी अन्त में उसका व्यवहार तो रूढ़ि के अनुसार ही होता है, व्युत्पत्ति के अनुसार नहीं। अमुक-अमुक प्रकार की आकृति-जाति ही गाय, घोड़ा आदि रूढ़ शब्दों के व्यवहार का निमित है। अतः उस आकृति-जाति को वैसे शब्दों का व्युत्पत्ति-निमित नहीं लेकिन प्रवृत्ति-निमित्त ही कहा जाता हैं।

जहाँ यौगिक शब्द (विशेषणरूप) हो वहाँ व्युत्पत्ति-निमित्तवाले अर्थ को भाव-निक्षेप और जहाँ रूढ़ शब्द (जाति-नाम) हो वहाँ प्रवृत्ति-निमित्तवाले अर्थ को भाव-निक्षेप समझना चाहिए।

तत्त्वों को जानने के उपाय

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है ।

नय और प्रमाण का अन्तर—नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञान हैं, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण अनेक अंशों का । वस्तु में अनेक धर्म होते हैं । किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय करना, जैसे नित्यत्व-धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्य हैं' ऐसा निश्चय करना नय है । अनेक धर्मों द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना, जैसे नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्मोंद्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्यानित्य आदि अनेक रूप हैं' ऐसा निश्चय करना प्रमाण है । दूसरे शब्दों में, नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है, नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से । ६ ।

तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणा-द्वारों[1] का निर्देश

निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः । ७ ।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च । ८ ।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से; तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है ।

कोई भी जिज्ञासु जब पहले-पहल विमान आदि किसी नई वस्तु को देखता या उसका नाम सुनता है तब उसकी जिज्ञासा-वृत्ति जाग उठती है और इससे वह उस अदृष्टपूर्व या अश्रुतपूर्व वस्तु के संबंध में अनेक प्रश्न करने लगता है । वह उस वस्तु के स्वभाव, रूप-रंग, उसके मालिक, बनाने के उपाय, रखने का स्थान, उसके टिकाऊपन की अवधि, उसके प्रकार आदि के संबंध में नानाविध प्रश्न करता है और उन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करके अपनी ज्ञानवृद्धि करता है । इसी तरह अन्तर्दृष्टि व्यक्ति भी मोक्षमार्ग को सुनकर या हेय-उपादेय

१. किसी भी वस्तु में प्रवेश करने का मतलब है उसकी जानकारी प्राप्त करना और विचार करना । इसका मुख्य साधन उसके विषय में विविध प्रश्न करना ही है । प्रश्नों का जितना स्पष्टीकरण मिले उतना ही उस वस्तु में प्रवेश समझना चाहिए । अतः प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात् विचारणा द्वारा उसकी तह तक पहुँचने के द्वार है । अतः विचारणा (मीमांसा)-द्वार का मतलब हुआ प्रश्न । शास्त्रों में उनको अनुयोग-द्वार कहा गया है । अनुयोग अर्थात् व्याख्या या विवरण, उसके द्वार अर्थात् प्रश्न ।

आध्यात्मिक तत्त्व को सुनकर तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नों के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है। यही आशय प्रस्तुत दो सूत्रों में प्रकट किया गया है। निर्देश आदि सूत्रोक्त चौदह प्रश्नों को लेकर सम्यग्दर्शन पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

१. निर्देश (तत्त्वरुचि)—यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। २. स्वामित्व (अधिकारित्व)—सम्यग्दर्शन का अधिकारी जीव ही है, अजीव नहीं, क्योंकि वह जीव का ही गुण या पर्याय है। ३. साधन (कारण)—दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम और क्षय ये तीन सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण हैं। बहिरङ्ग कारण शास्त्रज्ञान, जातिस्मरण, प्रतिमादर्शन, सत्संग आदि अनेक हैं। ४. अधिकरण (आधार)—सम्यग्दर्शन का आधार जीव ही है, क्योंकि वह उस का परिणाम होने के कारण उसी में रहता है। सम्यग्दर्शन गुण है, इसलिए यद्यपि उसका स्वामी और अधिकरण अलग-अलग नहीं है, तथापि जहाँ जीव आदि द्रव्य के स्वामी और अधिकरण का विचार करना हो वहाँ उन दोनों में भिन्नता भी पाई जाती है। जैसे, व्यवहारदृष्टि से देखने पर एक जीव का स्वामी कोई दूसरा जीव होगा, पर अधिकरण उसका कोई स्थान या शरीर ही कहा जायेगा। ५. स्थिति (कालमर्यादा)—सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सादि-अनन्त है। तीनों प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे सादि अर्थात् पूर्वावधिवाले हैं। परन्तु उत्पन्न होकर भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कायम नहीं रहते, इसलिए वे दो तो सान्त अर्थात् उत्तर अवधिवाले भी हैं। पर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद नष्ट नहीं होता इसलिए वह अनन्त है। इसी अपेक्षा से सामान्यतया सम्यग्दर्शन को सादि-सान्त और सादि-अनन्त समझना चाहिए। ६. विधान (प्रकार)—सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन प्रकार हैं।

७. सत् (सत्ता)—यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्तारूप से सभी जीवों में विद्यमान है, पर उसका आविर्भाव केवल भव्य जीवों में होता है, अभव्यों में नहीं। ८. संख्या (गिनती)—सम्यक्त्व की गिनती उसे प्राप्त करने वालों की संख्या पर निर्भर है। आज तक अनन्त जीवों ने सम्यक्त्व-लाभ किया है और आगे अनन्त जीव उसको प्राप्त करेंगे, इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन संख्या में अनन्त है। ९. क्षेत्र (लोकाकाश)—सम्यग्दर्शन का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश नहीं है किन्तु उसका असंख्यातवाँ भाग है। चाहे सम्यग्दर्शनी एक जीव को लेकर या अनन्त जीवों को लेकर विचार किया जाय तो भी सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग समझना चाहिए, क्योंकि सभी सम्यग्दर्शनवाले जीवों का

निवास क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही है। फिर भी इतना अन्तर अवश्य होगा कि एक सम्यक्त्वी जीव के क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त जीवों का क्षेत्र परिमाण में बड़ा होगा, क्योंकि लोक का असंख्यातवाँ भाग भी तरतमभाव से असंख्यात प्रकार का होता है। १०. स्पर्शन—निवासस्थानरूप आकाश के चारों ओर के प्रदेशों को छूना स्पर्शन है। क्षेत्र में केवल आधारभूत आकाश ही आता है। स्पर्शन में आधार-क्षेत्र के चारों तरफ के आधेय द्वारा स्पर्शित आकाश-प्रदेश भी आते हैं। यही क्षेत्र और स्पर्शन में अन्तर है। सम्यग्दर्शन का स्पर्शन-क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही होता है, परन्तु यह भाग उसके क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है, क्योंकि इसमें क्षेत्रभूत आकाशपर्यन्त प्रदेश भी सम्मिलित हैं। ११. काल (समय)—एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का काल सादि-सान्त या सादि-अनन्त होता है, पर सब जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त समझना चाहिए, क्योंकि भूतकाल का कोई भी भाग ऐसा नहीं है कि अब सम्यक्त्वी बिलकुल न रहा हो। भविष्यत्काल के विषय में भी यही बात है अर्थात् अनादिकाल से सम्यग्दर्शन का आविर्भाव-क्रम जारी है जो अनन्तकाल तक चलता रहेगा। १२. अन्तर (विरहकाल)—एक जीव को लेकर सम्यग्दर्शन का विरहकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त[1] और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्त[2] जितना समझना चाहिए, क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन (नाश) हो जाने पर पुनः वह जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त हो सकता है। ऐसा न हुआ तो भी अन्त में अपार्ध-पुद्गलपरावर्त के बाद अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। परन्तु नाना जीवों की अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शन का विरहकाल बिलकुल नहीं होता, क्योंकि नाना जीवों में तो किसी-न-किसी को सम्यग्दर्शन होता ही रहता है। १३. भाव (अवस्था-विशेष)—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में सम्यक्त्व पाया जाता है। ये भाव सम्यक्त्व के आवरणभूत दर्शनमोहनीय कर्म के

---

१. आवली से अधिक और मुहूर्त से न्यून काल अन्तर्मुहूर्त है। आवली से एक समय अधिक काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, मुहूर्त में एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त और बीच का सब काल मध्यम अन्तर्मुहूर्त है। यह दिगम्बर परम्परा है। (देखें—**तिलोय-पण्णत्ति**, ४.२८८; गो० **जीवकांड**, गा० ५७३-५१५।) श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नौ समय का जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। बाकी सब समान है।

२. जीव पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करता है। किसी जीव को जगत् में विद्यमान समग्र पुद्गल-परमाणुओं को आहारक शरीर के सिवाय शेष सब शरीरों के रूप में तथा भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करके उन्हें छोड़ देने में जितना काल लगता है उसे पुद्गलपरावर्त कहते है। इसमें कुछ ही काल कम हो तो उसे अपार्धपुद्गलपरावर्त कहते है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षय से उत्पन्न हैं। इन भावों से सम्यक्त्व की शुद्धि का तारतम्य जाना जा सकता है। औपशमिक[1] की अपेक्षा क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाव वाला सम्यक्त्व उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर होता है। उक्त तीन भावों के सिवाय दो भाव और भी हैं—औदयिक तथा पारिणामिक। इन भावों में सम्यक्त्व नहीं होता। अर्थात् दर्शनमोहनीय को उदयावस्था में सम्यक्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। इसी तरह सम्यक्त्व अनादिकाल से जीवत्व के समान अनावृत अवस्था में न पाये जाने के कारण पारिणामिक अर्थात् स्वाभाविक भी नहीं है। १४. अल्पबहुत्व (न्यूनाधिकता)—पूर्वोक्त तीन प्रकार के सम्यक्त्व में औपशमिक सम्यक्त्व सबसे अल्प है, क्योंकि ऐसे सम्यक्त्व वाले जीव अन्य प्रकार के सम्यक्त्व वालों से हमेशा थोड़े ही होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्यातगुणा और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तगुणा है। क्षायिक सम्यक्त्व के अनन्तगुणा होने का कारण यह है कि यह सम्यक्त्व समस्त मुक्त जीवों में होता है और मुक्त जीव अनन्त हैं। ७-८।

सम्यग्ज्ञान के भेद

मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्। ९।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—ये पाँच ज्ञान हैं।

जैसे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाया गया है वैसे सम्यग्ज्ञान का नहीं। क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण जान लेने से सम्यग्ज्ञान का लक्षण अपने-आप ज्ञात किया जा सकता है। जीव कभी सम्यग्दर्शन-रहित तो होता है, पर ज्ञानरहित नहीं। किसी-न-किसी प्रकार का ज्ञान जीव में अवश्य रहता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व का आविर्भाव होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान में यही अन्तर है कि पहला सम्यक्त्व-सहचरित है और दूसरा सम्यक्त्वरहित अर्थात् मिथ्यात्व-सहचरित है।

प्रश्न—सम्यक्त्व का ऐसा क्या प्रभाव है कि उसके अभाव में तो ज्ञान कितना ही अधिक और अभ्रान्त क्यों न हो, असम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता

---

१. यहाँ क्षायोपशमिक को औपशमिक की अपेक्षा जो शुद्ध कहा गया है वह परिणाम की अपेक्षा से नहीं, स्थिति की अपेक्षा से है। परिणाम की अपेक्षा से तो औपशमिक ही ज्यादा शुद्ध है। क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में तो मिथ्यात्व का प्रदेशोदय हो सकता है किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व के समय किसी तरह के मिथ्यात्व-मोहनीय का उदय सम्भव नहीं। तथापि औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक की स्थिति बहुत लंबी होती है। इसी अपेक्षा से इसे विशुद्ध भी कह सकते हैं।

है और थोड़ा अस्पष्ट व भ्रमात्मक ज्ञान भी सम्यक्त्व के प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है ?

उत्तर—यह अध्यात्म-शास्त्र है। इसलिए सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान का विवेक आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है, न्याय या प्रमाणशास्त्र की तरह विषय की दृष्टि से नहीं। न्यायशास्त्र में जिस ज्ञान का विषय यथार्थ हो वही सम्यग्ज्ञान—प्रमाण और जिसका विषय अयथार्थ हो वह असम्यग्ज्ञान—प्रमाणाभास कहलाता है। परन्तु इस आध्यात्मिक शास्त्र में न्यायशास्त्रसम्मत सम्यग्ज्ञान-असम्यग्ज्ञान का वह विभाजन मान्य होने पर भी गौण है। यहाँ यही विभाजन मुख्य है कि जिस ज्ञान से आध्यात्मिक उत्क्रान्ति (विकास) हो वही सम्यग्ज्ञान है और जिससे संसार-वृद्धि या आध्यात्मिक पतन हो वही असम्यग्ज्ञान है। सम्भव है कि सामग्री की कमी के कारण सम्यक्त्वी जीव को कभी किसी विषय में संशय भी हो, भ्रम भी हो, एवं ज्ञान भी अस्पष्ट हो; पर सत्यगवेषक और कदाग्रहरहित होने के कारण वह अपने से महान्, प्रामाणिक, विशेषदर्शी व्यक्ति के आश्रय से अपनी कमी को सुधार लेने के लिए सदैव उत्सुक रहता है, सुधार भी लेता है और अपने ज्ञान का उपयोग वासनापोषण में न कर मुख्यतया आध्यात्मिक विकास में ही करता है। सम्यक्त्वशून्य जीव का स्वभाव इससे विपरीत होता है। सामग्री की पूर्णता के कारण उसे निश्चयात्मक, अधिक और स्पष्ट ज्ञान होता है तथापि वह कदाग्रही प्रकृति के कारण घमंडी होकर किसी विशेषदर्शी के विचारों को भी तुच्छ समझता है और अन्त में अपने ज्ञान का उपयोग आत्मिक प्रगति में न कर सांसारिक महत्त्वाकांक्षा में ही करता है। ९।

प्रमाण-चर्चा

तत् प्रमाणे। १०।

आद्ये परोक्षम्। ११।

प्रत्यक्षमन्यत्। १२।

वह अर्थात् पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है।
प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।
शेष सब (तीन) ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रमाण-विभाग—मति, श्रुत आदि ज्ञान के पाँचों प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों में विभक्त हैं।

प्रमाण-लक्षण—प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले बताया जा चुका है कि जो ज्ञान वस्तु को अनेकरूप से जानता है वह प्रमाण है। उसके विशेष लक्षण

ये हैं—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है; जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।

उक्त पाँच में से पहले दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष-प्रमाण कहलाते हैं, क्योंकि ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की मदद से उत्पन्न होते हैं।

अवधि, मनःपर्याय और केवल ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होते हैं।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण भिन्न प्रकार से किया गया है। उसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और लिङ्ग (हेतु) तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा गया है; परन्तु वह लक्षण यहाँ स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से और इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान परोक्ष रूप से इष्ट है। मति और श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखनेवाले होने से परोक्ष समझने चाहिए और अवधि आदि तीनों ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना आत्मिक योग्यता से उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष। इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को कहीं-कहीं पूर्वोक्त न्यायशास्त्र के लक्षणानुसार लौकिक दृष्टि की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा गया है।[1] १०–१२।

मतिज्ञान के एकार्थक शब्द

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। १३।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये शब्द पर्यायभूत (एकार्थवाचक) हैं।

प्रश्न—किस ज्ञान को मति कहते हैं ?

उत्तर—जो ज्ञान वर्तमान-विषयक हो उसे मति कहते हैं।

प्रश्न—क्या स्मृति, संज्ञा और चिन्ता भी वर्तमान-विषयक ही हैं ?

उत्तर—नहीं। पहले अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण स्मृति है, इसलिए वह अतीत-विषयक है। पहले अनुभव की हुई और वर्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु की एकता का तालमेल संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है, इसलिए वह अतीत

---

१. **प्रमाणमीमांसा** आदि तर्कग्रन्थों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-मनोजन्य अवग्रह आदि ज्ञान का वर्णन है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—**न्यायावतार**, गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में जैन प्रमाणमीमांसा-पद्धति का विकासक्रम।

और वर्तमान उभय-विषयक है। चिन्ता भावी वस्तु की विचारणा (चिन्तन) है, इसलिए वह अनागत-विषयक है।

प्रश्न—इस कथन से तो मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ये पर्यायवाची शब्द नहीं हो सकते, क्योंकि इनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर—विषय-भेद और कुछ निमित्त-भेद होने पर भी मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तरङ्ग कारण जो मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है वही सामान्य रूप से यहाँ विवक्षित है; इसी अभिप्राय से यहाँ मति आदि शब्दों को पर्यायवाची कहा गया है।

प्रश्न—अभिनिबोध शब्द के विषय में तो कुछ नहीं कहा गया। वह किस प्रकार के ज्ञान का वाचक है ?

उत्तर—अभिनिबोध मतिज्ञानबोधक एक सामान्य शब्द है। वह मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन सभी ज्ञानों के लिए प्रयुक्त होता है अर्थात् मति-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाले सब प्रकार के ज्ञानों के लिए अभिनिबोध शब्द सामान्य रूप में व्यवहृत होता है और मति आदि शब्द उस क्षयोपशमजन्य खास-खास ज्ञानों के लिए हैं।

प्रश्न—इस तरह तो अभिनिबोध सामान्य शब्द हुआ और मति आदि उसके विशेष शब्द हुए, फिर ये पर्यायवाची शब्द कैसे ?

उत्तर—यहाँ सामान्य और विशेष की भेद-विवक्षा न करके सबको पर्यायवाची शब्द कहा गया है। १३।

मतिज्ञान का स्वरूप

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् । १४ ।

मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यहाँ मतिज्ञान के इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ये दो कारण बतलाये गये हैं। इनमें चक्षु आदि इन्द्रिय तो प्रसिद्ध हैं, पर अनिन्द्रिय से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अनिन्द्रिय अर्थात् मन।

प्रश्न—जब चक्षु आदि तथा मन ये सभी मतिज्ञान के साधन हैं तब एक को इन्द्रिय और दूसरे को अनिन्द्रिय कहने का कारण ?

उत्तर—चक्षु आदि बाह्य साधन हैं और मन आभ्यन्तर साधन है। यही भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय संज्ञाभेद का कारण है। १४।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहेहावायधारणाः । १५ ।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चार भेद हैं ।

प्रत्येक इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मतिज्ञान के चार-चार भेद हैं । अतएव पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों के अवग्रह आदि चार-चार भेद गिनने से मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	,,	,,	,,	,,
घ्राण	,,	,,	,,	,,
चक्षु	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र	,,	,,	,,	,,
मन	,,	,,	,,	,,

अवग्रह आदि उक्त चारों भेदों के लक्षण—१. नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है । जैसे, गाढ़ अन्धकार में कुछ छू जाने पर यह ज्ञान होना कि यह कुछ है । इस ज्ञान में यह नहीं मालूम होता कि किस चीज का स्पर्श हुआ है, इसलिए वह अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है । २. अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है वह ईहा है । जैसे, यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का यह संशय होने पर ऐसी विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए, क्योंकि यदि साँप होता तो इतना सख्त आघात होने पर वह फुफकारे बिना न रहता । यही विचारणा सम्भावना या ईहा है । ३. ईहा के द्वारा ग्रहण किये हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान (एकाग्रतापूर्वक निश्चय) अवाय है । जैसे, कुछ काल तक सोचने और जाँच करने पर निश्चय हो जाना कि यह साँप का स्पर्श नहीं, रस्सी का ही है, इसे अवाय कहते हैं । ४. अवायरूप निश्चय कुछ काल तक कायम रहता है, फिर मन के विषयान्तर में चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है पर ऐसा संस्कार छोड़ जाता है कि आगे कभी

योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण—यह सब मति-व्यापार धारणा कहलाता है।

प्रश्न—उक्त चारों भेदों का क्रम निर्हेतुक है या सहेतुक ?

उत्तर—सहेतुक है। सूत्र से स्पष्ट है कि सूत्र में निर्दिष्ट क्रम से ही अवग्रहादि की उत्पत्ति होती है। १५।

अवग्रह आदि के भेद

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम्। १६।

सेतर (प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव रूप में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप मतिज्ञान होता है।

पांच इन्द्रियां और मन इन छः साधनों से होनेवाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि रूप में जो चौबीस भेद कहे गये हैं वे क्षयोपशम और विषय की त्रिविधता से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। जैसे—

बहुग्राही	छः अवग्रह	छः ईहा	छः अवाय	छः धारणा
अल्पग्राही	,,	,,	,,	,,
बहुविधग्राही	,,	,,	,,	,,
एकविधग्राही	,,	,,	,,	,,
क्षिप्रग्राही	,,	,,	,,	,,
अक्षिप्रग्राही	,,	,,	,,	,,
अनिश्रितग्राही	,,	,,	,,	,,
निश्रितग्राही	,,	,,	,,	,,
असंदिग्धग्राही	,,	,,	,,	,,
संदिग्धग्राही	,,	,,	,,	,,
ध्रुवग्राही	,,	,,	,,	,,
अध्रुवग्राही	,,	,,	,,	,,

बहु अर्थात् अनेक और अल्प अर्थात् एक। जैसे, दो या दो से अधिक पुस्तकों को जाननेवाले अवग्रह, ईहा आदि चारों क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं और एक

पुस्तक को जाननेवाले अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय और अल्पग्राहिणी धारणा कहलाते हैं।

बहुविध अर्थात् अनेक प्रकार से और एकविध अर्थात् एक प्रकार से। जैसे आकार-प्रकार, रूप-रंग या मोटाई आदि में विविधता रखनेवाली पुस्तकों को जाननेवाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह, बहुविधग्राहिणी ईहा, बहुविधग्राही अवाय तथा बहुविधग्राहिणी धारणा; और आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तकों को जाननेवाले वे ज्ञान एकविधग्राही अवग्रह, एकविधग्राहिणी ईहा आदि कहलाते हैं। बहु तथा अल्प का अभिप्राय व्यक्ति की संख्या से है और बहुविध तथा एकविध का अभिप्राय प्रकार, किस्म या जाति की संख्या से है। यही दोनों में अन्तर है।

शीघ्र जाननेवाले चारों मतिज्ञान क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि और विलंब से जाननेवाले अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। देखा जाता है कि इन्द्रिय, विषय आदि सब बाह्य सामग्री तुल्य होने पर भी मात्र क्षयोपशम की पटुता के कारण एक मनुष्य उस विषय का ज्ञान जल्दी प्राप्त कर लेता है और क्षयोपशम की मन्दता के कारण दूसरा मनुष्य देर से प्राप्त कर पाता है।

अनिश्रित[1] अर्थात् लिंग-अप्रमित (हेतु द्वारा असिद्ध) और निश्रित अर्थात् लिंग-प्रमित वस्तु। जैसे पूर्व में अनुभूत शीत, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप लिंग से वर्तमान में जूई के फूलों को जाननेवाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से निश्रित-ग्राही (सलिंगग्राही) अवग्रह आदि और उक्त लिंग के बिना ही उन फूलों को जाननेवाले अनिश्रितग्राही (अलिंगग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं।

असंदिग्ध[2] अर्थात् निश्चित और संदिग्ध अर्थात् अनिश्चित। जैसे यह चन्दन

---

१. अनिश्रित और निश्रित शब्द का यही अर्थ नन्दीसूत्र की टीका में भी है; पर इसके सिवाय दूसरा अर्थ भी उस टीका में श्री मलयगिरि ने बतलाया है; जैसे परधर्मों से मिश्रित ग्रहण निश्रितावग्रह और परधर्मों से अमिश्रित ग्रहण अनिश्रितावग्रह है। देखें—पृ० १८३, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित।

दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनिःसृत' पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया गया है कि सम्पूर्ण-तया आविर्भूत नहीं ऐसे पुद्गलों का ग्रहण 'अनिःसृतावग्रह' और सम्पूर्णतया आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण 'निःसृतावग्रह' है। देखें—इसी सूत्र पर राजवार्तिक टीका।

२. इसके स्थान पर दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनुक्त' पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया गया है कि एक ही वर्ण निकलने पर पूर्ण अनुच्चारित शब्द को अभिप्रायमात्र से जान लेना कि आप अमुक शब्द बोलनेवाले हैं, अनुक्तावग्रह है। अथवा, स्वर का संचारण करने से पहले ही वीणा आदि वादित्र की ध्वनिमात्र से जान लेना कि आप अमुक स्वर

का ही स्पर्श है, फूल का नहीं। इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जाननेवाले उक्त चारों ज्ञान निश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनों शीतल होते हैं—इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होनेवाले संदेहयुक्त चारों ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

ध्रुव अर्थात् अवश्यम्भावी और अध्रुव अर्थात् कदाचिद्भावी। यह देखा गया है कि इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध तथा मनोयोगरूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उस विषय को जान ही लेता है और दूसरा उसे कभी जान पाता है, कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को जाननेवाले उक्त चारों ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करनेवाले और कभी न ग्रहण करनेवाले उक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

प्रश्न—उक्त बारह भेदों में से कितने भेद विषय की विविधता और कितने भेद क्षयोपशम की पटुता-मन्दतारूप विविधता के आधार पर किये गये हैं ?

उत्तर—बहु, अल्प, बहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय की विविधता पर अवलम्बित हैं, शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर।

प्रश्न—अब तक कुल कितने भेद हुए ?

उत्तर—दो सौ अट्ठासी भेद हुए।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छः भेदों के साथ अवग्रह आदि के चार-चार भेदों का गुणा करने से चौबीस और बहु, अल्प आदि उक्त बारह प्रकारों के साथ चौबीस का गुणा करने से दो सौ अट्ठासी भेद हुए। १६।

निकालनेवाले हैं, अनुक्तावग्रह है। इसके विपरीत उक्तावग्रह है। देखें—इसी सूत्र पर **राजवार्तिक** टीका।

श्वेताम्बर ग्रन्थ **नन्दीसूत्र** में 'असंदिग्ध' ऐसा एकमात्र पाठ है। उसकी टीका में उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही है (देखें पृ० १८३)। परन्तु **तत्त्वार्थभाष्य** की वृत्ति में अनुक्त पाठ भी है। उसका अर्थ **राजवार्तिक** के अनुसार है। किन्तु वृत्तिकार ने लिखा है कि अनुक्त पाठ रखने से इसका अर्थ केवल शब्द-विषयक अवग्रह आदि पर ही लागू होता है, स्पर्श-विषयक अवग्रह आदि पर नहीं। इस अपूर्णता के कारण अन्य आचार्यों ने 'असंदिग्ध' पाठ रखा है। देखें—**तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति**, पृ० ५८, मनसुख भगुभाई, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित।

सामान्य रूप से अवग्रह आदि का विषय

अर्थस्य । १७ ।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—ये चारों मतिज्ञान अर्थ (वस्तु) को ग्रहण करते हैं ।

अर्थ अर्थात् वस्तु । द्रव्य—सामान्य और पर्याय—विशेष इन दोनों को वस्तु कहते हैं । इसलिए प्रश्न होता है कि क्या इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्रव्यरूप वस्तु को विषय करते हैं या पर्यायरूप वस्तु को ?

उत्तर—उक्त अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान मुख्यतः पर्याय को ग्रहण करते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं । द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है । पर्याय द्रव्य का एक अंश है । इसलिए अवग्रह, ईहा आदि द्वारा जब इन्द्रियाँ और मन अपने-अपने विषयभूत पर्याय को जानते हैं तब वे उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य को ही अंशतः जानते हैं; क्योंकि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहता और द्रव्य भी पर्याय-रहित नहीं होता, जैसे नेत्र का विषय रूप, संस्थान (आकार) आदि हैं जो पुद्गल द्रव्य के पर्याय विशेष हैं । 'नेत्र आम्रफल आदि को ग्रहण करता है' इसका अर्थ इतना ही है कि वह उसके रूप तथा आकार-विशेष को जानता है । रूप और आकार-विशेष आम से भिन्न नहीं हैं इसलिए स्थूल दृष्टि से यह कहा जाता है कि नेत्र से आम देखा गया, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने सम्पूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया क्योंकि आम में तो रूप और संस्थान के अतिरिक्त स्पर्श, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय हैं जिनको जानने में नेत्र असमर्थ है । इसी तरह स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रियाँ जब गरम-गरम जलेबी आदि वस्तु को ग्रहण करती हैं तब वे क्रमशः उस वस्तु के उष्ण स्पर्श, मधुर रस और सुगन्ध-रूप पर्याय को ही जानती हैं । कोई भी इन्द्रिय वस्तु के सम्पूर्ण पर्यायों को ग्रहण नहीं कर सकती । कान भी भाषात्मक पुद्गल के ध्वनि-रूप पर्याय को ही ग्रहण करता है, अन्य पर्याय को नहीं । मन भी किसी विषय के अमुक अंश का ही विचार करता है । वह एक साथ संपूर्ण अंशों का विचार करने में असमर्थ है । इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि चारों ज्ञान पर्याय को ही मुख्यतया विषय करते हैं और द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं ।

प्रश्न—पूर्व सूत्र और इस सूत्र में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—यह सूत्र सामान्य का वर्णन करता है और पूर्व सूत्र विशेष का अर्थात् इस सूत्र में पर्याय या द्रव्यरूप वस्तु को अवग्रह आदि ज्ञान का विषय जो

सामान्य रूप से बतलाया गया है उसी की संख्या, जाति आदि द्वारा पृथक्करण करके बहु, अल्प आदि विशेष रूप से पूर्व सूत्र में बतलाया गया है। १७।

इन्द्रियों की ज्ञानोत्पत्ति-पद्धतिसम्बन्धी भिन्नता के कारण अवग्रह के अवान्तर भेद

व्यञ्जनस्याऽवग्रहः। १८।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। १९।

व्यञ्जन—उपकरणेन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने पर अवग्रह ही होता है।

नेत्र और मन से व्यञ्जन होकर अवग्रह नहीं होता।

जैसे लंगड़े मनुष्य को चलने में लकड़ी का सहारा अपेक्षित है वैसे ही आत्मा की आवृत चेतना शक्ति को पराधीनता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में सहारे की अपेक्षा है। उसे इन्द्रिय और मन का बाहरी सहारा चाहिए। सब इन्द्रियों और मन का स्वभाव समान नहीं है, इसलिए उनके द्वारा होनेवाली ज्ञानधारा के आविर्भाव का क्रम भी समान नहीं होता। यह क्रम दो प्रकार का है—मन्दक्रम और पटुक्रम।

मन्दक्रम में ग्राह्य विषय के साथ उस-उस विषय की ग्राहक उपकरणेन्द्रिय[1] का संयोग (व्यञ्जन) होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है। शुरू में ज्ञान की मात्रा इतनी अल्प होती है कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध भी नहीं हो पाता, परन्तु ज्यों-ज्यों विषय और इन्द्रिय का संयोग पुष्ट होता जाता है, ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है। उक्त संयोग (व्यंजन) की पुष्टि के साथ कुछ काल में तज्जनित ज्ञानमात्रा भी इतनी पुष्ट हो जाती है कि जिससे 'यह कुछ है' ऐसा विषय का सामान्य बोध (अर्थावग्रह) होता है। इस अर्थावग्रह का उक्त व्यञ्जन से उत्पन्न पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार, जो उस व्यञ्जन की पुष्टि के साथ ही क्रमशः पुष्ट होता जाता है, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है; क्योंकि उसके होने में व्यञ्जन अपेक्षित है। यह व्यञ्जनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर भी इतना अल्प होता है कि उससे विषय का सामान्य बोध भी नहीं होता। इसलिए उसको अव्यक्ततम, अव्यक्ततर, अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। जब वह ज्ञानव्यापार इतना पुष्ट हो जाय कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध हो सके तब वही सामान्य बोधकारक ज्ञानांश अर्थावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह भी व्यञ्जनावग्रह का एक चरम पुष्ट अंश है क्योंकि उसमें भी विषय और इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित है। तथापि

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए देखें—अ० २, सू० १७।

उसे व्यञ्जनावग्रह से अलग कहने का और अर्थावग्रह कहने का प्रयोजन यह है कि उस ज्ञानांश से होनेवाला विषय का बोध ज्ञाता के ध्यान में आ सकता है। अर्थावग्रह के बाद उसके द्वारा सामान्य रूप से जाने हुए विषम की विशेष रूप से जिज्ञासा, उसका विशेष निर्णय, उस निर्णय की धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति—यह सब ज्ञानव्यापार ईहा, अवाय और धारणा रूप से तीन विभागों में पहले बतलाया जा चुका है। यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इस मन्दक्रम में जो उपकरणेन्द्रिय और विषय के संयोग की अपेक्षा कही गई है वह व्यञ्जनावग्रह के अन्तिम अंश अर्थावग्रह तक ही है। इसके बाद ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार में वह संयोग अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं है, क्योंकि उस ज्ञानव्यापार की प्रवृत्ति विशेष की ओर होने से उस समय मानसिक अवधान की प्रधानता रहती है। इसी कारण अवधारणयुक्त व्याख्यान करके प्रस्तुत सूत्र के अर्थ में कहा गया है कि 'व्यञ्जनस्यावग्रह एव' व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है अर्थात् अवग्रह (अव्यक्त ज्ञान) तक ही व्यञ्जन की अपेक्षा है, ईहा आदि में नहीं।

पटुक्रम में उपकरणेन्द्रिय और विषय के संग की अपेक्षा नहीं है। दूर, दूरतर होने पर भी योग्य सन्निधान मात्र से इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण कर लेती है और ग्रहण होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा शुरू में ही अर्थावग्रहरूप सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद क्रमशः ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार पूर्वोक्त मन्दक्रम की तरह ही प्रवृत्त होता है। सारांश यह है कि पटुक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुए बिना ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है जिसका प्रथम अंश अर्थावग्रह और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा है। इसके विपरीत मन्दक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग होने पर ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है, जिसका प्रथम अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततररूप व्यञ्जनावग्रह नामक ज्ञान, दूसरा अंश अर्थावग्रहरूप ज्ञान और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा ज्ञान है।

दृष्टान्त—मन्दक्रम की ज्ञानधारा, जिसके आविर्भाव के लिए इन्द्रिय-विषय-संयोग की अपेक्षा है, को स्पष्टतया समझने के लिए सकोरे का दृष्टान्त उपयोगी है। जैसे आवाप—भट्ठे में से तुरन्त निकाले हुए अति रूक्ष सकोरे में पानी की एक बूंद डाली जाय तो सकोरा उसे तुरन्त ही सोख लेता है, यहाँ तक कि उसका कोई नामोनिशान नहीं रहता। इसी तरह आगे भी एक-एक कर डाली गयी अनेक जलबूंदों को वह सकोरा सोख लेता है। अन्त में ऐसा समय आता है जब कि वह जलबूंदों को सोखने में असमर्थ होकर उनसे भींग जाता है और उसमें डाले हुए जलकण समूहरूप में इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते हैं। सकोरे की आर्द्रता पहले पहल जब मालूम होती है, उसके पूर्व भी उसमें जल था, पर उसने इस तरह जल को सोख लिया था कि जल के बिलकुल तिरोभूत हो जाने से

दृष्टि में आने जैसा नहीं था, पर सकोरे में वह था अवश्य। जब जल की मात्रा बढ़ी और सकोरे की सोखने की शक्ति कम हुई, तब आर्द्रता दिखाई देने लगी और जो जल प्रथम सकोरे के पेट में नहीं समा सका था वही अब उसके ऊपर के तल में इकट्ठा होने लगा और दिखलाई देने लगा। इसी तरह जब किसी सुषुप्त व्यक्ति को पुकारा जाता है तब वह शब्द उसके कान में गायब-सा हो जाता है दो-चार बार पुकारने से उसके कान में जब पौद्गलिक शब्दों की मात्रा काफी मात्रा में भर जाती है तब जलकणों से पहले पहल आर्द्र होनेवाले सकोरे की तरह उस सुषुप्त व्यक्ति के कान भी शब्दों से परिपूरित होकर उनको सामान्य रूप से जानने में समर्थ होते हैं कि 'यह क्या है'। यही सामान्य ज्ञान है जो शब्द को पहले पहल स्फुट रूप में जानता है। इसके बाद विशेष ज्ञान का क्रम शुरू होता है अर्थात् जैसे कुछ काल तक जलबिन्दु पड़ते रहने से रूक्ष सकोरा क्रमशः आर्द्र बन जाता है और उसमें जल दिखाई देता है वैसे ही कुछ काल तक शब्दपुद्गलों का संयोग होते रहने से सुषुप्त व्यक्ति के कान परिपूरित होकर उन शब्दों को सामान्य रूप में जान पाते हैं और फिर शब्दों की विशेषताओं को जानते हैं। यद्यपि यह क्रम सुषुप्त की तरह जाग्रत व्यक्ति पर भी पूरी तरह लागू होता है पर वह इतना शीघ्र होता है कि साधारण लोगों के ध्यान में मुश्किल से आता है। इसीलिए सकोरे के साथ सुषुप्त व्यक्ति का साम्य दिखलाया जाता है।

पटुक्रम की ज्ञानधारा के लिए दर्पण का दृष्टान्त उपयुक्त है। जैसे दर्पण के सामने किसी वस्तु के आते ही तुरन्त उसका उसमें प्रतिबिंब पड़ जाता है और वह दिखाई देने लगता है। इसके लिए दर्पण के साथ प्रतिबिंबित वस्तु का साक्षात् संयोग आवश्यक नहीं है, जैसे कान के साथ शब्दों का साक्षात् संयोग। केवल प्रतिबिंबग्राही दर्पण और प्रतिबिंबित होनेवाली वस्तु का योग्य देश में सन्निधान आवश्यक है। ऐसा सन्निधान होते ही प्रतिबिंब पड़ जाता है और वह तुरन्त ही दीख पड़ता है। इसी तरह नेत्र के सामने रंगवाली वस्तु के आते ही तुरन्त वह सामान्य रूप में दिखाई देने लगती है। इसके लिए नेत्र और उस वस्तु का संयोग अपेक्षित नहीं है, जैसे कान और शब्द का संयोग। केवल दर्पण की तरह नेत्र का और उस वस्तु का योग्य सन्निधान चाहिए। इसीलिए पटुक्रम में पहले पहल अर्थावग्रह माना गया है।

व्यञ्जनावग्रह का स्थान मन्दक्रमिक ज्ञानधारा में है, पटुक्रमिक ज्ञानधारा में नहीं। इसलिए प्रश्न होता है कि व्यञ्जनावग्रह किस-किस इन्द्रिय से होता है और किस-किस से नहीं होता? इसी का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि ये दोनों संयोग विना ही क्रमशः किये हुए योग्य सन्निधान मात्र से और अवधान से अपने-अपने ग्राह्य विषय को जानते हैं।

कौन नहीं जानता कि नेत्र दूर, दूरतरवर्ती वृक्ष व पर्वत आदि को ग्रहण कर लेता है और मन सुदूरवर्ती वस्तु का भी चिन्तन कर लेता है। इसीलिए नेत्र तथा मन अप्राप्यकारी माने गये हैं और उनसे होनेवाली ज्ञानधारा को पटुक्रमिक कहा गया है। कर्ण, जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ मन्दक्रमिक ज्ञानधारा की कारण हैं क्योंकि ये चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी (ग्राह्य) विषयों को उनसे संयुक्त होकर ही ग्रहण करती हैं। जब तक शब्द कान में न पड़े, शक्कर जीभ से न लगे, पुष्प का रजकण नाक में न घुसे और जल शरीर को न छुए तब तक न तो शब्द ही सुनाई देता है, न शक्कर का ही स्वाद आता है, न फूल की सुगन्ध ही आती है और न जल ही ठण्डा या गरम जान पड़ता है।

प्रश्न — मतिज्ञान के कुल कितने भेद हैं ?

उत्तर—मतिज्ञान के कुल ३३६ भेद हैं।

प्रश्न—किस प्रकार।

उत्तर—पाँच इन्द्रियाँ और मन छहों के अर्थावग्रह आदि चार-चार के हिसाब से चौबीस भेद हुए तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जनावग्रह जोड़ने से अट्ठाईस हुए। इन सबको बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह-बारह भेदों से गुणा करने पर ३३६ होते हैं। भेदों की यह गणना स्थूल दृष्टि से है। वास्तव में तो प्रकाश आदि की स्फुटता, अस्फुटता, विषयों की बिविधता और क्षयोपशम को विचित्रता के आधार पर तरतमभाववाले असंख्य होते हैं।

प्रश्न—पहले बहु, अल्प आदि जो बारह भेद कहे गये हैं वे विषयगत विशेषों पर ही लागू होते हैं, और अर्थावग्रह का विषय तो सामान्यमात्र है। इस तरह वे अर्थावग्रह में कैसे घटित हो सकते हैं ?

उत्तर—अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है : व्यावहारिक और नैश्चयिक। बहु, अल्प आदि बारह भेद प्रायः व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही हैं, नैश्चयिक के नहीं। नैश्चयिक अर्थावग्रह में जाति-गुण-क्रिया से रहित सामान्यमात्र प्रतिभासित होता है इसलिए उसमें बहु, अल्प आदि विशेषों का ग्रहण सम्भव नहीं है।

प्रश्न—व्यावहारिक और नैश्चयिक में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जो अर्थावग्रह पहले पहल सामान्यमात्र को ग्रहण करता है वह नैश्चयिक है और जिस-जिस विशेषग्राही अवायज्ञान के बाद अन्यान्य विशेषों की जिज्ञासा और अवाय होते रहते हैं वे सामान्य-विशेषग्राही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं। वही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह नहीं है जिसके बाद अन्य विशेषों की जिज्ञासा न हो। अपने बाद नये-नये विशेषों की जिज्ञासा पैदा करने वाले अन्य सभी अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं।

प्रश्न—अर्थावग्रह के बहु, अल्प आदि उक्त बारह भेदों के विषय में कहा गया कि ये भेद व्यावहारिक अर्थावग्रह के हैं, नैश्चयिक के नहीं। इस पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो फिर उक्त रीति से मतिज्ञान के ३३६ भेद कैसे होंगे? क्योंकि अट्ठाईस प्रकार के मतिज्ञान के बारह-बारह भेदों के हिसाब से ३३६ भेद होते हैं और अट्ठाईस प्रकार में तो चार व्यञ्जनावग्रह भी आते हैं जो नैश्चयिक अर्थावग्रह के भी पूर्ववर्ती होने से अत्यन्त अव्यक्त हैं। इसलिए उन चारों के बारह-बारह यानी ४८ भेद अलग कर देने पड़ेंगे।

उत्तर—अर्थावग्रह में जो व्यावहारिक को लेकर उक्त बारह भेद स्पष्टतया घटित किये जा सकते हैं इसलिए वैसा उत्तर स्थूल दृष्टि से दिया गया है। वास्तव में नैश्चयिक अर्थावग्रह और उसके पूर्ववर्ती व्यञ्जनावग्रह के भी बारह-बारह भेद समझने चाहिए। कार्य-कारण की समानता के सिद्धान्त पर व्यावहारिक अर्थावग्रह का कारण नैश्चयिक अर्थावग्रह है और उसका कारण व्यञ्जनावग्रह है। अब यदि व्यावहारिक अर्थावग्रह में स्पष्ट रूप से बहु, अल्प आदि विषयगत विशेषों का प्रतिभास होता है तो उसके साक्षात् कारणभूत नैश्चयिक अर्थावग्रह और व्यवहित कारण व्यञ्जनावग्रह में भी उक्त विशेषों का प्रतिभास मानना पड़ेगा, यद्यपि वह अस्फुट होने से दुर्ज्ञेय है। अस्फुट हो या स्फुट, यहाँ सिर्फ सम्भावना की अपेक्षा से उक्त बारह-बारह भेद गिनने चाहिए। १८-१९।

श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। २०।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य क्योंकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए इसको मतिपूर्वक कहा गया है। किसी भी विषय का श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका मतिज्ञान पहले आवश्यक है। इसीलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान का पालन और पूरण करनेवाला कहलाता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण तो है, पर बहिरङ्ग कारण है, अन्तरङ्ग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित है, फिर दोनों में अन्तर क्या है? जब तक दोनों का भेद स्पष्ट न जाना जाय तब तक 'श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है' यह कथन विशेष अर्थ नहीं रखता। मतिज्ञान का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और श्रुतज्ञान

का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। इस कथन से भी दोनों का भेद समझ में नहीं आता, क्योंकि क्षयोपशम-भेद साधारण बुद्धिगम्य नहीं है।

उत्तर--मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भावी इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के सिवाय दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनों का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख[1] सहित है वह श्रुतज्ञान है, और शब्दोल्लेख रहित मतिज्ञान है। सारांश यह है कि दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समान होने पर भी मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है, क्योंकि श्रुत में मनोव्यापार की प्रधानता होने से विचारांश अधिक व स्पष्ट होता है और पूर्वापर क्रम भी बना रहता है। दूसरे शब्दों में, इन्द्रिय तथा मनोजन्य दीर्घ ज्ञानव्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान और उत्तरवर्ती परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। अतः यों भी कहा जाता है कि जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो भाषा में उतारने लायक परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान है। श्रुतज्ञान खीर है तो मतिज्ञान दूध।

प्रश्न--श्रुत के दो, अनेक और बारह प्रकार कैसे हैं?

उत्तर--अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट के रूप में श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। इनमें से अङ्गबाह्य श्रुत उत्कालिक-कालिक के भेद से अनेक प्रकार का है। अङ्गप्रविष्ट श्रुत आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि के रूप में बारह प्रकार का है।

प्रश्न--अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट का अन्तर किस अपेक्षा से है?

उत्तर--वक्तृभेद की अपेक्षा से। तीर्थङ्करों द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके जो द्वादशाङ्गी रूप में सूत्रबद्ध किया वह अङ्गप्रविष्ट है; और कालदोषकृत बुद्धि, बल और आयु की कमी को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिए उसी द्वादशाङ्गी में से भिन्न-भिन्न विषयों पर गणधरों के पश्चाद्वर्ती शुद्ध-बुद्धि आचार्यों के शास्त्र अङ्गबाह्य हैं, अर्थात् जिन शास्त्रों के रचयिता गणधर हैं वह अङ्गप्रविष्ट श्रुत है और जिनके रचयिता अन्य आचार्य हैं वह अङ्गबाह्य श्रुत है।

प्रश्न--बारह अङ्ग कौन से हैं? अनेकविध अङ्गबाह्य में मुख्यतः कौन-कौन से प्राचीन ग्रन्थ हैं?

---

१. शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्दशक्तिग्रहजन्यत्व से है अर्थात् जैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत, स्मरण और श्रुतग्रन्थ का अनुसरण अपेक्षित है वैसे ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है।

उत्तर—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह अङ्ग हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः आवश्यक तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित[1] आदि शास्त्र अङ्गबाह्य हैं।

प्रश्न—ये भेद तो ज्ञान को व्यवस्थितरूप में संगृहीत करनेवाले शास्त्रों के हैं, तो क्या शास्त्र इतने ही हैं ?

उत्तर—नहीं। शास्त्र अनेक थे, अनेक हैं, अनेक बनते हैं और आगे भी बनते ही रहेंगे। वे सभी श्रुत-ज्ञानान्तर्गत हैं। यहाँ केवल वे ही गिनाये गये हैं जिन पर प्रधानतया जैनशासन आधृत है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक शास्त्र बने हैं और बनते रहते हैं। इन सभी को अङ्गबाह्य में समाविष्ट कर लेना चाहिए, यदि वे शुद्ध-बुद्धि और समभावपूर्वक रचे गये हों।

प्रश्न—आजकल विविध विज्ञान विषयक तथा काव्य, नाटक आदि लौकिक विषयक जो अनेक शास्त्र रचे जाते हैं, क्या वे भी श्रुत हैं ?

उत्तर—अवश्य, वे भी श्रुत हैं।

प्रश्न—तब तो श्रुतज्ञान होने से वे भी मोक्ष के लिए उपयुक्त हो सकेंगे ?

उत्तर—मोक्ष में उपयोगी होना या न होना किसी शास्त्र का नियत स्वभाव नहीं है, पर अधिकारी की योग्यता उसका आधार है। अगर अधिकारी योग्य और मुमुक्षु है तो लौकिक शास्त्रों को भी मोक्षोपयोगी बना सकता है और अयोग्य पात्र आध्यात्मिक कहे जानेवाले शास्त्रों से भी अपने को नीचे गिराता है। तथापि विषय और प्रणेता की योग्यता की दृष्टि से लोकोत्तर श्रुत का विशेषत्व अवश्य है।

प्रश्न—'श्रुत' ज्ञान है, फिर भाषात्मक शास्त्रों को या जिन पर वे लिखे जाते हैं उन कागज आदि साधनों को श्रुत क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—केवल उपचार से। वास्तव में श्रुत तो ज्ञान ही है। पर ऐसे ज्ञान को प्रकाशित करने का साधन भाषा है और भाषा भी ऐसे ज्ञान से ही उत्पन्न होती है तथा कागज आदि भी उस भाषा को लिपिबद्ध करके व्यवस्थित रखने के साधन हैं। इसीलिए भाषा या कागज आदि को उपचार से श्रुत कहा जाता है। २०।

१. प्रत्येक बुद्ध आदि ऋषियों द्वारा जो कथन किया गया हो उसे ऋषिभाषित कहते हैं। जैसे उत्तराध्ययन का आठवाँ कापिलीय अध्ययन इत्यादि।

अवधिज्ञान के प्रकार और उनके स्वामी

द्विविधोऽवधिः । २१ ।

तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् । २२ ।

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् । २३ ।

अवधिज्ञान दो प्रकार का है। उन दो में से भवप्रत्यय नारक और देवों को होता है।

यथोक्तनिमित्त—क्षयोपशमजन्य अवधि छः प्रकार का है जो तिर्यञ्च तथा मनुष्यों को होता है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है वह भवप्रत्यय है। जिसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम आदि अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है उस जन्मसिद्ध अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहते हैं। जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है किन्तु जन्म लेने के बाद व्रत, नियम आदि गुणों के अनुष्ठान से प्रकट किया जाता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमजन्य है।

प्रश्न—क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान बिना क्षयोपशम के ही उत्पन्न होता है?

उत्तर—नहीं, उसके लिए भी क्षयोपशम अपेक्षित है।

प्रश्न—तब तो भवप्रत्यय भी क्षयोपशमजन्य ही हुआ। फिर भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर—कोई भी अवधिज्ञान योग्य क्षयोपशम के बिना नहीं हो सकता। अवधि-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो अवधिज्ञानमात्र का साधारण कारण है। क्षयोपशम सबका समान कारण है, फिर भी किसी अवधिज्ञान को भवप्रत्यय और किसी को क्षयोपशमजन्य (गुणप्रत्यय) क्षयोपशम के आविर्भाव के निमित्तभेद की अपेक्षा से कहा गया है। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और तद्द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् उन्हें अपने जीवन में अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए तप आदि अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। ऐसे सभी जीवों को न्यूनाधिक रूप में जन्मसिद्ध अवधिज्ञान अवश्य होता है और वह जीवनपर्यन्त रहता है। इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें जन्म के साथ अवधि-ज्ञान प्राप्त होने का नियम नहीं है। इनको अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए तप आदि का अनुष्ठान करना पड़ता है। ऐसे सभी जीवों में अवधिज्ञान सम्भव नहीं होता, केवल उन्हीं में सम्भव होता है जिन्होंने उस ज्ञान के योग्य गुण पैदा किये हों। इसीलिए क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग कारण समान होने पर भी उसके लिए किसी जाति में केवल जन्म की और किसी जाति में तप आदि गुणों की अपेक्षा

होने से सुविधा की दृष्टि से अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो नाम रखे गये हैं।

देहधारी जीवों के चार वर्ग हैं—नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इनमें से पहले दो वर्गवाले जीवों में भवप्रत्यय अर्थात् जन्म से ही अवधिज्ञान होता है और पिछले दो वर्गवालों में गुणप्रत्यय अर्थात् गुणों से अवधिज्ञान होता है।

प्रश्न—जब सभी अवधिज्ञानवाले देहधारी ही हैं तब ऐसा क्यों है कि किसी को तो बिना प्रयत्न के ही जन्म से वह प्राप्त हो जाता है और किसी को उसके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है?

उत्तर—कार्य की विचित्रता अनुभवसिद्ध है। सब जानते हैं कि पक्षियों को जन्म लेते ही आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और मनुष्य आकाश में उड़ नहीं सकता जब तक कि वह विमान आदि का सहारा न ले। हम यह भी देखते हैं कि कितने ही लोगों में काव्यशक्ति जन्मसिद्ध होती है और कितने ही लोगों को वह बिना प्रयत्न के प्राप्त ही नहीं होती।

तिर्यञ्चों और मनुष्यों के अवधिज्ञान के छः भेद हैं—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

१. जैसे वस्त्र आदि किसी वस्तु को जिस स्थान पर रंग लगाया है वहाँ से उसे हटा लेने पर भी रंग कायम ही रहता है वैसे ही जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र को छोड़कर दूसरी जगह चले जाने पर भी कायम रहता है उसे आनुगामिक कहते हैं।

२. जैसे किसी का ज्योतिष-ज्ञान ऐसा होता है कि वह प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर अमुक स्थान में ही दे सकता है, दूसरे स्थान में नहीं, वैसे ही जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिस्थान को छोड़ देने पर कायम नहीं रहता उसे अनानुगामिक कहते हैं।

३. जैसे दियासलाई या अरणि आदि से उत्पन्न आग की चिनगारी बहुत छोटी होने पर भी अधिकाधिक सूखे ईंधन आदि को पाकर क्रमशः बढ़ती जाती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकाल में अल्पविषयक होने पर भी परिणाम-शुद्धि के बढ़ते जाने से क्रमशः अधिकाधिक विषयक होता जाता है उसे वर्धमान कहते हैं।

४. जैसे परिमित दाह्य वस्तुओं में लगी हुई आग नया दाह्य न मिलने से क्रमशः घटती जाती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषयक होने पर भी परिणाम-शुद्धि कम होते जाने से क्रमशः अल्प-अल्प विषयक होता जाता है उसे हीयमान कहते हैं।

५. जैसे किसी प्राणी को एक जन्म में प्राप्त पुरुष आदि वेद[1] या दूसरे अनेक तरह के शुभ-अशुभ संस्कार दूसरे जन्म में साथ जाते हैं या आजन्म कायम रहते हैं वैसे ही जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में कायम रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्ति तक अथवा आजन्म टिकता है उसे अवस्थित कहते हैं।

६. जलतरङ्ग की तरह जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है और कभी तिरोहित होता है उसे अनवस्थित कहते हैं।

यद्यपि तीर्थङ्कर मात्र को तथा किसी अन्य मनुष्य को भी अवधिज्ञान जन्म से प्राप्त होता है तथापि उसे गुणप्रत्यय ही समझना चाहिए, क्योंकि योग्य गुण न होने पर अवधिज्ञान आजन्म नहीं रहता, जैसे कि देव या नरकगति में रहता है। २१-२३।

मनःपर्याय के भेद और उनका अन्तर

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः। २४।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। २५।

ऋजुमति और विपुलमति ये दो मनःपर्यायज्ञान हैं।

विशुद्धि से और पतन के अभाव से उन दोनों का अन्तर है।

मनवाले (संज्ञी) प्राणी किसी भी वस्तु या पदार्थ का चिन्तन मन द्वारा करते हैं। चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान मनःपर्याय है। इस ज्ञान से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती हैं पर चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकतीं।

प्रश्न—तो फिर क्या चिन्तनीय वस्तुओं को मनःपर्यायज्ञानवाला जान नहीं सकता?

उत्तर—जान सकता है, पर बाद में अनुमान के द्वारा।

प्रश्न—किस प्रकार?

उत्तर—जैसे मानसशास्त्री किसी का चेहरा या हावभाव देखकर उस व्यक्ति के मनोभावों तथा सामर्थ्य का ज्ञान अनुमान से करता है वैसे ही मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्याय-ज्ञान से किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यासवश अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया, क्योंकि इसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अवश्य होनेवाला अमुक-अमुक प्रकार की आकृतियों से युक्त है।

---

१. देखें—अ० २, सू० ६।

प्रश्न—ऋजुमति और विपुलमति का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो विषय को सामान्य रूप से जानता है वह ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान है और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमति मनःपर्यायज्ञान है।

प्रश्न—जब ऋजुमति ज्ञान सामान्यग्राही है तब तो उसे 'दर्शन' ही कहना चाहिए, ज्ञान क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—उसे सामान्यग्राही कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वह विशेषों को तो जानता है पर विपुलमति के जितने विशेषों को नहीं जानता।

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन पर्यायज्ञान विशुद्धतर होता है क्योंकि वह सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जान सकता है। इसके अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् नष्ट भी हो जाता है, पर विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्तिपर्यन्त बना ही रहता है। २४-२५।

अवधि और मनःपर्याय में अन्तर

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः। २६।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के द्वारा अवधि और मनःपर्याय में अन्तर होता है।

यद्यपि अवधि और मनःपर्याय दोनों पारमार्थिक विकल (अपूर्ण) प्रत्यक्ष रूप से समान हैं तथापि दोनों में कई प्रकार का अन्तर है, जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत। १. मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद रूप से जानता है इसलिए उससे विशुद्धतर है। २. अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक है और मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वतपर्यन्त ही है। ३. अवधिज्ञान के स्वामी चारों गतिवाले हो सकते हैं पर मनःपर्याय के स्वामी केवल संयत मनुष्य ही हैं। ४. अवधि का विषय कतिपय पर्यायसहित रूपी-द्रव्य है पर मनःपर्याय का विषय तो केवल उसका अनन्तवाँ[1] भाग है, मात्र मनोद्रव्य है।

प्रश्न—विषय कम होने पर भी मनःपर्याय अवधि से विशुद्धतर कैसे माना जाता है ?

उत्तर—विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता नहीं है, विषयगत न्यूनाधिक सूक्ष्मताओं को जानना है। जैसे दो व्यक्तियों में से एक अनेक शास्त्रों को जानता है और दूसरा केवल एक शास्त्र, तो भी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता की अपेक्षा एक शास्त्र को जाननेवाला व्यक्ति अपने विषय की सूक्ष्मताओं को अधिक जानता हो तो उसका ज्ञान पहले की अपेक्षा विशुद्धतर कहलाता है। वैसे ही विषय

१. देखें—अ० १, सू० २६।

अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के कारण मनःपर्याय को अवधि से विशुद्धतर कहा गया है। २६।

पाँचों ज्ञानों के ग्राह्य विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। २७।
रूपिष्ववधेः। २८।
तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य। २९।
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। ३०।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति (ग्राह्यता) सर्व-पर्यायरहित अर्थात् परिमित पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्वपर्यायरहित केवल रूपी (मूर्त) द्रव्यों में होती है।

मनःपर्यायज्ञान की प्रवृत्ति उस रूपी द्रव्य के सर्वपर्यायरहित अनन्तवें भाग में होती है।

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों में और सभी पर्यायों में होती है।

मति और श्रुतज्ञान के द्वारा रूपी, अरूपी सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं पर पर्याय उनके कुछ ही जाने जा सकते हैं, सब नहीं।

प्रश्न-उक्त कथन से ज्ञात होता है कि मति और श्रुत के ग्राह्य विषयों में न्यूनाधिकता है ही नहीं, क्या यह सही है?

उत्तर–द्रव्यरूप ग्राह्य की अपेक्षा से तो दोनों के विषयों में न्यूनाधिकता नहीं है। पर पर्यायरूप ग्राह्य की अपेक्षा से दोनों के विषयों में न्यूनाधिकता अवश्य है। ग्राह्य पर्यायों की न्यूनाधिकता होने पर भी समानता इतनी ही है कि वे दोनों ज्ञान द्रव्यों के परिमित पर्यायों को ही जान सकते हैं, सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं। मतिज्ञान वर्तमानग्राही होने से इन्द्रियों की शक्ति और आत्मा की योग्यता के अनुसार द्रव्यों के कुछ-कुछ वर्तमान पर्यायों को ही ग्रहण करता है पर श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से तीनों कालों के पर्यायों को थोड़े-बहुत प्रमाण में ग्रहण करता है।

प्रश्न–मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से पैदा होता है और इन्द्रियाँ केवल मूर्त द्रव्य को ही ग्रहण कर सकती हैं। फिर मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य किस प्रकार माने गए?

उत्तर–मतिज्ञान इन्द्रियों की तरह मन से भी होता है और मन स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत सभी मूर्त-अमूर्तद्रव्यों का चिन्तन करता है। इसलिए मनोजन्य

मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य मानने में कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत विषयों में मन के द्वारा मतिज्ञान भी होगा और श्रुतज्ञान भी, तब दोनों में अन्तर क्या है ?

उत्तर—जब मानसिक चिन्तन शब्दोल्लेख सहित हो तब वह श्रुतज्ञान है और जब शब्दोल्लेख रहित हो तब मतिज्ञान है।

परम प्रकर्षप्राप्त परमावधि-ज्ञान जो अलोक में भी लोकप्रमाण असंख्यात खण्डों को देखने का सामर्थ्य रखता है, वह भी मात्र मूर्त द्रव्यों का साक्षात्कार कर पाता है, अमूर्त द्रव्यों का नहीं। इसी तरह वह मूर्त द्रव्यों के भी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता।

मनःपर्याय-ज्ञान भी मूर्त द्रव्यों का ही साक्षात्कार करता है, पर अवधिज्ञान के बराबर नहीं। अवधिज्ञान के द्वारा सब प्रकार के पुद्गलद्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं, पर मनःपर्यायज्ञान के द्वारा केवल मनरूप बने हुए पुद्गल और वे भी मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण किये जा सकते हैं। इसी कारण मनःपर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग है। मनःपर्याय-ज्ञान कितना ही विशुद्ध हो, अपने ग्राह्य द्रव्यों के सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता। यद्यपि मनःपर्यायज्ञान के द्वारा साक्षात्कार तो केवल चिन्तनशील मूर्त मन का ही होता है पर बाद में होनेवाले अनुमान से तो उस मन के द्वारा चिन्तन किये गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

मति आदि चारों ज्ञान कितने ही शुद्ध हों पर वे चेतनाशक्ति के अपूर्ण विकसितरूप होने से एक वस्तु के भी समग्र भावों को जानने में असमर्थ हैं। नियम यह है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावों को जान सकता है वह सब वस्तुओं के सम्पूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है। वही ज्ञान पूर्णज्ञान कहलाता है, उसी को केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान चेतनाशक्ति के सम्पूर्ण विकास के समय प्रकट होता है। अतः इसके अपूर्णताजन्य भेद-प्रभेद नहीं हैं। कोई भी वस्तु या भाव ऐसा नहीं है जो इसके द्वारा प्रत्यक्ष न जाना जा सके। इसीलिए केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों और सब पर्यायों में मानी गई है। २७–३०।

एक आत्मा में एक साथ पाये जानेवाले ज्ञान

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः। ३१।

एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान विकल्प से—अनियत रूप से होते हैं।

किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक सम्भव हैं पर पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते। जब एक ज्ञान होता है, तब केवलज्ञान ही होता है क्योंकि परिपूर्ण होने से कोई अन्य अपूर्ण ज्ञान सम्भव ही नहीं है। जब दो ज्ञान होते हैं तब मति और श्रुत, क्योंकि पाँच ज्ञानों में से नियत सहचारी ये ही दो ज्ञान हैं। शेष तीनों ज्ञान एक-दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत और अवधिज्ञान या मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही सम्भव हैं और तब चाहे अवधिज्ञान हो या मनःपर्यायज्ञान, मति और श्रुत दोनों तो अवश्य होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय होते हैं, क्योंकि ये ही चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य नहीं है क्योंकि वह पूर्ण अवस्थाभावी है और शेष सभी ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी हैं। पूर्णता तथा अपूर्णता दोनों अवस्थाएँ आपस में विरोधी होने से एक साथ आत्मा में नहीं होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों को एक साथ शक्ति की अपेक्षा से सम्भव कहा गया है, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं।

प्रश्न—इसे ठीक तरह से समझाइए।

उत्तर—जैसे मति और श्रुत दो ज्ञानवाला या अवधिसहित तीन ज्ञानवाला कोई आत्मा जिस समय मतिज्ञान के द्वारा किसी विषय को जानने में प्रवृत्त हो, उस समय वह अपने में श्रुत की शक्ति या अवधि की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके तद्द्वारा उसके विषयों को नहीं जान सकता। इसी तरह वह श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति के समय मति या अवधि की शक्ति को भी काम में नहीं ला सकता। यही बात मनःपर्याय की शक्ति के विषय में है। सारांश यह है कि एक आत्मा में एक साथ अधिक-से-अधिक चार ज्ञान-शक्तियाँ हों तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति जानने का काम करती है, अन्य शक्तियाँ निष्क्रिय रहती हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते। यह सिद्धान्त सामान्य होने पर भी उसकी उपपत्ति दो तरह से की जाती है। कुछ आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारों ज्ञान-शक्तियाँ रहती हैं पर वे सूर्यप्रकाश के समय ग्रह-नक्षत्र आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान की प्रवृत्ति से अभिभूत हो जाने के कारण अपना-अपना ज्ञानरूप कार्य नहीं कर सकतीं। इसीलिए शक्तियाँ होने पर भी केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानपर्याय नहीं होते।

दूसरे आचार्यों का कथन है कि मति आदि चार ज्ञानशक्तियाँ आत्मा में स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु कर्म-क्षयोपशमरूप होने से औपाधिक अर्थात् कर्म-सापेक्ष हैं। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर—जब कि केवलज्ञान प्रकट होता है—औपाधिक शक्तियाँ सम्भव ही नहीं हैं। इसलिए केवलज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवाय न तो अन्य ज्ञानशक्तियाँ ही रहती हैं और न उनका मति आदि ज्ञानपर्यायरूप कार्य ही रहता है। ३१।

विपर्ययज्ञान का निर्धारण और विपर्ययता के हेतु

मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च । ३२ ।
सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् । ३३ ।

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय (अज्ञानरूप) भी हैं।

वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर न जानने से यदृच्छोपलब्धि (विचारशून्य उपलब्धि) के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

मति, श्रुत आदि पाँचों ज्ञान चेतनाशक्ति के पर्याय हैं। इनका कार्य अपने-अपने विषय को प्रकाशित करना है। अतः ये सब ज्ञान कहलाते हैं। परन्तु इनमें से पहले तीनों को ज्ञान व अज्ञानरूप माना गया है। जैसे मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अवधिज्ञान, अवधि-अज्ञान अर्थात् विभङ्गज्ञान।

प्रश्न—मति, श्रुत और अवधि ये तीनों पर्याय जब अपने-अपने विषय का बोध कराने के कारण ज्ञान हैं, तब उन्हीं को अज्ञान क्यों कहा जाता है ? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों शब्द परस्परविरुद्ध अर्थ के वाचक होने से प्रकाश और अन्धकार शब्द की तरह एक ही अर्थ में लागू नहीं हो सकते।

उत्तर—उक्त तीनों पर्याय लौकिक संकेत के अनुसार तो ज्ञान ही हैं, परन्तु यहाँ उन्हें ज्ञान और अज्ञानरूप शास्त्रीय संकेत के अनुसार ही कहा जाता है। आध्यात्मिक शास्त्र का संकेत है कि मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञानात्मक पर्याय मिथ्यादृष्टि के अज्ञान हैं और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान।

प्रश्न—यह कैसे कह सकते हैं कि केवल सम्यग्दृष्टि आत्मा ही प्रामाणिक व्यवहार चलाते हैं और मिथ्यादृष्टि नहीं चलाते ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टि को संशय या भ्रमरूप मिथ्याज्ञान बिलकुल नहीं होता और मिथ्यादृष्टि को ही होता है। यह भी सम्भव नहीं कि इन्द्रिय आदि साधन सम्यग्दृष्टि के तो पूर्ण तथा निर्दोष ही हों और मिथ्यादृष्टि के अपूर्ण तथा दुष्ट हों। यह भी कैसे कहा जा सकता है कि विज्ञान व साहित्य आदि विषयों पर अपूर्व प्रकाश डालनेवाले

और उनका यथार्थ निर्णय करनेवाले सभी सम्यग्दृष्टि हैं। इसलिए प्रश्न उठता है कि अध्यात्मशास्त्र के पूर्वोक्त ज्ञान-अज्ञान सम्बन्धी संकेत का आधार क्या है ?

उत्तर—अध्यात्मशास्त्र का आधार आध्यात्मिक दृष्टि है, लौकिक दृष्टि नहीं। जीव दो प्रकार के हैं—मोक्षाभिमुख और संसाराभिमुख। मोक्षाभिमुख जीव या आत्मा में समभाव और आत्मविवेक होता है, इसलिए वे अपने सभी ज्ञानों का उपयोग समभाव की पुष्टि में करते हैं, सांसारिक वासना की पुष्टि में नहीं। लौकिक दृष्टि से उनका ज्ञान चाहे अल्प ही हो पर उसे ज्ञान कहा जाता है। संसाराभिमुख आत्मा का ज्ञान लौकिक दृष्टि से कितना ही विशाल और स्पष्ट हो, वह समभाव का पोषक न होने से जितने परिमाण में सांसारिक वासना का पोषक होता है उतना अज्ञान कहलाता है। जैसे उन्मत्त मनुष्य भी सोने को सोना और लोहे को लोहा जानकर कभी यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, पर उन्माद के कारण वह सत्य-असत्य का अन्तर जानने में असमर्थ होता है। इसलिए उसका सच्चा-झूठा सम्पूर्ण ज्ञान विचारशून्य या अज्ञान ही कहलाता है। वैसे ही संसाराभिमुख आत्मा को कितना ही अधिक ज्ञान हो, पर आत्मा के विषय में अंधेरा होने के कारण उसका सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है।

सारांश, उन्मत्त मनुष्य के अधिक विभूति भी हो जाय और कभी वस्तु का यथार्थ बोध भी हो जाय तथापि उसका उन्माद ही बढ़ता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि आत्मा, जिसके राग-द्वेष की तीव्रता और आत्मा का अज्ञान होता है, वह अपनी विशाल ज्ञानराशि का भी उपयोग केवल सांसारिक वासना के पोषण में ही करता है। इसीलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि आत्मा, जिसमें राग-द्वेष की तीव्रता न हो और आत्मज्ञान हो, वह अपने अल्प लौकिक ज्ञान का उपयोग भी आत्मिक तृप्ति में करता है। इसलिए उसके ज्ञान को ज्ञान कहा गया है। यह आध्यात्मिक दृष्टि है। ३२-३३।

नय के भेद

नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। ३४।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ। ३५।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं।

आद्य अर्थात् प्रथम नैगम नय के दो और शब्द नय के तीन भेद हैं।

नय के भेदों की संख्या के विषय में कोई एक निश्चित परम्परा नहीं है। इनकी तीन परम्पराएँ देखने में आती हैं। एक परम्परा तो सीधे तौर पर पहले से ही सात भेदों को मानती है, जैसे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द,

समभिरूढ़ और एवंभूत। यह परम्परा जैनागमों और दिगम्बर ग्रन्थों की है। दूसरी परम्परा सिद्धसेन दिवाकर की है। वे नैगम को छोड़कर शेष छः भेदों को मानते हैं। तीसरी परम्परा प्रस्तुत सूत्र और उसके भाष्य की है। इसके अनुसार नय के मूल पाँच भेद हैं और बाद में प्रथम नैगम नय के (भाष्य के अनुसार) देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ये दो तथा पाँचवें शब्द नय के साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन भेद हैं।

नयों के निरूपण का भाव—कोई भी एक या अनेक वस्तुओं के विषय में एक या अनेक व्यक्तियों के अनेक विचार होते हैं। एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न विचारों की संख्या अपरिमित हो जाती है। तद्विषयक प्रत्येक विचार का बोध होना असम्भव हो जाता है। अतएव उनका अतिसंक्षिप्त और अतिविस्तृत प्रतिपादन छोड़कर मध्यम-मार्ग से प्रतिपादन करना ही नयों का निरूपण है। इसी को विचारों का वर्गीकरण कहते हैं। नयवाद का अर्थ है विचारों की मीमांसा। नयवाद में मात्र विचारों के कारण उनके परिणाम या उनके विषयों की ही चर्चा नहीं आती। जो विचार परस्परविरुद्ध दिखाई पड़ते हैं पर वास्तव में जिनका विरोध नहीं है उन विचारों के अविरोध के बीज की गवेषणा करना ही नयवाद का मुख्य उद्देश्य है। अतः नयवाद की संक्षिप्त व्याख्या इस तरह हो सकती है—'परस्परविरुद्ध दिखाई देनेवाले विचारों के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके उन विचारों का समन्वय करनेवाला शास्त्र।' जैसे आत्मा के विषय में ही परस्परविरुद्ध मन्तव्य मिलते हैं। कहीं 'आत्मा एक है' ऐसा कथन है, तो कहीं 'अनेक हैं' ऐसा कथन भी मिलता है। एकत्व और अनेकत्व परस्परविरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि इन दोनों का यह विरोध वास्तविक है या नहीं? यदि वास्तविक नहीं तो कैसे? इसका उत्तर नयवाद ने ढूंढ़ निकाला है और ऐसा समन्वय किया है कि व्यक्ति-रूप से देखा जाय तो आत्मतत्त्व अनेक हैं, किन्तु शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से वह एक ही है। इस तरह का समन्वय करके नयवाद परस्परविरोधी वाक्यों में भी अविरोध या एकवाक्यता सिद्ध करता है। इसी तरह आत्मा के विषय में परस्परविरुद्ध दिखाई देनेवाले नित्यत्व-अनित्यत्व, कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि मतों का भी अविरोध नयवाद से ही सिद्ध होता है। ऐसे अविरोध का बीज विचारक की दृष्टि (तात्पर्य) में ही है। इसी दृष्टि के लिए प्रस्तुत शास्त्र में 'अपेक्षा' शब्द है। अतः नयवाद को अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

नयवाद की देशना और उसकी विशेषता—ज्ञान-निरूपण में श्रुत[1] की

1. देखें—अ० १, सू० २०।

चर्चा आ चुकी है। श्रुत विचारात्मक ज्ञान है और नय भी एक तरह का विचारात्मक ज्ञान होने से श्रुत में ही समा जाता है। इसीलिए प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रुत के निरूपण के बाद नयों को उससे भिन्न करके नयवाद की देशना अलग से क्यों की जाती है? जैन तत्त्वज्ञान की एक विशेषता नयवाद मानी जाती है, लेकिन नयवाद तो श्रुत है और श्रुत कहते हैं आगम-प्रमाण को। जैनेतर दर्शनों में भी प्रमाण-चर्चा और उसमें भी आगम-प्रमाण का निरूपण है ही। अतः सहज ही दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आगम-प्रमाण की चर्चा अन्य दर्शनों में भी है, तब आगम-प्रमाण में समाविष्ट नयवाद की स्वतन्त्र देशना करने से ही वह जैनदर्शन की अपनी विशेषता कैसे मानी जाय? अथवा श्रुतप्रमाण के अतिरिक्त नयवाद की स्वतंत्र देशना करने में जैनदर्शन के प्रवर्तकों का क्या उद्देश्य था?

श्रुत और नय दोनों विचारात्मक ज्ञान हैं ही। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि किसी भी विषय को सर्वांश में स्पर्श करनेवाला अथवा सर्वांश में स्पर्श करने का प्रयत्न करनेवाला विचार श्रुत है और किसी एक अंश को स्पर्श करनेवाला विचार नय है। इस तरह नय को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह अप्रमाण नहीं है। जैसे अंगुली का अग्रभाग अंगुली नहीं है, फिर भी उसे 'अंगुली नहीं है' यह भी नहीं कह सकते क्योंकि वह अंगुली का अंश तो है ही। इसी तरह नय भी श्रुत-प्रमाण का अंश है। विचार की उत्पत्ति का क्रम और तत्कृत व्यवहार इन दो दृष्टियों से नय का निरूपण श्रुत-प्रमाण से भिन्न करके किया गया है। किसी भी पदार्थ के विभिन्न अंशों के विचार ही अन्त में विशालता या समग्रता में परिणत होते हैं। विचार जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी क्रम से तत्त्वबोध के उपायरूप से उनका वर्णन होना चाहिए। इसे मान लेने से स्वाभाविक तौर से नय का निरूपण श्रुत-प्रमाण से अलग करना संगत हो जाता है और किसी एक विषय का समग्ररूप से कितना भी ज्ञान हो तो भी व्यवहार में उस ज्ञान का उपयोग एक-एक अंश को लेकर ही होता है। इसीलिए समग्र विचारात्मक श्रुत से अंश-विचारात्मक नय का निरूपण भिन्न किया जाता है।

यद्यपि जैनेतर दर्शनों में आगम-प्रमाण की चर्चा है तथापि उसी प्रमाण में समाविष्ट नयवाद की जैनदर्शन ने जो स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठा की है उसका अपना कारण है और वही इसकी विशेषता के लिए पर्याप्त है। सामान्यतः मनुष्य की ज्ञानवृत्ति अधूरी होती है और अस्मिता (अभिनिवेश) अत्यधिक होता है। जब वह किसी विषय में कुछ भी सोचता है तब वह उसको ही अन्तिम व

सम्पूर्ण मानने को प्रेरित होता है और इसी प्रेरणावश वह दूसरे के विचारों को समझने का धैर्य खो बैठता है। अन्ततः वह अपने आंशिक ज्ञान में ही सम्पूर्णता का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण एक ही वस्तु के विषय में सच्चे लेकिन भिन्न-भिन्न विचार रखनेवालों के बीच सामंजस्य नहीं रहता। फलतः पूर्ण और सत्य ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

आत्मा आदि किसी भी विषय में अपने आप्तपुरुष के आंशिक विचार को ही जब कोई दर्शन सम्पूर्ण मानकर चलता है तब वह विरोधी होने पर भी यथार्थ विचार रखनेवाले दूसरे दर्शनों को अप्रमाण कहकर उनकी अवगणना करता है। इसी तरह दूसरा दर्शन उसकी और फिर दोनों किसी तीसरे की अवगणना करते हैं। परिणामतः समता की जगह विषमता और विवाद खड़े हो जाते हैं। इसीलिए सत्य और पूर्ण ज्ञान का द्वार खोलने और विवाद मिटाने के लिए ही नयवाद की प्रतिष्ठा की गई है। उससे यह सूचित किया गया है कि प्रत्येक विचारक को चाहिए कि वह अपने विचार को आगम-प्रमाण कहने के पूर्व यह देख ले कि उसका विचार प्रमाण-कोटि में आने योग्य सर्वांशी है अथवा नहीं है। नयवाद के द्वारा ऐसा निर्देश करना ही जैनदर्शन की विशेषता है।

सामान्य लक्षण—किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करनेवाला विचार नय है।

संक्षेप में नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जगत् में छोटी या बड़ी सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से न तो सर्वथा असमान ही होती हैं, न सर्वथा समान। इनमें समानता और असमानता दोनों अंश रहते हैं। इसीलिए 'वस्तुमात्र 'सामान्य-विशेष (उभयात्मक) है,' ऐसा कहा जाता है। मनुष्य की बुद्धि कभी तो वस्तुओं के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है तब उसका वह विचार द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जब वह विशेष अंश को ग्रहण करती है तब पर्यायार्थिक नय कहलाता है। सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक-सी नहीं होतीं, उनमें भी अन्तर रहता है। यही बतलाने के लिए इन दो दृष्टियों के फिर संक्षेप में भाग किये गये हैं। द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार—इस तरह कुल सात भाग बनते हैं और ये ही सात नय हैं। द्रव्यदृष्टि में विशेष (पर्याय) और पर्यायदृष्टि में द्रव्य (सामान्य) आता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह दृष्टिविभाग तो केवल गौण-प्रधान भाव की अपेक्षा से ही है।

प्रश्न—ऊपर निरूपित दोनों नयों को सरल उदाहरणों द्वारा समझाइए।

उत्तर—कहीं भी, कभी भी और किसी भी अवस्था में रहकर समुद्र की

तरफ दृष्टि डालने पर जब जल के रंग, स्वाद, उसकी गहराई या छिछलापन, विस्तार तथा सीमा इत्यादि विशेषताओं की ओर ध्यान न जाकर केवल जल-ही-जल ध्यान में आता है तब वह मात्र जल का सामान्य विचार कहलाता है और यही जल-विषयक द्रव्यार्थिक नय है। लेकिन जब रंग, स्वाद आदि विशेषताओं की ओर ध्यान जाता है तब वह विचार जल की विशेषताओं का होने से जल-विषयक पर्यायार्थिक नय कहा जायेगा।

इसी तरह अन्य सभी भौतिक पदार्थों के विषय में समझना चाहिए। विभिन्न स्थलों में फैली हुई जल जैसी एक ही तरह की नाना वस्तुओं के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेष विचार करना सम्भव है, वैसे ही भूत, वर्तमान और भविष्य इस त्रिकालरूप अपार पट पर फैले हुए आत्मादि किसी एक पदार्थ के विषय में भी सामान्य और विशेष विचार सर्वथा सम्भव है। काल तथा अवस्था-भेदकृत चित्रों पर ध्यान न देकर जब केवल शुद्ध चैतन्य की ओर ध्यान जाता है, तब वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कहा जायेगा। चैतन्य की देश-कालादि-कृत विविध दशाओं पर जब ध्यान जायेगा तब वह चैतन्य-विषयक पर्यायार्थिक नय कहा जायेगा।

विशेष भेदों का स्वरूप—१. जो विचार लौकिक रूढ़ि अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण से पैदा होता है वह नैगमनय है।

श्री उमास्वाति द्वारा निर्देशित नैगम नय के दो भेदों की व्याख्या इस प्रकार है—घट-पट जैसे सामान्यबोधक नाम से जब एकाध घट-पट जैसी अर्थवस्तु ही विचार में ग्रहण की जाती है तब वह विचार देश-परिक्षेपी नैगम कहलाता है और जब उस नाम से विवक्षित होनेवाले अर्थ की सम्पूर्ण जाति विचार में ग्रहण की जाती है तब वह विचार सर्वपरिक्षेपी नैगम कहलाता है।

२. जो विचार भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को तथा अनेक व्यक्तियों को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित करता है वह संग्रहनय है।

३. जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करता है वह व्यवहारनय है।

इन तीनों नयों का उद्गम द्रव्यार्थिक की भूमिका में निहित है, अतः ये तीनों नय द्रव्यार्थिक प्रकृतिवाले कहलाते हैं।

प्रश्न—शेष नयों की व्याख्या करने से पहले उपर्युक्त तीन नयों को ही उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—

नैगमनय—देश-काल एवं लोक-स्वभाव सम्बन्धी भेदों की विविधता के कारण लोकरूढ़ियाँ तथा तज्जन्य संस्कार भी अनेक तरह के होते हैं, अतः उनसे उद्भूत नैगमनय भी अनेक तरह का होता है और उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिल जाते हैं, वैसे ही अन्य उदाहरण भी बनाये जा सकते हैं।

किसी काम के संकल्प से जानेवाले से कोई पूछता है कि 'आप कहाँ जा रहे हैं ?' तब वह कहता है कि 'मैं कुल्हाड़ी या कलम लेने जा रहा हूँ।'

उत्तर देनेवाला वास्तव में तो कुल्हाड़ी के हत्थे (बेंट) के लिए लकड़ी अथवा कलम के लिए किलक लेने ही जा रहा होता है, लेकिन पूछनेवाला भी तत्क्षण उसके भाव को समझ जाता है। यह एक लोकरूढ़ि है।

जात-पाँत छोड़कर भिक्षु बने हुए व्यक्ति का परिचय जब कोई पूर्वाश्रम के ब्राह्मण-वर्ण द्वारा कराता है तब भी 'वह ब्राह्मण श्रमण है' यह कथन तत्काल स्वीकार कर लिया जाता है। इसी तरह लोग चैत्र शुक्ला नवमी व त्रयोदशी को हजारों वर्ष पूर्व के राम तथा महावीर के जन्मदिन के रूप में मानते हैं तथा उत्सवादि भी करते हैं। यह भी एक लोकरूढ़ि है।

जब कभी कुछ लोग समूहरूप में लड़ने लगते हैं तब दूसरे लोग उनके क्षेत्र को ही लड़नेवाला मानकर कहने लगते हैं कि 'हिन्दुस्तान लड़ रहा है', 'चीन लड़ रहा है' इत्यादि; ऐसे कथन का आशय सुननेवाले समझ जाते हैं।

इस प्रकार लोकरूढ़ियों के द्वारा पड़े संस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं वे सभी नैगमनय के नाम से पहली श्रेणी में गिन लिये जाते हैं।

संग्रहनय—जड़, चेतनरूप अनेक व्यक्तियों में जो सद्रूप एक सामान्य तत्त्व है, उसी पर दृष्टि रखकर दूसरे विशेषों को ध्यान में न रखकर सभी व्यक्तियों को एकरूप मानकर ऐसा विचार करना कि सम्पूर्ण जगत् सद्रूप है, क्योंकि सत्ता-रहित कोई वस्तु है ही नहीं, यही संग्रहनय है। इसी तरह वस्त्रों के विविध प्रकारों तथा विभिन्न वस्त्रों की ओर लक्ष्य न देकर मात्र वस्त्ररूप सामान्य तत्त्व को ही दृष्टि में रखकर विचार करना कि 'यहाँ केवल वस्त्र है', यही संग्रहनय है।

सामान्य तत्त्व के अनुसार तरतमभाव को लेकर संग्रहनय के अनन्त उदाहरण बन सकते हैं। जितना विशाल सामान्य होगा उतना ही विशाल संग्रहनय भी होगा तथा जितना छोटा सामान्य होगा उतना ही संक्षिप्त संग्रहनय होगा। सारांश, जो भी विचार सामान्य तत्त्व के आश्रय से विविध वस्तुओं का एकीकरण करके प्रवृत्त होते हैं, वे सभी संग्रहनय की कोटि में आते हैं।

व्यवहारनय—विविध वस्तुओं को एक रूप में संकलित करने के बाद भी जब उनका विशेष रूप में बोध आवश्यक हो या व्यवहार में उपयोग करने का प्रसंग हो तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है। 'वस्त्र' कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का अलग-अलग बोध नहीं होता। जो केवल खादी चाहता है वह वस्त्रों का विभाग किये बिना खादी नहीं पा सकता, अतः खादी का कपड़ा, मिल का कपड़ा इत्यादि भेद भी करने पड़ते हैं। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में सद्रूप वस्तु भी जड़ और चेतन दो प्रकार की है और चेतन तत्त्व भी संसारी और मुक्त दो प्रकार का है, इस तरह के पृथक्करण करने पड़ते हैं। ऐसे पृथक्करणोन्मुख सभी विचार व्यवहारनय की कोटि में आते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि नैगमनय का आधार लोकरूढ़ि है। लोक-रूढ़ि आरोप पर आश्रित होती है और आरोप सामान्य-तत्त्वाश्रयी होता है। इस तरह यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि नैगमनय सामान्यग्राही है। संग्रहनय तो स्पष्ट रूप से एकीकरणरूप बुद्धि-व्यापार होने से सामान्यग्राही है ही। व्यवहार-नय में बुद्धि-व्यापार पृथक्करणोन्मुख होने पर भी उसकी क्रिया का आधार सामान्य होने से वह भी सामान्यग्राही ही है। इसीलिए ये तीनों नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं।

प्रश्न—इन तीनों का पारस्परिक भेद और उनका सम्बन्ध क्या है ?

उत्तर—नैगमनय का विषय सबसे अधिक विशाल है क्योंकि वह सामान्य और विशेष दोनों का ही लोकरूढ़ि के अनुसार कभी गौणरूप से और कभी मुख्यरूप से अवलंबन करता है। केवल सामान्यलक्षी होने से संग्रह का विषय नैगम से कम है और व्यवहार का विषय तो संग्रह से भी कम है, क्योंकि वह संग्रह द्वारा संकलित विषय का ही मुख्य-मुख्य विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करता है, अतः केवल विशेषगामी है। इस तरह विषय-क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इन तीनों का पारस्परिक पौर्वापर्य सम्बन्ध है। नैगमनय सामान्य, विशेष और इन दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति कराता है। इसी में से संग्रह का उद्भव होता है और संग्रह की भित्ति पर ही व्यवहार का चित्र खींचा जाता है।

प्रश्न—इसी प्रकार शेष चार नयों की व्याख्या कीजिए, उनके उदाहरण दीजिए तथा दूसरी जानकारी कराइए।

उत्तर—१. जो विचार भूतकाल और भविष्यत्काल का ध्यान न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र है।

२. जो विचार शब्द-प्रधान होकर अनेक शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह शब्दनय है।

श्री उमास्वाति द्वारा सूत्र में निर्देशित शब्दनय के तीन भेदों में से प्रथम भेद साम्प्रत है। अर्थात् शब्दनय यह सामान्य पद साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीनों भेदों को व्याप्त कर लेता है, परन्तु प्रचलित सब परम्पराओं में साम्प्रत नामक पहले भेद में ही 'शब्दनय' यह सामान्य पद रूढ़ हो गया है और साम्प्रत-नय पद का स्थान शब्दनय पद ने ले लिया है। इसलिए यहाँ पर साम्प्रत नय की सामान्य व्याख्या न कर आगे विशेष स्पष्टीकरण करते समय शब्दनय पद का ही व्यवहार किया गया है। उसका जो स्पष्टीकरण किया गया है वही भाष्यकथित साम्प्रत नय का स्पष्टीकरण है।

३. जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह समभिरूढ़नय है।

४. जो विचार शब्द से फलित होनेवाले अर्थ के घटने पर ही वस्तु को उस रूप में मानता है, अन्यथा नहीं, वह एवंभूतनय है।

ऋजुसूत्रनय—यद्यपि मनुष्य की कल्पना भूत और भविष्य की सर्वथा उपेक्षा करके नहीं चलती तथापि मनुष्य की बुद्धि कई बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुककर वर्तमान में ही प्रवृत्ति करने लगती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य-बुद्धि ऐसा मानने लगती है कि जो उपस्थित है वही सत्य है, वही कार्यकारी है और भूत तथा भावी वस्तु वर्तमान में कार्यसाधक न होने से शून्यवत् है। वर्तमान समृद्धि ही सुख का साधन होने से समृद्धि कही जा सकती है। भूत-समृद्धि का स्मरण या भावी-समृद्धि की कल्पना वर्तमान में सुख-साधक न होने से समृद्धि नहीं कही जा सकती। इसी तरह पुत्र मौजूद हो और वह माता-पिता की सेवा करे, तब तो पुत्र है। किन्तु जो पुत्र अतीत हो या भावी हो पर मौजूद न हो, वह पुत्र ही नहीं। इस तरह केवल वर्तमानकाल से सम्बन्ध रखनेवाले विचार ऋजु-सूत्रनय की कोटि में आते हैं।

शब्दनय—जब विचार की गहराई में उतरनेवाली बुद्धि एक बार भूत और भविष्यत् की जड़ काटने पर उतारू हो जाती है तब वह उससे भी आगे बढ़कर किसी दूसरी जड़ को भी काटने को तैयार होने लगती है। वह भी मात्र शब्द को पकड़कर प्रवृत्त होती है और ऐसा विचार करने लगती है कि यदि भूत या भावी से पृथक् होने के कारण केवल वर्तमानकाल मान लिया जाय, तब तो एक ही अर्थ में व्यवहृत होनेवाले भिन्न-भिन्न लिङ्ग, काल, संख्या, कारक, पुरुष और उपसर्गयुक्त शब्दों के अर्थ भी अलग-अलग क्यों न माने जायँ? जैसे तीनों कालों

में कोई सूत्ररूप एक वस्तु नहीं है, किन्तु वर्तमान-स्थित वस्तु ही एकमात्र वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न लिङ्ग, संख्या और कालादि से युक्त शब्दों द्वारा कही जानेवाली वस्तुएँ भी भिन्न-भिन्न ही मानी जानी चाहिए। ऐसा विचार करके बुद्धि काल और लिङ्गादि के भेद से अर्थ में भी भेद मानने लगती है।

उदाहरणार्थ, शास्त्र में एक ऐसा वाक्य मिलता है कि 'राजगृह नाम का नगर था'। इस वाक्य का मोटे तौर पर यह अर्थ होता है कि राजगृह नाम का नगर भूतकाल में था, वर्तमानकाल में नहीं है; जब कि लेखक के समय में भी राजगृह विद्यमान है। यदि वर्तमान में है, तब उसको 'था' क्यों लिखा गया ? इसका उत्तर शब्दनय देता है कि वर्तमान में विद्यमान राजगृह से भूतकाल का राजगृह तो भिन्न ही है और उसी का वर्णन प्रस्तुत होने से 'राजगृह था' कहा गया है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण है।

लिङ्गभेद से अर्थभेद : जैसे कुआँ, कुई। यहाँ पहला शब्द नर जाति का और दूसरा नारी जाति का है। इन दोनों का कल्पित अर्थभेद भी व्यवहार में प्रसिद्ध है। कितने ही तारे नक्षत्र नाम से पुकारे जाते हैं, फिर भी इस शब्दनय के अनुसार 'अमुक तारा नक्षत्र है' अथवा 'यह मघा नक्षत्र है' ऐसा शब्द-व्यवहार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस नय के अनुसार लिङ्गभेद से अर्थभेद माने जाने के कारण 'तारा और नक्षत्र' एवं 'मघा और नक्षत्र' इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं कर सकते।

संस्थान (आकार), प्रस्थान (गमन), उपस्थान (उपस्थिति) इसी प्रकार आराम, विराम इत्यादि शब्दों में एक ही धातु होने पर भी उपसर्ग के लग जाने से जो अर्थ-भेद हो जाता है उसी से शब्दनय की भूमिका बनती है।

इस तरह विविध शाब्दिक धर्मों के आधार पर जो अर्थ-भेद की अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं, वे सभी शब्दनय की कोटि में आती हैं।

समभिरूढ़नय—शाब्दिक धर्मभेद के आधार पर अर्थभेद करनेवाली बुद्धि ही जब और आगे बढ़कर व्युत्पत्तिभेद का आश्रय लेने लगती है और ऐसा मानने पर उतारू हो जाती है कि जहाँ अनेक भिन्न-भिन्न शब्दों का एक अर्थ मान लिया जाता है, वहाँ भी वास्तव में उन सभी शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता, किन्तु अलग-अलग अर्थ हैं। यदि लिङ्गभेद और संख्याभेद आदि से अर्थभेद मान सकते हैं, तब शब्दभेद भी अर्थ का भेदक क्यों नहीं मान लिया जाता ? इस दलील से वह बुद्धि राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थक शब्दों के भी व्युत्पत्ति के अनुसार अलग-अलग अर्थ करती है और कहती है कि राजचिह्नों से शोभित

'राजा', मनुष्यों का रक्षण करनेवाला 'नृप' तथा पृथ्वी का पालन-संवर्धन करनेवाला 'भूपति' है। इस तरह उक्त तीनों नामों के एक ही अर्थ में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद माननेवाला विचार समभिरूढ़नय है। पर्याय-भेद से की जानेवाली अर्थभेद की सभी कल्पनाएँ समभिरूढ़नय की कोटि में आती हैं।

एवंभूतनय—विशेष रूप से गहराई में जानेवाली बुद्धि अन्तिम गहराई में पहुँचने पर विचार करती है कि यदि व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद माना जा सकता है, तब तो ऐसा भी मानना चाहिए कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। इस कल्पना के अनुसार किसी समय राजचिह्नों से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, अथवा मनुष्य-रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त करना मात्र ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नहीं। 'राजा' तो वास्तव में तभी कहला सकता है जब राजदण्ड धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो; इसी तरह 'नृप' तब कहना चाहिए जब वह मनुष्यों का रक्षण कर रहा हो। सारांश, किसी व्यक्ति के लिए राजा या नृप शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक है जब उसमें शब्द का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ भी घटित होता हो।

इसी तरह जब कोई सेवा कर रहा हो, उसी समय या उतनी बार ही उसे 'सेवक' नाम से पुकारा जा सकता है। वास्तव में जब कोई क्रिया हो रही हो तभी उससे सम्बन्धित विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार एवंभूतनय कहलाता है।

शेष वक्तव्य—उक्त चारों प्रकार की विचार-कोटियों का अन्तर तो उदाहरणों से ही स्पष्ट हो सकता है। उसे अलग से लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। अतएव उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही अवलम्बित रहता है। इन चारों नयों का मूल पर्यायार्थिक नय है। यह बात इसलिए कही गई है कि ऋजुसूत्र केवल वर्तमान को ही स्वीकार करता है, भूत और भविष्यत् को नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि इसका विषय सामान्य न रहकर विशेष रूप से ही ध्यान में आता है; अर्थात् वास्तव में ऋजुसूत्र से ही पर्यायार्थिक नय—विशेषगामिनी दृष्टि—का आरम्भ माना जाता है। ऋजुसूत्र के बाद के तीन नय तो उत्तरोत्तर और भी अधिक विशेषगामी बनते जाते हैं। इस तरह उनका पर्यायार्थिक होना तो स्पष्ट ही है।

इन चार नयों में भी, जब कि उत्तर नय को पूर्व नय की अपेक्षा सूक्ष्म कहा जाता है, तब वह पूर्व नय उतने अंश में तो उत्तर नय की अपेक्षा सामान्यगामी ही

है। इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की भूमिका पर स्थित नैगमादि तीन नय भी पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने से उतने अंश में तो पूर्व की अपेक्षा विशेषगामी हैं।

इतने पर भी पहले तीन नयों को द्रव्यार्थिक और बाद के चार नयों को पर्यायार्थिक कहने का तात्पर्य यही है कि प्रथम तीनों में सामान्य तत्त्व और उसका विचार अधिक स्पष्ट है, क्योंकि वे तीनों अधिक स्थूल हैं। बाद के चार नय विशेष सूक्ष्म हैं, उनमें विशेष तत्त्व व उसका विचार भी ज्यादा स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता अथवा अस्पष्टता के कारण तथा उनकी मुख्यता-गौणता को ध्यान में रखकर ही सात नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो विभाग किये गए हैं। पर वास्तव में सामान्य और विशेष ये दोनों एक ही वस्तु के अविभाज्य दो पहलू हैं, अतः एकान्तरूप में एक नय के विषय को दूसरे नय के विषय से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता।

नयदृष्टि, विचारसरणी या सापेक्ष अभिप्राय इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है। पूर्वोक्त वर्णन से इतना अवश्य पता चलता है कि किसी भी एक विषय को लेकर अनेक विचारसरणियाँ हो सकती हैं। विचारसरणियाँ चाहे जितनी हों, पर संक्षिप्त करके अमुक दृष्टि से उनके सात ही भाग किये गए हैं। उनमें भी पहली विचारसरणी की अपेक्षा दूसरी में और दूसरी की अपेक्षा तीसरी में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मत्व आता जाता है। एवंभूत नाम की अन्तिम विचार-सरणी में सबसे अधिक सूक्ष्मत्व दिखाई देता है। इसीलिए उक्त चार विचार-सरणियों के अन्य प्रकार से भी दो भाग किये गए हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय। व्यवहार अर्थात् स्थूलगामी या उपचार-प्रधान और निश्चय अर्थात् सूक्ष्मगामी या तत्त्वस्पर्शी। वास्तव में एवंभूत ही निश्चय की पराकाष्ठा है।

एक तीसरे प्रकार से भी सात नयों के दो विभाग किये जाते हैं—शब्दनय और अर्थनय। जिसमें अर्थ का प्राधान्य हो वह अर्थनय और जिसमें शब्द का प्राधान्य हो वह शब्दनय। पहले चार नय अर्थनय हैं और शेष तीन शब्दनय हैं।

पूर्वोक्त दृष्टियों के अतिरिक्त और भी अनेक दृष्टियाँ हैं। जीवन के दो भाग हैं—एक सत्य को पहचानने का और दूसरा सत्य को पचाने का। जो भाग केवल सत्य का विचार करता है अर्थात् तत्त्वस्पर्शी होता है, वह ज्ञानदृष्टि (ज्ञाननय) है और जो भाग तत्त्वानुभव को पचाने में ही पूर्णता समझता है वह क्रियादृष्टि (क्रियानय) है।

ऊपर वर्णित सातों नय तत्त्व-विचारक होने से ज्ञाननय में समा जाते हैं। इन नयों के द्वारा शोधित सत्य को जीवन में उतारने की दृष्टि ही क्रियादृष्टि है। क्रिया का अर्थ है जीवन को सत्यमय बनाना। ३४-३५।

●

: २ :

जीव

प्रथम अध्याय में सात पदार्थों का नामनिर्देश किया गया है। आगे के नौ अध्यायों में क्रमशः उनका विशेष विचार किया गया है। इस अध्याय में 'जीव' पदार्थ का तत्त्वस्वरूप उसके भेद-प्रभेद आदि विषयों का वर्णन किया जा रहा है।

पाँच भाव, उनके भेद और उदाहरण

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। १।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्। २।

सम्यक्त्वचारित्रे। ३।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। ४।

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च। ५।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। ६।

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। ७।

औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) ये तीन तथा औदयिक, पारिणामिक ये दो, कुल पाँच भाव हैं। ये जीव के स्वरूप हैं।

उक्त पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं।

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव हैं।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र (सर्वविरति) और संयमासंयम (देशविरति) ये अठारह क्षायोपशमिक भाव हैं ।

चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिङ्ग (वेद), एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धभाव और छः लेश्याएँ ये इक्कीस औदयिक भाव हैं ।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं ।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ कैसा मन्तव्य-भेद है यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है । सांख्य और वेदान्त-दर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य मानते हैं तथा उसमें कोई परिणाम नहीं मानते । वे ज्ञान, सुख-दुःखादि परिणामों को प्रकृति या अविद्या के ही मानते हैं । वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं सही, फिर भी वे आत्मा को एकान्तनित्य (अपरिणामी) मानते हैं । नव्य-मीमांसक मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है । बौद्ध-दर्शन के अनुसार आत्मा एकान्तक्षणिक अर्थात् निरन्वय[1] परिणामों का प्रवाह मात्र है । जैनदर्शन का कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड़ पदार्थों में न तो कूटस्थनित्यता[2] है और न एकान्तक्षणिकता, किन्तु परिणामि-नित्यता[3] है, वैसे ही आत्मा भी परिणामिनित्य है । अतएव ज्ञान, सुख, दुःख आदि पर्याय आत्मा के ही हैं ।

आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था के नहीं होते; कुछ पर्याय किसी एक अवस्था के होते हैं तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था के । पर्यायों की वे भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही भाव कहलाती हैं । आत्मा के पर्याय अधिक-से-अधिक पाँच भाववाले हो सकते हैं । वे पाँच भाव ये हैं—१. औपशमिक, २. क्षायिक, ३. क्षायोपशमिक, ४. औदयिक और ५. पारिणामिक ।

---

१. विभिन्न क्षणों में सुख-दुःख अथवा थोड़े-बहुत भिन्न विषयक ज्ञानादि परिणामों का जो अनुभव होता है, उन्हीं परिणामों को मानना और उनके बीच सूत्ररूप में किसी भी अखण्ड स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करना ही निरन्वय परिणामों का प्रवाह है ।

२. हथौड़े की चाहे जितनी चोटें लगें, तब भी निहाई जैसे स्थिर ही रहती है, वैसे ही देश-कालादि सम्बन्धी विविध परिवर्तनों के होने पर भी जिसमें किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता वही कूटस्थनित्यता है ।

३. तीनों कालों में मूल वस्तु के कायम रहने पर भी देश-कालादि के निमित्त से जो परिवर्तन होता रहता है वह परिणामिनित्यता है ।

भावों का स्वरूप—१. औपशमिक भाव उपशम से उत्पन्न होता है। उपशम एक प्रकार की आत्म-शुद्धि है जो सत्तागत कर्म का उदय बिलकुल रुक जाने पर होती है, जैसे मैल तल में बैठ जाने पर जल स्वच्छ हो जाता है।

२. क्षायिक भाव क्षय से उत्पन्न होता है। क्षय आत्मा की वह परमविशुद्धि है जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर प्रकट होती है, जैसे सर्वथा मैल के निकल जाने पर जल नितान्त स्वच्छ हो जाता है।

३. क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिकशुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय[1] द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि मिश्रित है, जैसे कोदों को धोने से उसकी मादक शक्ति कुछ क्षीण हो जाती है और कुछ रह जाती है।

४. औदयिक भाव उदय से पैदा होता है। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य (मालिन्य) है, जो कर्म के विपाकानुभव से होता है, जैसे मैल के मिल जाने पर जल मलिन हो जाता है।

५. पारिमाणिक भाव द्रव्य का परिणाम है, जो द्रव्य के अस्तित्व से अपने आप होता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप-परिणमन ही पारिणामिक भाव है।

ये पाँचों भाव ही आत्मा के स्वरूप हैं। संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय इन पाँच भावों में से किसी-न-किसी भाववाले ही होंगे। अजीव में पाँचों भाववाले पर्याय सम्भव नहीं हैं, इसलिए ये भाव अजीव के स्वरूप नहीं हैं। उक्त पाँचों भाव सभी जीवों में एक साथ होने का भी नियम नहीं है। मुक्त जीवों में दो भाव होते हैं—क्षायिक और पारिणामिक। संसारी जीवों में कोई तीन भाववाला, कोई चार भाववाला, कोई पाँच भाववाला होता है, पर दो भाववाला कोई नहीं होता। अर्थात् मुक्त आत्मा के पर्याय दो भावों तक और संसारी आत्मा के पर्याय तीन से लेकर पाँच भावों तक पाये जाते हैं। अतएव पाँच भावों को जीव का स्वरूप जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव-विशेष में सम्भावना की अपेक्षा से कहा गया है।

औदयिक भाववाले पर्याय वैभाविक और शेष चारों भाववाले पर्याय स्वाभाविक हैं। १।

---

१. नीरस किये गये कर्मदलिकों का वेदन प्रदेशोदय है और रस विशिष्ट दलिकों का विपाकवेदन विपाकोदय है।

उक्त पाँचों भावों के कुल ५३ भेदों का निर्देश इस सूत्र में है; जो आगे के सूत्रों में नामपूर्वक क्रमशः इस प्रकार बतलाये गए हैं कि किस भाववाले कितने-कितने पर्याय हैं और कौन-कौन-से हैं। २।

औपशमिक भाव के भेद—दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व का और चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही पर्याय औपशमिक भाववाले हैं। ३।

क्षायिक भाव के भेद—केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन, पंचविध अन्तराय के क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व तथा चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षय से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसीलिए केवलज्ञानादि नवविध पर्याय क्षायिक कहलाते हैं। ४।

क्षायोपशमिक भाव के भेद—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यायज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान का आविर्भाव होता है। मति-अज्ञानावरण, श्रुत-अज्ञानावरण और विभङ्ग-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान का आविर्भाव होता है। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन का आविर्भाव होता है। पञ्चविध अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ आदि पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषायों के क्षयोपशम से चारित्र (सर्वविरति) का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कपाय के क्षयोपशम से संयमासंयम (देशविरति) का आविर्भाव होता है। इस तरह मतिज्ञान आदि अठारह पर्याय क्षायोपशमिक हैं। ५।

औदयिक भाव के भेद—गति नाम-कर्म के उदय का फल नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। कषायमोहनीय के उदय से क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय पैदा होते हैं। वेदमोहनीय के उदय से स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद होता है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन (तत्त्व का अश्रद्धान) होता है। अज्ञान (ज्ञानाभाव) ज्ञानावरणीय कर्म के उदय का फल है। असंयतत्व(विरति का सर्वथा अभाव) अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के चारित्र-मोहनीय के उदय का परिणाम है। असिद्धत्व (शरीरधारण) वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय का परिणाम है। कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल ये छः लेश्याएँ (कषायोदयरञ्जित योगपरिणाम) कषाय

के उदय अथवा योगजनक शरीरनामकर्म के उदय का परिणाम है। इस तरह ये गति आदि इक्कीस पर्याय औदयिक हैं। ६।

पारिणामिक भाव के भेद—जीवत्व (चैतन्य), भव्यत्व (मुक्ति की योग्यता), अभव्यत्व (मुक्ति की अयोग्यता) ये तीन भाव स्वाभाविक हैं अर्थात् न तो वे कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं; वे अनादिसिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं, इसी कारण वे पारिणामिक हैं।

प्रश्न—क्या पारिणामिक भाव तीन ही हैं ?

उत्तर—नहीं, और भी हैं।

प्रश्न—कौन-से हैं ?

उत्तर—अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणत्व, प्रदेशत्व, असंख्यात-प्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक हैं।

प्रश्न—फिर तीन ही क्यों बतलाये गए ?

उत्तर—यहाँ जीव का स्वरूप-कथन ही अभीष्ट है जो उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया जा सकता है। इसलिए औपशमिक आदि भावों के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाये हैं जो असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक हैं अवश्य, पर वे जीव की भाँति अजीव में भी होते हैं। अतः वे जीव के असाधारण भाव नहीं हैं। इसीलिए यहाँ उनका निर्देश नहीं किया गया तथापि अन्त के 'आदि' शब्द द्वारा उन्हीं को सूचित किया गया है और दिगम्बर सम्प्रदाय में यही अर्थ 'च' शब्द से लिया गया है। ७।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् । ८ ।

जीव का लक्षण उपयोग है।

जीव, जिसे आत्मा या चेतन भी कहते हैं, अनादिसिद्ध, स्वतन्त्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने से उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन, प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि से उसका ज्ञान हो सकता है। तथापि सामान्य जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसा लक्षण बतला देना उचित है जिससे आत्मा की पहचान हो सके। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत सूत्र में जीव का लक्षण बतलाया गया है। आत्मा लक्ष्य (ज्ञेय) है और उपयोग लक्षण (जानने का उपाय) है। जगत् अनेक जड़-चेतन पदार्थों का मिश्रण है। उसमें से जड़ और

चेतन का विवेकपूर्वक निश्चय उपयोग के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि उपयोग तरतमभाव से सभी आत्माओं में अवश्य होता है। जड़ ही उपयोगरहित होता है।

प्रश्न—उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर—बोधरूप व्यापार को उपयोग कहते हैं।

प्रश्न—आत्मा में बोध की क्रिया होती है और जड़ में नहीं, ऐसा क्यों ?

उत्तर—बोध का कारण चेतनाशक्ति है। जिसमें चेतनाशक्ति हो उसी में बोधक्रिया सम्भव है। चेतनाशक्ति आत्मा में ही होती है, जड़ में नहीं।

प्रश्न—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है इसलिए उसमें अनेक गुण होने चाहिए, फिर उपयोग को ही लक्षण क्यों कहा गया ?

उत्तर—निःसन्देह आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं, पर उन सब में उपयोग ही मुख्य है, क्योंकि स्व-परप्रकाशरूप होने से उपयोग ही अपना तथा अन्य पर्यायों का ज्ञान कराता है। इसके सिवाय आत्मा जो कुछ अस्ति-नास्ति जानता है, ननु-नच करता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है वह सब उपयोग के द्वारा ही। अतएव उपयोग ही सब पर्यायों में प्रधान है।

प्रश्न—क्या लक्षण स्वरूप से भिन्न है ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तब तो पहले जिन पाँच भावों को जीव का स्वरूप कहा गया है वे भी लक्षण हुए, फिर दूसरा लक्षण बतलाने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—सब असाधारण धर्म भी एक-से नहीं होते। कुछ तो ऐसे हैं जो लक्ष्य में होते हैं अवश्य, पर कभी होते हैं और कभी नहीं। कुछ ऐसे भी हैं जो समग्र लक्ष्य में नहीं रहते और कुछ ऐसे भी होते हैं जो तीनों कालों में समग्र लक्ष्य में रहते हैं। समग्र लक्ष्य में तीनों कालों में उपयोग ही होता है। इसलिए लक्षण-रूप से उसी का पृथक् रूप से कथन किया गया और उससे यह सूचित किया गया है कि औपशमिक आदि भाव जीव के स्वरूप हैं अवश्य, पर वे न तो सब आत्माओं में पाये जाते हैं और न त्रिकालवर्ती ही हैं। त्रिकालवर्ती और सब आत्माओं में पाया जानेवाला एक जीवत्वरूप पारिणामिक भाव ही है, जिसका फलित अर्थ उपयोग ही है। इसलिए उसी का कथन अलग से यहाँ लक्षणरूप में किया गया है। दूसरे सब भाव कादाचित्क (कभी होनेवाले, कभी नहीं होनेवाले), कतिपय लक्ष्यवर्ती और कर्म-सापेक्ष होने से जीव के उपलक्षण हो सकते हैं, लक्षण नहीं।

लक्षण और उपलक्षण में यही अन्तर है कि जो प्रत्येक लक्ष्य में सर्वात्मभाव से तीनों कालों में पाया जाय, वह लक्षण है, जैसे अग्नि में उष्णत्व; और जो किसी लक्ष्य में हो और किसी में न हो, कभी हो और कभी न हो तथा स्वभावसिद्ध न हो, वह उपलक्षण है, जैसे अग्नि के लिए धूम। जीवत्व को छोड़कर भावों के बावन भेद आत्मा के उपलक्षण ही हैं। ८।

उपयोग की विविधता

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। ९।

वह उपयोग दो प्रकार का है तथा आठ और चार प्रकार का है।

जानने की शक्ति (चेतना) समान होने पर भी जानने की क्रिया (बोध-व्यापार या उपयोग) सब आत्माओं में समान नहीं होती। उपयोग की यह विविधता बाह्य-आभ्यन्तर कारणकलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय-भेद, इन्द्रिय आदि साधन-भेद, देश-काल-भेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की है। आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। इस सामग्री-वैचित्र्य के कारण एक आत्मा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोधक्रिया करती है और अनेक आत्माएँ एक ही समय में भिन्न-भिन्न बोधक्रियाएँ करती हैं। बोध की यह विविधता अनुभवगम्य है। इसको संक्षेप में वर्गीकरण द्वारा बतलाना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

उपयोगराशि के सामान्य रूप से दो विभाग किये जाते हैं—१. साकार, २. अनाकार। विशेष रूप से साकार-उपयोग के आठ और अनाकार-उपयोग के चार विभाग किये गए हैं। इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद हैं।

साकार-उपयोग के आठ भेद ये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान। अनाकार-उपयोग के चार भेद ये हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

प्रश्न—साकार और अनाकार उपयोग का अर्थ क्या है?

उत्तर—जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेष रूप से जाननेवाला है वह साकार-उपयोग है और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्य रूप से जाननेवाला है वह अनाकार-उपयोग है। साकार-उपयोग को ज्ञान या सविकल्पक बोध और अनाकार-उपयोग को दर्शन या निर्विकल्पक बोध कहते हैं।

प्रश्न—उक्त बारह भेदों में से कितने भेद पूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के व्यापार हैं और कितने अपूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के?

उत्तर—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो पूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं और शेष सब अपूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं।

प्रश्न—विकास की अपूर्णता के समय तो अपूर्णता की विविधता के कारण उपयोग-भेद सम्भव है, पर विकास की पूर्णता के समय उपयोग-भेद कैसे ?

उत्तर—विकास की पूर्णता के समय केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप से उपयोग-भेद मानने का कारण केवल ग्राह्य-विषय की द्विरूपता है अर्थात् प्रत्येक विषय सामान्य और विशेष रूप से उभयस्वभावी है, इसलिए उसको जाननेवाला चेतनाजन्य व्यापार भी ज्ञान और दर्शन के रूप में दो प्रकार का होता है।

प्रश्न—साकार-उपयोग के आठ भेदों में ज्ञान और अज्ञान का अन्तर क्या है ?

उत्तर—और कुछ नहीं, केवल सम्यक्त्व के सहभाव अथवा असहभाव का अन्तर है।

प्रश्न—तो फिर शेष दो ज्ञानों के प्रतिपक्षी अज्ञान और दर्शन के प्रतिपक्षी अदर्शन क्यों नहीं ?

उत्तर—मनःपर्याय और केवल ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं, इसलिए उनका प्रतिपक्ष सम्भव नहीं। दर्शनों में केवलदर्शन सम्यक्त्व के बिना नहीं होता पर शेष तीन दर्शन सम्यक्त्व के अभाव में भी होते हैं तथापि उनके प्रतिपक्षी तीन अदर्शन न कहने का कारण यह है कि दर्शन सामान्यमात्र का बोध है। इसलिए सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के दर्शन में कोई भेद नहीं बतलाया जा सकता।

प्रश्न—उक्त बारह भेदों की व्याख्या क्या है ?

उत्तर—ज्ञान के आठ भेदों का स्वरूप[1] पहले ही बतलाया जा चुका है। दर्शन के चार भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—१. नेत्रजन्य सामान्यबोध चक्षुर्दर्शन, २. नेत्र के सिवाय अन्य किसी इन्द्रिय से या मन से होनेवाला सामान्यबोध अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिलब्धि से मूर्त पदार्थों का सामान्यबोध अवधिदर्शन और ४. केवललब्धि-जन्य समस्त पदार्थों का सामान्यबोध केवलदर्शन है। ९।

जीवराशि के विभाग

संसारिणो मुक्ताश्च। १०।

संसारी और मुक्त ये दो विभाग हैं।

जीव अनन्त हैं। चैतन्य रूप से सब जीव समान हैं। यहाँ उनके दो भेद पर्याय-विशेष के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से किये गए हैं, अर्थात् एक संसार-

१. देखें—अ० १, सू० ९ से ३३ तक।

रूप पर्यायसहित और दूसरे संसाररूप पर्याय से रहित। पहले प्रकार के जीव संसारी और दूसरे प्रकार के मुक्त कहलाते हैं।

प्रश्न--संसार क्या है ?

उत्तर—द्रव्य और भावबन्ध ही संसार है। कर्मदल का विशिष्ट सम्बन्ध द्रव्य-बन्ध है। राग-द्वेष आदि वासनाओं का सम्बन्ध भावबन्ध है। १०।

संसारी जीवों के भेद-प्रभेद

समनस्काऽमनस्काः। ११।
संसारिणस्त्रसस्थावराः। १२।
पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः। १३।
तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। १४।

संसारी जीव मनसहित और मनरहित हैं।

तथा वे त्रस और स्थावर हैं।

पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन स्थावर हैं।

तेजःकाय, वायुकाय और द्वीन्द्रिय आदि त्रस हैं।

संसारी जीव अनन्त हैं। संक्षेप में उनके दो विभाग हैं, वे भी दो तरह से। पहला विभाग मन के सम्बन्ध और असम्बन्ध पर निर्भर है, अर्थात् मनसहित और मनरहित—इस तरह दो विभाग किये गए हैं, जिनमें सकल संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर है। इस विभाग में भी सकल संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

प्रश्न—मन किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिससे विचार किया जा सके वह आत्मिक शक्ति मन है और इस शक्ति से विचार करने में सहायक होनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन कहलाते हैं। पहले को भावमन और दूसरे को द्रव्यमन कहते हैं।

प्रश्न—त्रसत्व और स्थावरत्व क्या है ?

उत्तर—उद्देश्यपूर्वक एक जगह से दूसरी जगह जाने या हिलने-डुलने की शक्ति त्रसत्व है और इस शक्ति का न होना स्थावरत्व है।

प्रश्न—मनरहित जीवों के क्या द्रव्य या भाव में से कोई मन नहीं होता ?

उत्तर—होता है, केवल भावमन।

प्रश्न—तब तो सभी जीव मनसहित हुए, फिर मनसहित और मनरहित का भेद क्यों ?

उत्तर—द्रव्यमन की अपेक्षा से, अर्थात् जैसे अत्यन्त बूढ़ा मनुष्य पाँव और चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे के बिना नहीं चल सकता, वैसे ही भावमन होने पर भी द्रव्यमन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता। इसी कारण द्रव्यमन की प्रधानता मानकर उसके भाव और अभाव की अपेक्षा से मन-सहित और मनरहित विभाग किये गए हैं।

प्रश्न—दूसरा विभाग करने का यह अर्थ तो नहीं है कि सभी त्रस समनस्क और सभी स्थावर अमनस्क हैं?

उत्तर—नहीं, त्रस में भी कुछ ही समनस्क होते हैं, सब नहीं। स्थावर तो सभी अमनस्क ही होते हैं। ११-१२।

स्थावर जीवों के पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन भेद हैं और त्रस जीवों के तेजःकाय, वायुकाय ये दो भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये चार भेद भी हैं।

प्रश्न—त्रस और स्थावर का अर्थ क्या है?

उत्तर—जिसके त्रस नाम-कर्म का उदय हो वह त्रस जीव और जिसके स्थावर नाम कर्म का उदय हो वह स्थावर जीव।

प्रश्न—त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान क्या है?

उत्तर—दुःख त्यागने और सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति का स्पष्ट रूप में दिखाई देना और न दिखाई देना ही क्रमशः त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान है।

प्रश्न—क्या द्वीन्द्रिय आदि जीवों की तरह तेजःकायिक और वायुकायिक जीव भी उक्त प्रवृत्ति करते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं कि उनको त्रस माना जाय?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर पृथिवीकायिक आदि की तरह उनको स्थावर क्यों नहीं कहा गया?

उत्तर—उक्त लक्षण के अनुसार वे वास्तव में स्थावर ही हैं। यहाँ द्वीन्द्रिय आदि के साथ गति का सादृश्य देखकर उनको त्रस कहा गया है अर्थात् त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धित्रस और गतित्रस। त्रस नाम-कर्म के उदयवाले लब्धित्रस हैं, ये ही मुख्य त्रस हैं जैसे द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीव। स्थावर नाम-कर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे

गतित्रस हैं। ये उपचार मात्र से त्रस हैं जैसे तेजःकायिक और वायु-कायिक। १३–१४।

इन्द्रियों की संख्या, उनके भेद-प्रभेद और नाम-निर्देश

पञ्चेन्द्रियाणि। १५।

द्विविधानि। १६।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। १७।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। १८।

उपयोगः स्पर्शादिषु। १९।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। २०।

इन्द्रियाँ पाँच हैं।

प्रत्येक इन्द्रिय दो-दो प्रकार की है।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरणरूप है।

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगरूप है।

उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियों के नाम हैं।

यहाँ इन्द्रियों की संख्या के निर्देश का उद्देश्य यह है कि यह ज्ञात किया जा सके कि संसारी जीवों के कितने विभाग हो सकते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं। सभी संसारी जीवों के पाँच इन्द्रियाँ नहीं होतीं। कुछ के एक, कुछ के दो, इस तरह एक-एक बढ़ाते-बढ़ाते कुछ के पाँच इन्द्रियाँ तक होती हैं। एक इन्द्रियवाले एकेन्द्रिय, दो वाले द्वीन्द्रिय, इसी तरह त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार संसारी जीवों के पाँच भेद होते हैं।

प्रश्न—इन्द्रिय का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिससे ज्ञान प्राप्त हो वह इन्द्रिय है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियाँ पाँच से अधिक नहीं हैं ?

उत्तर—नहीं, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। यद्यपि सांख्य आदि शास्त्रों में वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग या जननेन्द्रिय) को भी इन्द्रिय कहा गया है, परन्तु वे कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच से अधिक नहीं हैं और यहाँ उन्हीं का उल्लेख है।

प्रश्न—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिससे मुख्यतया जीवन-यात्रोपयोगी ज्ञान हो वह ज्ञानेन्द्रिय और जिससे जीवन-यात्रोपयोगी आहार, विहार, निहार आदि क्रिया हो वह कर्मेन्द्रिय है। १५।

पाँचों इन्द्रियों के द्रव्य और भाव रूप से दो-दो भेद हैं। पुद्गलमय जड़ इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है और आत्मिक परिणामरूप इन्द्रिय भावेन्द्रिय है। १६।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप से दो प्रकार की है। शरीर पर दीखनेवाली इन्द्रियों की पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचना के रूप में जो आकृतियाँ हैं उनको निर्वृत्ति-इन्द्रिय तथा निर्वृत्ति-इन्द्रिय की बाहरी व भीतरी पौद्गलिक शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं जिसके बिना निर्वृत्ति-इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में असमर्थ है। १७।

भावेन्द्रिय के भी लब्धि और उपयोग ये दो प्रकार हैं। मतिज्ञानावरणीयकर्म आदि का क्षयोपशम जो एक प्रकार का आत्मिक परिणाम है वह लब्धीन्द्रिय है। लब्धि, निर्वृत्ति तथा उपकरण इन तीनों के मिलने से जो रूपादि विषयों का सामान्य और विशेष बोध होता है वह उपयोगेन्द्रिय है। उपयोगेन्द्रिय मतिज्ञानरूप तथा चक्षु-अचक्षु दर्शनरूप है। १८।

मतिज्ञानरूप उपयोग जिसे भावेन्द्रिय कहा गया है वह अरूपी (अमूर्त) पदार्थों को जान सकता है पर उनके सकल गुण व पर्यायों को नहीं जान सकता, मात्र स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर्यायों को ही जान सकता है।

प्रश्न—प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्य-भावरूप से दो-दो और द्रव्य के तथा भाव के भी अनुक्रम से निर्वृत्ति-उपकरणरूप तथा लब्धि-उपयोगरूप दो-दो भेद तो ज्ञात हुए, किन्तु इनका प्राप्तिक्रम क्या है ?

उत्तर—लब्धीन्द्रिय होने पर ही निर्वृत्ति सम्भव है। निर्वृत्ति के बिना उपकरण नहीं अर्थात् लब्धि प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह निर्वृत्ति प्राप्त होने पर उपकरण और उपयोग तथा उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग सम्भव है। सारांश यह है कि पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होती है। पर ऐसा कोई नियम नहीं है कि उत्तर-उत्तर इन्द्रिय के प्राप्त होने पर ही पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त हो। १९।

इन्द्रियों के नाम—१. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा), २. रसनेन्द्रिय (जिह्वा), ३. घ्राणेन्द्रिय (नासिका), ४. चक्षुरिन्द्रिय (आँख), ५. श्रोत्रेन्द्रिय (कान)। पाँचों इन्द्रियों के लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग ये चार-चार प्रकार हैं

अर्थात् इन चार प्रकारों की समष्टि ही स्पर्शन आदि एक-एक पूर्ण इन्द्रिय है। इस समष्टि में जितनी न्यूनता है उतनी ही इन्द्रिय की अपूर्णता है।[1]

प्रश्न—उपयोग तो ज्ञान-विशेष है जो इन्द्रिय का फल है; उसको इन्द्रिय कैसे कहा गया ?

उत्तर—यद्यपि लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों की समष्टि का कार्य उपयोग है तथापि यहाँ उपचार से अर्थात् कार्य में कारण का आरोप करके उसे भी इन्द्रिय कहा गया है। २०।

इन्द्रियों के ज्ञेय अर्थात् विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः । २१ ।

श्रुतमनिन्द्रियस्य । २२ ।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण (रूप) और शब्द ये पाँच क्रमशः पाँच इन्द्रियों के अर्थ (ज्ञेय या विषय) हैं।

अनिन्द्रिय (मन) का विषय श्रुत है।

जगत् के सब पदार्थ एक-से नहीं हैं। कुछ पदार्थ मूर्त हैं और कुछ अमूर्त। वे मूर्त हैं जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हों। मूर्त पदार्थ ही इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, अमूर्त पदार्थ नहीं। पाँचों इन्द्रियों के जो भिन्न-भिन्न विषय बतलाये गए हैं वे आपस में सर्वथा भिन्न और मूलतत्त्व (द्रव्यरूप) नहीं किन्तु एक ही द्रव्य के भिन्न-भिन्न अंश (पर्याय) हैं अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ एक ही द्रव्य की पारस्परिक भिन्न-भिन्न अवस्था-विशेष को जानने में प्रवृत्त होती हैं। अतएव इस सूत्र में पाँच इन्द्रियों के जो पाँच विषय बतलाये गए हैं उन्हें स्वतन्त्र या अलग-अलग नहीं, अपितु एक ही मूर्त (पौद्गलिक) द्रव्य के अंश समझना चाहिए। जैसे एक लड्डू को पाँचों इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न रूप में जानती हैं। अंगुली छूकर उसके शीत-उष्ण आदि स्पर्श का ज्ञान कराती है। जीभ चखकर उसके खट्टे-मीठे आदि रस का ज्ञान कराती है। नाक सूंघकर उसकी खुशबू या बदबू का ज्ञान कराता है। आँख देखकर उसके लाल, सफेद आदि रंग का ज्ञान कराती है। कान उस कड़े लड्डू को खाने आदि से उत्पन्न शब्दों या ध्वनि का ज्ञान कराता है। यह बात नहीं है कि उस लड्डू में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द इन पाँचों विषयों का स्थान अलग-अलग होता है। वे सभी उसके सब भागों

---

१. इनके विशेष विचार के लिए देखें—हिन्दी **चौथा कर्मग्रन्थ**, पृ० ३६, 'इन्द्रिय' शब्दविषयक परिशिष्ट।

में एक साथ रहते हैं, क्योंकि वे सभी एक ही द्रव्य के अविभाज्य पर्याय हैं। उनका विभाग केवल बुद्धि द्वारा इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों की शक्ति अलग-अलग है। वे कितनी ही पटु हों, अपने ग्राह्यविषय के अतिरिक्त अन्य विषय को जानने में समर्थ नहीं हैं। इसीलिए पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय असंकीर्ण (पृथक्-पृथक्) हैं।

प्रश्न—स्पर्श आदि पाँचों सहचरित हैं, तब ऐसा क्यों है कि किसी-किसी वस्तु में उन पाँचों की उपलब्धि न होकर केवल एक या दो की ही होती है, जैसे सूर्य आदि की प्रभा का रूप तो मालूम होता है, पर स्पर्श, रस, गन्ध आदि नहीं। इसी तरह पुष्पादि से अमिश्रित वायु का स्पर्श ज्ञात होने पर भी रस, गन्ध आदि ज्ञात नहीं होते।

उत्तर—प्रत्येक भौतिक द्रव्य में स्पर्श आदि उक्त सभी पर्याय होते हैं, पर उत्कट पर्याय ही इन्द्रियग्राह्य होता है। किसी में स्पर्श आदि पाँचों पर्याय उत्कटतया अभिव्यक्त होते हैं और किसी में एक-दो आदि। शेष पर्याय अनुत्कट अवस्था में होने के कारण इन्द्रियों से नहीं जाने जाते, पर होते अवश्य हैं। इन्द्रिय की पटुता (ग्रहणशक्ति) भी सब जाति के प्राणियों की समान नहीं होती। एकजातीय प्राणियों में भी इन्द्रिय की पटुता विविध प्रकार की देखने में आती है। इसलिए स्पर्श आदि की उत्कटता या अनुत्कटता का विचार इन्द्रिय की पटुता के तरतमभाव पर भी निर्भर करता है। २१।

इन पाँचों इन्द्रियों के अतिरिक्त मन भी एक इन्द्रिय है। मन ज्ञान का साधन तो है, पर स्पर्शन आदि इन्द्रियों की तरह बाह्य साधन नहीं है। वह आन्तरिक साधन है, अतः उसे अन्तःकरण भी कहते हैं। मन का विषय परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल मूर्त पदार्थ को और वह भी अंश रूप में ग्रहण करती हैं, जब कि मन मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों को अनेक रूपों में ग्रहण करता है। मन का कार्य विचार करना है, जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गए और न ग्रहण किये गए, विकास की योग्यता के अनुसार सभी विषय आते हैं। यह विचार ही श्रुत है। इसीलिए कहा गया है कि अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है अर्थात् मूर्त-अमूर्त सभी तत्त्वों का स्वरूप मन का प्रवृत्ति-क्षेत्र है।

प्रश्न—श्रुत यदि मन का कार्य है और वह एक प्रकार का स्पष्ट तथा विशेषग्राही ज्ञान है, तो फिर मन से मतिज्ञान क्यों नहीं होता ?

उत्तर—होता है, किन्तु मन के द्वारा पहले पहल सामान्य रूप से वस्तु का जो ग्रहण होता है तथा जिसमें शब्दार्थ-सम्बन्ध, पौर्वापर्य श्रृंखला और विकल्प-

रूप विशेषता न हो वही मतिज्ञान है। इसके बाद होनेवाली उक्त विशेषतायुक्त विचारधारा श्रुतज्ञान है, अर्थात् मनोजन्य ज्ञान-व्यापार की धारा में प्राथमिक अल्प अंश मतिज्ञान है और बाद का अधिक अंश श्रुतज्ञान है। सारांश, यह है कि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से केवल मतिज्ञान होता है, पर मन से मति और श्रुत दोनों होते हैं। इनमें भी मति की अपेक्षा श्रुत की ही प्रधानता है। इसी कारण श्रुत को यहाँ मन का विषय कहा गया है।

प्रश्न—मन को अनिन्द्रिय कहने का क्या कारण है ?

उत्तर—यद्यपि वह भी ज्ञान का साधन होने से इन्द्रिय ही है, परन्तु रूप आदि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय (ईषद्इन्द्रिय या इन्द्रिय-जैसा) कहा गया है।

प्रश्न—क्या मन भी नेत्र आदि की तरह शरीर के किसी विशिष्ट स्थान में रहता है या सर्वत्र रहता है ?

उत्तर—वह शरीर के भीतर सर्वत्र[1] रहता है, किसी विशिष्ट स्थान में नहीं; क्योंकि शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गए सभी विषयों में मन की गति है जो उसे देहव्यापी माने बिना सम्भव नहीं। इसीलिए कहा जाता है 'यत्र पवनस्तत्र मनः'। २१-२२।

इन्द्रियों के स्वामी

वाय्वन्तानामेकम्। २३।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि। २४।

संज्ञिनः समनस्काः। २५।

वायुकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय होती है।

कृमि, पिपीलिका (चींटी), भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है।

संज्ञी मनवाले होते हैं।

सूत्र १३ व १४ में संसारी जीवों के स्थावर और त्रस ये दो भेद बतलाये गए हैं। उनके नौ निकाय (जातियाँ) हैं जैसे पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पति-

---

१. यह मत श्वेताम्बर परम्परा का है; दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर नहीं है, केवल हृदय है।

काय, तेजःकाय, वायुकाय ये पाँच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस। इनमें से वायुकाय तक के पाँच निकायों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

कृमि, जलौका, लट आदि के दो इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन और रसन। चींटी, कुंथु, खटमल आदि के तीन इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसन और घ्राण। भौंरे, मक्खी, बिच्छू, मच्छर आदि के चार इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण और नेत्र। मनुष्य, पशु, पक्षी तथा देव-नारक के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र तथा श्रोत्र।

प्रश्न—यह संख्या द्रव्येन्द्रिय की है या भावेन्द्रिय की अथवा उभयेन्द्रिय की ?

उत्तर—उक्त संख्या केवल द्रव्येन्द्रिय की है, कुछ जीवों में द्रव्येद्रियाँ कम होने पर भी पाँचों भावेन्द्रियाँ तो सभी जीवों के होती हैं।

प्रश्न—तो क्या कृमि आदि जीव भावेन्द्रिय के बल से देख या सुन लेते हैं ?

उत्तर—नहीं, केवल भावेन्द्रिय काम करने में समर्थ नहीं, उसे द्रव्येन्द्रिय का सहारा चाहिए। इसीलिए भावेन्द्रियों के होने पर भी कृमि या चींटी आदि नेत्र तथा कर्ण द्रव्येन्द्रिय न होने से देखने-सुनने में असमर्थ हैं। फिर भी वे जीव अपनी-अपनी द्रव्येन्द्रिय की पटुता के कारण जीवन-यात्रा चला ही लेते हैं।

पृथिवीकाय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त आठ निकायों के तो मन होता ही नहीं, पञ्चेन्द्रियों में भी सबके मन नहीं होता। पञ्चेन्द्रिय जीवों के चार वर्ग हैं—देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च। पहले दो वर्गों में तो सभी के मन होता है और शेष दो वर्गों में से उन्हीं के होता है जो गर्भोत्पन्न हों। मनुष्य और तिर्यञ्च गर्भोत्पन्न तथा संमूर्छिम दो-दो प्रकार के होते हैं। संमूर्छिम मनुष्य और तिर्यञ्च के मन नहीं होता। सारांश, यह है कि पञ्चेन्द्रियों में सब देवों, सब नारकों, गर्भज-मनुष्यों तथा गर्भज-तिर्यञ्चों के ही मन होता है।

प्रश्न—इसकी क्या पहचान है कि किस के मन है और किस के नहीं है ?

उत्तर—इसकी पहचान संज्ञा का होना या न होना है।

प्रश्न—वृत्ति को संज्ञा कहते हैं। न्यूनाधिक रूप में किसी-न-किसी प्रकार की वृत्ति सभी में होती है, क्योंकि कृमि, चींटी आदि में भी आहार, भय आदि वृत्तियाँ हैं। फिर इन जीवों में मन क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर—यहाँ संज्ञा का अर्थ साधारण वृत्ति नहीं, विशिष्ट वृत्ति है।[1] वह

---

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए देखें—हिन्दी **चौथा कर्मग्रन्थ**, पृ० ३८ पर 'संज्ञा' शब्द का परिशिष्ट।

विशिष्ट वृत्ति गुण-दोष की विचारणा है, जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो सके। इस विशिष्ट वृत्ति को शास्त्र में सम्प्रधारण संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा मन का कार्य है जो देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च में ही स्पष्ट रूप से होती है। इसलिए वे ही मनवाले माने जाते हैं।

प्रश्न—क्या कृमि, चींटी आदि जीव अपने-अपने इष्ट को पाने तथा अनिष्ट को त्यागने का प्रयत्न नहीं करते ?

उत्तर--करते हैं।

प्रश्न--तब उनमें सम्प्रधारण संज्ञा और मन क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर--कृमि आदि में भी अत्यन्त सूक्ष्म मन[1] विद्यमान है, इसीलिए वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति करते हैं। पर उनका वह कार्य केवल देह-यात्रोपयोगी है, अधिक नहीं। यहाँ इतना पुष्ट मन विवक्षित है जिससे निमित्त मिलने पर देह-यात्रा के अतिरिक्त और भी अधिक विचार किया जा सके अर्थात् जिससे पूर्वजन्म का स्मरण तक हो सके—विचार की इतनी योग्यता ही संप्रधारण संज्ञा कहलाती है। इस संज्ञावाले देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही होते हैं। अतएव उन्हीं को समनस्क कहा गया है। २३-२५।

अन्तराल[2] गति सम्बन्धी योग आदि पाँच बातें

विग्रहगतौ कर्मयोगः। २६।

अनुश्रेणि गतिः। २७।

अविग्रहा जीवस्य। २८।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः। २९।

एकसमयोऽविग्रहः। ३०।

एकं द्वौ वाऽनाहारकः। ३१।

विग्रहगति में कर्मयोग (कार्मणयोग) ही होता है।
गति, श्रेणि (सरलरेखा) के अनुसार होती है।
जीव (मुच्यमान आत्मा) की गति विग्रहरहित ही होती है।
संसारी आत्मा की गति अविग्रह और सविग्रह होती है।

---

१. देखें—ज्ञानबिन्दुप्रकरण, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, पृ० १४४।

२. इसे विशेष स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ में, 'अनाहारक' शब्द का परिशिष्ट, पृ० १४३।

विग्रह चार से पहले अर्थात् तीन तक हो सकते हैं।

विग्रह का अभाव एक समय परिमित है अर्थात् विग्रहाभाववाली गति एक समय परिमाण है।

जीव एक या दो समय तक अनाहारक रहता है।

पुनर्जन्म माननेवाले प्रत्येक दर्शन के सामने अन्तराल गति सम्बन्धी पाँच प्रश्न उपस्थित होते हैं :

१. जब जीव जन्मान्तर के लिए या मोक्ष के लिए गति करता है तब अर्थात् अन्तराल गति के समय स्थूल शरीर न होने से जीव किस तरह प्रयत्न करता है ?

२. गतिशील पदार्थ किस नियम से गतिक्रिया करते हैं ?

३. गतिक्रिया के कितने प्रकार हैं और कौन-कौन जीव किस-किस गतिक्रिया के अधिकारी हैं ?

४. अन्तराल गति का जघन्य या उत्कृष्ट कालमान कितना है और यह कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

५. अन्तराल गति के समय जीव आहार करता है या नहीं ? अगर नहीं करता तो जघन्य या उत्कृष्ट कितने काल तक और अनाहारक स्थिति का कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

आत्मा को व्यापक माननेवाले दर्शनों को भी इन पाँच प्रश्नों पर विचार करना चाहिए, क्योंकि उन्हें भी पुनर्जन्म की उपपत्ति के लिए सूक्ष्म शरीर का गमन और अन्तराल गति माननी ही पड़ती है। किन्तु जैनदर्शन तो देहव्यापी आत्मवादी है, अतः उसे तो उक्त प्रश्नों पर विचार करना ही चाहिए। यहाँ क्रमशः यही विचार किया जा रहा है।

योग—अन्तराल गति दो प्रकार की है—ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर जाते हुए जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व-शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व-शरीरजन्य वेग मिलता है। इस तरह वह दूसरे प्रयत्न के बिना ही धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे नये स्थान को पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र (घुमावदार) होती है, इसलिए जाते समय जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है, क्योंकि पूर्व-शरीरजन्य प्रयत्न वहीं तक काम करता है जहाँ से जीव को घूमना पड़ता है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देहजनित प्रयत्न मन्द पड़ जाता है, अतः वहाँ से सूक्ष्म-शरीर से प्रयत्न होता है जो जीव के साथ उस समय भी रहता है। वही सूक्ष्म-शरीरजन्य प्रयत्न कार्मण-

योग कहलाता है । इसी आशय से सूत्र में विग्रहगति में कार्मणयोग होने की बात कही गई है । सारांश, यह है कि वक्रगति से जानेवाला जीव केवल पूर्व-शरीरजन्य प्रयत्न से नये स्थान को नहीं पहुँच सकता, इसके लिए नया प्रयत्न कार्मण (सूक्ष्म) शरीर से ही साध्य है, क्योंकि उस समय दूसरा कोई स्थूल शरीर नहीं होता है । स्थूल शरीर न होने से मनोयोग और वचनयोग भी नहीं होते । २६ ।

गति का नियम—गतिशील पदार्थ दो ही हैं—जीव और पुद्गल । इन दोनों में गतिक्रिया की शक्ति है, इसलिए वे निमित्तवश गतिक्रिया में परिणत होकर गति करने लगते हैं । बाह्य उपाधि से भले ही वे वक्रगति करें, पर उनकी स्वाभाविक गति तो सीधी ही होती है । सीधी गति का आशय यह है कि पहले जिस आकाश-क्षेत्र में जीव या परमाणु स्थित हों, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश-क्षेत्र की सरल रेखा में ऊँचे, नीचे या तिरछे चाहे जहाँ चले जाते हैं । इसी स्वाभाविक गति को लेकर सूत्र में कहा गया है कि गति अनुश्रेणि होती है । श्रेणि अर्थात् पूर्वस्थान-प्रमाण आकाश की अन्यूनाधिक सरल रेखा । इस स्वाभाविक गति के वर्णन से सूचित होता है कि जब कोई प्रतिघातक कारण हो तब जीव या पुद्गल श्रेणि (सरल रेखा) को छोड़कर वक्र-रेखा से भी गमन करते हैं । सारांश, यह है कि गतिशील पदार्थों की गतिक्रिया प्रतिघातक निमित्त के अभाव में पूर्वस्थान-प्रमाण सरल रेखा से ही होती है और प्रतिघातक निमित्त होने पर वक्ररेखा से भी होती है । २७ ।

गति का प्रकार—पहले कहा गया है कि गति ऋजु और वक्र दो प्रकार की है । ऋजुगति वह है जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा का भंग न हो अर्थात् एक भी घुमाव न हो । वक्रगति वह है जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा का भंग हो अर्थात् कम-से-कम एक घुमाव अवश्य हो । यह भी कहा गया है कि जीव और पुद्गल दोनों इन दोनों गतियों के अधिकारी हैं । यहाँ मुख्य प्रश्न जीव का है । पूर्व-शरीर छोड़कर स्थानान्तर जानेवाले जीव दो प्रकार के हैं । एक तो वे जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को सदा के लिए छोड़कर जाते हैं, ये जीव मुच्यमान (मोक्ष जानेवाले) कहलाते हैं । दूसरे वे जो पूर्व-स्थूलशरीर को छोड़कर नये स्थूलशरीर को प्राप्त करते हैं । वे अन्तराल गति के समय सूक्ष्मशरीर से अवश्य वेष्टित होते हैं । ये जीव संसारी कहलाते हैं । मुच्यमान जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजुगति से ही जाते हैं, वक्रगति से नहीं; क्योंकि वे पूर्वस्थान की सरल रेखावाले मोक्षस्थान में ही प्रतिष्ठित होते हैं, किंचित् भी इधर-उधर नहीं । परन्तु संसारी जीव के उत्पत्तिस्थान का कोई नियम नहीं है । कभी तो उनको जहाँ उत्पन्न होना हो वह नया स्थान पूर्वस्थान

की बिलकुल सरल रेखा में होता है और कभी वक्र रेखा में, क्योंकि पुनर्जन्म के नवीन स्थान का आधार पूर्वकृत कर्म है और कर्म विविध प्रकार का होता है। इसलिए संसारी जीव ऋजु और वक्र दोनों गतियों के अधिकारी हैं। सारांश यह है कि मुक्तिस्थान को जानेवाली आत्मा की एकमात्र सरलगति होती है और पुनर्जन्म के लिए स्थानान्तर को जानेवाले जीवों की सरल तथा वक्र दोनों गतियाँ होती हैं। ऋजुगति का दूसरा नाम इषुगति भी है, क्योंकि वह धनुष के वेग से प्रेरित बाण की गति की तरह पूर्व-शरीरजनित वेग के कारण सीधी होती है। वक्रगति के पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका ये तीन नाम हैं।[1] जिसमें एक बार सरल रेखा का भङ्ग हो वह पाणिमुक्ता, जिसमें दो बार हो वह लाङ्गलिका और जिसमें तीन बार हो वह गोमूत्रिका। जीव की कोई भी ऐसी वक्रगति नहीं होती जिसमें तीन से अधिक घुमाव करने पड़ें, क्योंकि जीव का नया उत्पत्ति-स्थान कितना ही विश्रेणिपतित (वक्र रेखा स्थित) क्यों न हो, वह तीन घुमाव में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। पुद्गल की वक्रगति में घुमाव की संख्या का कोई नियम नहीं है, उसका आधार प्रेरक निमित्त है। २८-२९।

गति का कालमान—अन्तराल गति का कालमान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय है। जब ऋजुगति हो तब एक ही समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय समझना चाहिए। समय की संख्या की वृद्धि घुमाव की संख्या की वृद्धि पर आधृत है। जिस वक्रगति में एक घुमाव हो उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हों उसका कालमान तीन समय का और जिसमें तीन घुमाव हों उसका कालमान चार समय का है। संक्षेप में, जब एक विग्रह की गति से उत्पत्तिस्थान में जाना हो तब पूर्वस्थान से घुमाव के स्थान तक पहुँचने में एक समय और घुमाव के स्थान से उत्पत्तिस्थान तक पहुँचने में दूसरा समय लग जाता है। इसी नियम के अनुसार दो विग्रह की गति में तीन समय और तीन विग्रह की गति में चार समय लग जाते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ऋजुगति से जन्मान्तर करनेवाले जीव के पूर्वशरीर त्यागते समय ही नये आयु और गति कर्म का उदय हो जाता है और वक्रगतिवाले जीव के प्रथम वक्र स्थान से नवीन आयु, गति और आनुपूर्वी नामकर्म का यथासम्भव उदय हो जाता है, क्योंकि प्रथम वक्रस्थान तक ही पूर्वभवीय आयु आदि का उदय रहता है। ३०।

अनाहार का कालमान—मुच्यमान जीव के लिए तो अन्तराल गति में आहार का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि वह सूक्ष्म व स्थूल सब शरीरों से मुक्त है। पर

१. ये पाणिमुक्ता आदि संज्ञाएँ दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

संसारी जीव के लिए आहार का प्रश्न है, क्योंकि उसके अन्तराल गति में भी सूक्ष्मशरीर होता ही है। आहार का अर्थ है स्थूलशरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना। ऐसा आहार संसारी जीवों में अन्तराल गति के समय में पाया भी जाता है और नहीं भी पाया जाता। ऋजुगति से या दो समय की एक विग्रह-वाली गति से जानेवाले अनाहारक नहीं होते, क्योंकि ऋजुगतिवाले जिस समय में पूर्वशरीर छोड़ते हैं उसी समय में नया स्थान प्राप्त करते हैं, समयान्तर नहीं होता। इसलिए उनकी ऋजुगति का समय त्यागे हुए पूर्वभवीय शरीर के द्वारा ग्रहण किये गए आहार का या नवीन जन्मस्थान में ग्रहण किये गए आहार का समय है। यही स्थिति एक विग्रहवाली गति की है, क्योंकि इसके दो समयों में से पहला समय पूर्वशरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है और दूसरा समय नये उत्पत्तिस्थान में पहुँचने का है, जिसमें नवीन शरीर धारण करने के लिए आहार किया जाता है। परन्तु तीन समय की दो विग्रहवाली और चार समय की तीन विग्रहवाली गति में अनाहारक स्थिति होती है, क्योंकि इन दोनों गतियों के क्रमशः तीन और चार समयों में से पहला समय त्यक्त शरीर के द्वारा लिये हुए आहार का और अन्तिम समय उत्पत्तिस्थान में लिये हुए आहार का है। पर प्रथम तथा अन्तिम इन दो समयों को छोड़कर बीच का काल आहारशून्य होता है। अतएव द्विविग्रह गति में एक समय और त्रिविग्रह गति में दो समय तक जीव अनाहारक माने गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में यही भाव प्रकट किया गया है। सारांश यह है कि ऋजुगति और एकविग्रह गति में आहारक दशा ही रहती है और द्विविग्रह तथा त्रिविग्रह गति में प्रथम और चरम इन दो समयों को छोड़कर अनुक्रम से मध्यवर्ती एक तथा दो समय पर्यन्त अनाहारक दशा रहती है। कहीं-कहीं तीन समय भी अनाहारक दशा के पाँच समय की चार विग्रहवाली गति की सम्भावना की अपेक्षा से माने गए हैं।

प्रश्न—अन्तराल गति में शरीर-पोषक आहाररूप से स्थूल पुद्गलों के ग्रहण का अभाव तो ज्ञात हुआ, पर प्रश्न यह है कि उस समय कर्मपुद्गल ग्रहण किये जाते हैं या नहीं ?

उत्तर—किये जाते हैं।

प्रश्न—किस प्रकार किये जाते हैं ?

उत्तर—अन्तराल गति में भी संसारी जीवों के कार्मणशरीर अवश्य होता है। अतएव यह शरीरजन्य आत्मप्रदेश-कम्पन, जिसको कार्मण-योग कहते हैं, अवश्य होता है। जब योग है तब कर्मपुद्गल का ग्रहण भी अनिवार्य है, क्योंकि योग ही कर्मवर्गणा के आकर्षण का कारण है। जैसे जल की वृष्टि के समय फेंका

गया संतप्त बाण जलकणों को ग्रहण करता हुआ तथा उन्हें सोखता हुआ चला जाता है, वैसे ही अन्तराल गति के समय कार्मणयोग से चञ्चल जीव भी कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है और उन्हें अपने साथ मिलाता हुआ स्थानान्तर की ओर गतिमान होता है। ३१।

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी

सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म। ३२।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः। ३३।

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः। ३४।

नारकदेवानामुपपातः। ३५।

शेषाणां सम्मूर्छनम्। ३६।

सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात ये जन्म के तीन प्रकार हैं।

सचित्त, शीत और संवृत ये तीन तथा इन तीनों से विपरीत अचित्त, उष्ण और विवृत एवं मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत—जन्म की कुल नौ योनियाँ हैं।

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ-जन्म होता है।

नारक और देवों का उपपात-जन्म होता है।

शेष सब प्राणियों का सम्मूर्छन-जन्म होता है।

जन्म-भेद—पूर्वभव समाप्त होने पर संसारी जीव नया भव धारण करते हैं। इसके लिए उन्हें जन्म लेना पड़ता है पर जन्म सबका एक-सा नहीं होता, यही बात यहाँ बतलाई गई है। पूर्वभव का स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अन्तराल गति से केवल कार्मणशरीर के साथ आकर नवीन भव के योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले पहल योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना जन्म है। जन्म के तीन प्रकार हैं—सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात। माता-पिता के सम्बन्ध के बिना ही उत्पत्तिस्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले पहल शरीररूप में परिणत करना सम्मूर्छन-जन्म है। उत्पत्तिस्थान में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ-जन्म है। उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीररूप में परिणत करना उपपात-जन्म है। ३२।

योनि-भेद—जन्म के लिए स्थान आवश्यक है। जिस स्थान में पहले पहल स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किये गए पुद्गल कार्मणशरीर के साथ गरम लोहे में

पानी की तरह मिल जाते हैं, उसी को योनि कहते हैं। योनि नौ प्रकार की है—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत। १. सचित्त—जो जीव-प्रदेशों से अधिष्ठित हो, २. अचित्त—जो अधिष्ठित न हो, ३. मिश्र—जो कुछ भाग में अधिष्ठित हो, कुछ भाग में न हो, ४. शीत—जिस उत्पत्तिस्थान में शीत स्पर्श हो, ५. उष्ण—जिसमें उष्ण स्पर्श हो, ६. मिश्र—जिसके कुछ भाग में शीत तथा कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो, ७. संवृत—जो उत्पत्तिस्थान ढका या दबा हो, ८. विवृत—जो ढका न हो, खुला हो, ९. मिश्र—जो कुछ ढका तथा कुछ खुला हो।

किस-किस योनि में कौन-कौन-से जीव उत्पन्न होते हैं, इसका विवरण इस प्रकार है :

जीव	योनि
नारक और देव	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच	मिश्र (सचित्ताचित्त)
शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य	त्रिविध—सचित्त, अचित्त तथा मिश्र (सचित्ताचित्त)
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव[1]	मिश्र (शीतोष्ण)
तेजःकायिक (अग्निकायिक)	उष्ण
शेष सब अर्थात् चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तथा नारक	त्रिविध—शीत, उष्ण और मिश्र (शीतोष्ण)
नारक, देव और एकेन्द्रिय	संवृत
गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य	मिश्र (संवृतविवृत)
शेष सब अर्थात् तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय मनुष्य व तिर्यंच	विवृत

प्रश्न—योनि और जन्म में क्या अन्तर है ?

---

१. दिगम्बर टीका-ग्रन्थों में शीत और उष्ण योनियों के स्वामी देव और नारक माने गए हैं। तदनुसार यहाँ शीत, उष्ण आदि त्रिविध योनियों के स्वामियों में नारक जीवों को न गिनकर गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों को गिनना चाहिए।

उत्तर—योनि आधार है और जन्म आधेय, अर्थात् स्थूल शरीर के लिए योग्य पुद्गलों का प्राथमिक ग्रहण जन्म है और वह ग्रहण जिस जगह हो वह योनि है।

प्रश्न—योनियाँ तो चौरासी लाख मानी जाती हैं, फिर यहाँ नौ ही क्यों कही गईं?

उत्तर—चौरासी लाख योनियों का कथन विस्तार की अपेक्षा से किया गया है। पृथिवीकाय आदि जिस-जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तरतमभाववाले जितने-जितने उत्पत्तिस्थान हैं उस-उस निकाय की उतनी ही योनियाँ चौरासी लाख में गिनी गई हैं। यहाँ उन्हीं चौरासी लाख योनियों के सचित्त आदि रूप से संक्षेप में नौ विभाग कहे गए हैं। ३३।

जन्म के स्वामी—ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जन्म में से कौन-कौन-सा जन्म किन-किन जीवों का होता है, इसका विभाग नीचे लिखे अनुसार है:

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भजन्म होता है। देव और नारक का उपपातजन्म होता है। शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य का सम्मूर्छन जन्म होता है। जरायुज वे हैं जो जरायु से पैदा हों, जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी आदि जाति के जीव। जरायु एक प्रकार का जाल (झिल्ली) जैसा आवरण है जो रक्त और मांस से भरा होता है और जिसमें गर्भस्थ शिशु लिपटा रहता है। अण्डे से पैदा होनेवाले अण्डज हैं, जैसे साँप, मोर, चिड़िया, कबूतर आदि जाति के जीव। जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित नहीं होते वे पोतज हैं, जैसे हाथी, शशक, नेवला, चूहा आदि जाति के जीव। ये न तो जरायु से ही लिपटे हुए पैदा होते हैं और न अण्डे से, अपितु खुले शरीर पैदा होते हैं। देवों और नारकों के जन्म के लिए विशेष नियत स्थान होता है, जिसे उपपात कहते हैं। देवशय्या के ऊपर का दिव्यवस्त्र से आच्छन्न भाग देवों का उपपात क्षेत्र है और वज्रमय भीत का गवाक्ष (कुम्भी) नारकों का उपपात क्षेत्र है, क्योंकि इस उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रियपुद्गलों को वे शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। ३४-३६।

शरीरों के विषय

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। ३७।

परं परं सूक्ष्मम्। ३८।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं[1] प्राक् तैजसात्। ३९।

---

१. भाष्य की वृत्ति में प्रदेश शब्द का अर्थ 'अनन्ताणुक स्कन्ध' किया गया है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि में 'परमाणु' अर्थ किया गया है।

अनन्तगुणे परे । ४० ।
अप्रतिघाते । ४१ ।
अनादिसम्बन्धे च । ४२ ।
सर्वस्य । ४३ ।
तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः । ४४ ।
निरुपभोगमन्त्यम् । ४५ ।
गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् । ४६ ।
वैक्रियमौपपातिकम् । ४७ ।
लब्धिप्रत्ययं च[1] । ४८ ।
शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव । ४९ ।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं।

इन पाँच प्रकारों में पर पर अर्थात् आगे-आगे का शरीर पूर्व-पूर्व से सूक्ष्म है।

तैजस के पूर्ववर्ती तीन शरीरों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर प्रदेशों (स्कन्धों) से असंख्यातगुण होता है।

परवर्ती दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर प्रदेशों से अनन्त-गुण होते हैं।

तैजस और कार्मण दोनों शरीर प्रतिघात-रहित हैं।

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं।

सब संसारी जीवों के होते हैं।

एक साथ एक जीव के तैजस और कार्मण से लेकर चार तक शरीर विकल्प से होते हैं।

अन्तिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग (सुख दुःखादि के अनुभव) से रहित है।

१. इस सूत्र के बाद 'तैजसमपि' सूत्र दिगम्बर परम्परा में है, श्वेताम्बर परम्परा में नहीं है। सर्वार्थसिद्धि आदि मेंउसका अर्थ इस प्रकार है—'तैजस शरीर भी लब्धिजन्य है अर्थात् जैसे वैक्रिय शरीर लब्धि से उत्पन्न किया जा सकता है वैसे ही लब्धि से तैजस शरीर भी बनाया जा सकता है। इस अर्थ से यह फलित नहीं होता कि तैजस शरीर लब्धिजन्य ही है।

पहला अर्थात् औदारिक शरीर सम्मूर्छनजन्म और गर्भजन्म से ही होता है।

वैक्रिय शरीर उपपातजन्म से होता है।

वह लब्धि से भी होता है।

आहारक शरीर शुभ (प्रशस्त पुद्गल द्रव्यजन्य), विशुद्ध (निष्पाप कार्यकारी) और व्याघात (बाधा) रहित होता है तथा वह चौदह पूर्व-धारी मुनि के ही होता है।

जन्म ही शरीर का आरम्भ है, इसलिए जन्म के बाद शरीर का वर्णन किया गया है। शरीर से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर आगे क्रमशः विचार किया जा रहा है।

शरीर के प्रकार तथा व्याख्या—देहधारी जीव अनन्त हैं, उनके शरीर भी अलग-अलग हैं। अतः वे व्यक्तिशः अनन्त हैं। पर कार्य-कारण आदि के सादृश्य की दृष्टि से संक्षेप में उनके पाँच प्रकार बतलाये गए हैं; जैसे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

शरीर जीव का क्रिया करने का साधन है। १. जो शरीर जलाया जा सके व जिसका छेदन-भेदन हो सके वह औदारिक है। २. जो शरीर कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि रूपों को धारण कर सके वह वैक्रिय है। ३. जो शरीर मात्र चतुर्दशपूर्वी मुनि के द्वारा ही निर्मित किया जा सके वह आहारक है। ४. जो शरीर तेजोमय होने से खाये हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो वह तैजस है। ५. कर्मसमूह ही कार्मण शरीर है। ३७।

स्थूल-सूक्ष्म भाव—उक्त पाँचों शरीरों में औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है, वैक्रिय उससे सूक्ष्म है, आहारक वैक्रिय से भी सूक्ष्म है। इसी तरह आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण सूक्ष्म व सूक्ष्मतर है।

प्रश्न—यहाँ स्थूल और सूक्ष्म से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—स्थूल और सूक्ष्म का अर्थ है रचना की शिथिलता और सघनता, परिमाण नहीं। औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, पर आहारक से स्थूल है। इसी प्रकार आहारक आदि शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा स्थूल हैं; अर्थात् यह स्थूल-सूक्ष्म भाव अपेक्षाकृत है। तात्पर्य यह है कि जिस शरीर की रचना जिस दूसरे शरीर की रचना से शिथिल हो वह उससे स्थूल है और दूसरा उससे सूक्ष्म है। रचना की शिथिलता और सघनता पौद्गलिक परिणति

पर निर्भर है। पुद्गलों में अनेक प्रकार के परिणमन की शक्ति होती है, अतः परिमाण में अल्प होने पर भी जब वे शिथिल रूप में परिणत होते हैं तब स्थूल कहलाते हैं और परिमाण में बहुत होने पर भी जैसे-जैसे सघन होते जाते हैं वैसे-वैसे वे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, भिंडी की फली और हाथी के दाँत को लें। दोनों समान आकार के होने पर भी भिंडी की रचना शिथिल होगी और दाँत की रचना ठोस। इस प्रकार परिमाण (आकार) तुल्य होने पर भी स्पष्ट है कि भिंडी की अपेक्षा दाँत का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है। ३८।

आरम्भक या उपादान द्रव्य का परिमाण—स्थूल-सूक्ष्म भाव की उक्त व्याख्या के अनुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण में अधिक होता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है; पर वह परिमाण जितना-जितना पाया जाता है उसी को यहाँ दो सूत्रों में बतलाया गया है।

परमाणुओं से बने जिन स्कन्धों से शरीर निर्मित होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य हैं। जब तक परमाणु अलग-अलग हों तब तक उनसे शरीर नहीं बनता। परमाणुपुञ्ज, जो कि स्कन्ध कहलाते हैं, से ही शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के बने हुए होने चाहिए। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धों से वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध असंख्यात-गुण होते हैं, अर्थात् औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के होते हैं और वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के; पर वैक्रिय शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या औदारिक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से असंख्यात-गुण अधिक होती है। यही अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या में होती है।

आहारक स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या अनन्तगुण होती है। इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य अधिक-अधिक होता है। फिर भी परिणमन की विचित्रता के कारण ही उत्तर-उत्तर शरीर निबिड़, निबिड़तर, निबिड़तम बनता जाता है और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम कहलाता है।

प्रश्न—जब औदारिक के स्कन्ध भी अनन्त परमाणुवाले और वैक्रिय आदि के स्कन्ध भी अनन्त परमाणुवाले हैं, तो फिर उन स्कन्धों में न्यूनाधिकता कैसे समझी जाय ?

उत्तर—अनन्त संख्या अनन्त प्रकार की है। इसलिए अनन्त रूप में समानता

होने पर भी औदारिक आदि के स्कन्ध से वैक्रिय आदि के स्कन्ध का असंख्यात-गुण अधिक होना असम्भव नहीं है। ३९-४०।

अन्तिम दो शरीरों का स्वभाव, कालमर्यादा और स्वामी—उक्त पाँचों शरीरों में से पहले तीन की अपेक्षा अन्तिम दो शरीरों में कुछ विशेषता है, जो क्रमशः तीन सूत्रों में तीन बातों के द्वारा बतलाई गई है।

स्वभाव—तैजस और कार्मण इन दो शरीरों का सारे लोक में कहीं भी प्रतिघात नहीं होता अर्थात् वज्र जैसी कठिन वस्तु भी उन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं। यद्यपि एक मूर्त वस्तु का दूसरी मूर्त वस्तु से प्रतिघात होता है, तथापि यह प्रतिघात का नियम स्थूल वस्तुओं पर लागू होता है, सूक्ष्म पर नहीं। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर जाती है, जैसे लोहपिण्ड में अग्नि।

प्रश्न—तब तो सूक्ष्म होने से वैक्रिय और आहारक को भी अप्रतिघाती ही कहना चाहिए ?

उत्तर—अवश्य, वे भी बिना प्रतिघात के प्रवेश करते हैं। पर यहाँ अप्रति-घात का अर्थ लोकान्त पर्यन्त अव्याहतगति है। वैक्रिय और आहारक अव्याहत-गतिवाले हैं, पर तैजस व कार्मण की भाँति सम्पूर्ण लोक में नहीं, किन्तु लोक के विशिष्ट भाग अर्थात् त्रसनाड़ी में ही।

कालमर्यादा—तैजस और कार्मण का सम्बन्ध आत्मा के साथ प्रवाहरूप से जैसा अनादि है वैसा पहले तीन शरीरों का नहीं है; क्योंकि वे तीनों शरीर अमुक काल के बाद कायम नहीं रहते। इसलिए औदारिक आदि तीनों शरीर कदाचित् (अस्थायी) सम्बन्धवाले कहे जाते हैं और तैजस व कार्मण अनादि सम्बन्धवाले।

प्रश्न—जब कि वे जीव के साथ अनादि सम्बद्ध हैं, तब तो उनका अभाव कभी न होना चाहिए, क्योंकि अनादिभाव[1] का नाश नहीं होता ?

उत्तर—उक्त दोनों शरीर व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं। अतएव उनका भी अपचय-उपचय होता है। जो भावात्मक पदार्थ व्यक्तिरूप से अनादि होता है वही नष्ट नहीं होता, जैसे परमाणु।

स्वामी—तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीव धारण करते हैं, पर औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर नहीं। अत. तैजस व कार्मण के स्वामी सभी संसारी जीव हैं, जब कि औदारिक आदि के स्वामी कुछ ही जीव होते हैं।

प्रश्न—तैजस और कार्मण में कुछ अन्तर तो होगा ही ?

---

१. तुलना करें—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।—गीता, २.१६।

उत्तर—कार्मण शरीर समस्त शरीरों की जड़ है, क्योंकि वह कर्मस्वरूप है और कर्म ही सब कार्यों का निमित्त कारण है। तैजस शरीर सबका कारण नहीं। वह सबके साथ अनादिसम्बद्ध रहकर भुक्त-आहार के पाचन आदि में सहायक होता है। ४१-४३।

एक साथ लभ्य शरीरों की संख्या—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवों के संसारकाल पर्यन्त अवश्य होते हैं, पर औदारिक आदि बदलते रहते हैं, इस प्रकार वे कभी होते हैं और कभी नहीं। अतएव यह प्रश्न उठता है कि प्रत्येक जीव के कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने शरीर हो सकते हैं? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। एक साथ एक संसारी जीव के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं, पाँच कभी नहीं होते। जब दो होते हैं तब तैजस और कार्मण, क्योंकि ये दोनों यावत् संसार-भावी हैं। ऐसी स्थिति अन्तराल गति में ही पाई जाती है, क्योंकि उस समय अन्य कोई शरीर नहीं होता। जब तीन होते हैं तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य व तिर्यञ्च में और दूसरा प्रकार देव व नारक में जन्मकाल से मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। पहला विकल्प वैक्रिय-लब्धि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्यों तथा तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक-लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनि में ही होता है। पाँच शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते, क्योंकि वैक्रिय-लब्धि और आहारक-लब्धि का प्रयोग एक साथ सम्भव नहीं है।

प्रश्न—उक्त रीति से जब दो, तीन या चार शरीर हों तब उनके साथ एक ही समय में एक जीव का सम्बन्ध कैसे घटित होगा?

उत्तर—जैसे एक ही प्रदीप का प्रकाश एक साथ अनेक वस्तुओं पर पड़ सकता है, वैसे ही एक जीव के प्रदेश अनेक शरीरों के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हो सकते हैं।

प्रश्न—क्या किसी के कोई एक ही शरीर नहीं होता?

उत्तर—नहीं। सामान्य सिद्धान्त यह है कि तैजस और कार्मण ये दो शरीर कभी अलग नहीं होते। अतएव कोई एक शरीर कभी सम्भव नहीं, पर किसी[1] आचार्य का मत है कि तैजस शरीर कार्मण की तरह यावत्-संसार-भावी नहीं है,

१. यह मत भाष्य में निर्दिष्ट है।

वह आहारक की तरह लब्धिजन्य ही है। इस मत के अनुसार अन्तराल गति में केवल कार्मण शरीर होता है। अतएव उस समय एक शरीर का होना सम्भव है।

प्रश्न—जो यह कहा गया कि वैक्रिय और आहारक इन दो लब्धियों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रयोग नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय और उस लब्धि से शरीर बना लेने पर नियम[1] से प्रमत्तदशा होती है। परन्तु आहारक के विषय में ऐसा नहीं है, क्योंकि आहारकलब्धि का प्रयोग तो प्रमत्तदशा में होता है, पर उससे शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय सम्भव होने के कारण अप्रमत्तभाव पाया जाता है। अतः उक्त दो लब्धियों का प्रयोग एक साथ असिद्ध है। सारांश यह है कि आविर्भाव की अपेक्षा से युगपत् पाँच शरीरों का न होना कहा गया है। शक्तिरूप से तो पाँचों शरीर भी हो सकते हैं, क्योंकि आहारकलब्धिवाले मुनि के वैक्रियलब्धि भी सम्भव है। ४४।

प्रयोजन—प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। इसलिए शरीर भी सप्रयोजन होने चाहिए, पर प्रश्न यह है कि उनका मुख्य प्रयोजन क्या है और वह सब शरीरों के लिए समान है या कुछ विशेषता भी है ? शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है जो पहले चार शरीरों से सिद्ध होता है। केवल अन्तिम कार्मण शरीर से सिद्ध नहीं होता, इसीलिए उसको निरुपभोग कहा गया है।

प्रश्न—उपभोग का क्या अर्थ है ?

उत्तर—कर्ण आदि इन्द्रियों से शुभ-अशुभ शब्द आदि विषय ग्रहण करके सुख-दुःख का अनुभव करना; हाथ, पाँव आदि अवयवों से दान, हिंसा आदि शुभ-अशुभ कर्म का बंध करना; बद्धकर्म के शुभ-अशुभ विपाक का अनुभव करना; पवित्र अनुष्ठान द्वारा कर्म की निर्जरा (क्षय) करना—यह सब उपभोग कहलाता है।

प्रश्न—औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर सेन्द्रिय तथा सावयव हैं, इसलिए उक्त प्रकार का उपभोग उनसे साध्य हो सकता है। पर तैजस शरीर न तो सेन्द्रिय है और न सावयव, अतः उससे उक्त उपभोग कैसे सम्भव है ?

उत्तर—यद्यपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव (हस्तपादादियुक्त) नहीं है तथापि उसका उपभोग पाचन आदि ऐसे कार्य में हो सकता है जिससे सुख दुःख का अनुभव आदि उक्त उपभोग सिद्ध हो। उसका अन्य कार्य शाप और अनुग्रह भी है। अर्थात् अन्न-पाचन आदि कार्य में तैजस शरीर का उपभोग तो सभी करते हैं, पर जो विशिष्ट तपस्वी तपस्याजन्य विशिष्ट लब्धि प्राप्त कर

१. यह विचार अ० २, सू० ४४ की भाष्यवृत्ति में है।

लेते हैं वे कुपित होकर उस शरीर के द्वारा अपने कोपभाजन को जला भी सकते हैं और प्रसन्न होकर उस शरीर से अनुग्रह-पात्र को शान्ति भी पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार तैजस शरीर का उपभोग शाप, अनुग्रह आदि में हो सकता है, अतः सुख-दुःख का अनुभव, शुभाशुभ कर्म का बन्ध आदि उसका उपभोग माना गया है।

प्रश्न—यों सूक्ष्मतापूर्वक देखा जाय तो कार्मण शरीर का भी, जो कि तैजस के समान ही सेन्द्रिय और सावयव नहीं है, उपभोग हो सकेगा, क्योंकि वही अन्य सब शरीरों की जड़ है। इसलिए अन्य शरीरों का उपभोग वास्तव में कार्मण का ही उपभोग मानना चाहिए, फिर उसे निरुपभोग क्यों कहा गया है?

उत्तर—ठीक है, उक्त रीति से कार्मण भी सोपभोग अवश्य है। यहाँ उसे निरुपभोग कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जब तक अन्य शरीर सहायक न हों तब तक मात्र कार्मणशरीर से उक्त प्रकार का उपभोग साध्य नहीं हो सकता; अर्थात् उक्त विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने में औदारिक आदि चार शरीर साक्षात् साधन हैं। इसीलिए वे सोपभोग कहे गए हैं और परम्परया साधन होने से कार्मण को निरुपभोग कहा गया है। ४१।

जन्मसिद्धता और कृत्रिमता—एक प्रश्न यह भी उठता है कि कितने शरीर जन्मसिद्ध हैं और कितने कृत्रिम हैं तथा जन्मसिद्ध में कौन-सा शरीर किस जन्म से पैदा होता है और कृत्रिम होने का कारण क्या है? इसी प्रश्न का उत्तर यहाँ चार सूत्रों में दिया गया है।

तैजस और कार्मण ये दो शरीर न तो जन्मसिद्ध हैं और न कृत्रिम अर्थात् वे जन्म के बाद भी होते हैं, फिर भी अनादिसम्बद्ध हैं। औदारिक जन्मसिद्ध ही है जो गर्भ तथा सम्मूर्छन इन दो जन्मों से पैदा होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यञ्च हैं। वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार का है। जो जन्मसिद्ध है वह उपपातजन्म के द्वारा पैदा होता है और देवों तथा नारकों के ही होता है। कृत्रिम वैक्रिय शरीर का कारण लब्धि है। लब्धि एक प्रकार की तपोजन्य शक्ति है, जो कुछ ही गर्भज मनुष्यों और तिर्यञ्चों में सम्भव है। इसलिए वैसी लब्धि से होनेवाले वैक्रिय शरीर के अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च ही हैं। कृत्रिम वैक्रिय शरीर की कारणभूत एक अन्य प्रकार की भी लब्धि है, जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि कुछ बादर वायुकायिक जीवों में ही मानी गई है। इसलिए वे भी लब्धिजन्य (कृत्रिम) वैक्रिय शरीर के अधिकारी हैं। आहारक शरीर कृत्रिम ही है। इसका कारण विशिष्ट लब्धि ही है, जो मनुष्य के सिवाय अन्य जातियों में नहीं होती और मनुष्य में भी विशिष्ट मुनि के ही होती है।

प्रश्न—कौन-से विशिष्ट मुनि के होती है?

उत्तर—चतुर्दश पूर्वधारी मुनि के होती है।

प्रश्न—वे उस लब्धि का प्रयोग कब और किसलिए करते हैं ?

उत्तर—किसी सूक्ष्म विषय में सन्देह होने पर उसके निवारण के लिए अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दश पूर्वधारी मुनि को गहन विषय में सन्देह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान न हो तब वे औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव देखकर अपनी विशिष्ट लब्धि का प्रयोग करते हैं और हस्तप्रमाण छोटा-सा शरीर बनाते हैं, जो शुभ पुद्गल-जन्य होने से सुन्दर होता है, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण निरवद्य होता है और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याघाती अर्थात् किसी को रोकनेवाला या किसी से रुकनेवाला नहीं होता। ऐसे शरीर से वे क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञ के निकट पहुँचकर अपने सन्देह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर लौट आते हैं। यह कार्य केवल अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

प्रश्न—अन्य कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—शाप और अनुग्रह के द्वारा तैजस का जो उपभोग बतलाया गया, उससे तो वह लब्धिजन्य स्पष्ट मालूम होता है, फिर अन्य कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है, ऐसा क्यों ?

उत्तर—यहाँ लब्धिजन्य का अर्थ उत्पत्ति है, प्रयोग नहीं। तैजस की उत्पत्ति लब्धि से नहीं होती, जैसे वैक्रिय और आहारक की होती है, पर उसका प्रयोग कभी-कभी लब्धि से किया जाता है। इसी आशय से तैजस शरीर को यहाँ लब्धिजन्य (कृत्रिम) नहीं कहा गया। ४६–४९।

वेद (लिंग) के प्रकार

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि। ५०।

न देवाः। ५१।

नारक और संमूर्छिम नपुंसक ही होते हैं।

देव नपुंसक नहीं होते।

शरीरों के वर्णन के बाद वेद या लिंग का प्रश्न उठता है। इसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है। चिह्न को लिंग कहते हैं। वह तीन प्रकार का है। यह बात पहले औदयिक भावों की संख्या बतलाते समय कही जा चुकी है।[1]

---

१. देखें—अ० २, सू० ६।

लिंग तीन हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। लिंग का दूसरा नाम वेद भी है। ये तीनों वेद द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के हैं।[1] द्रव्यवेद अर्थात् ऊपर का चिह्न और भाववेद अर्थात् अभिलाषा-विशेष। १. जिस चिह्न से पुरुष की पहचान होती है वह द्रव्य-पुरुषवेद है और स्त्री के संसर्ग-सुख की अभिलाषा भाव-पुरुषवेद है। २. स्त्री की पहचान का साधन द्रव्य-स्त्रीवेद और पुरुष के संसर्ग-सुख की अभिलाषा भाव-स्त्रीवेद है। ३. जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हों वह द्रव्य-नपुंसकवेद और स्त्री-पुरुष दोनों के संसर्ग-सुख की अभिलाषा भाव-नपुंसकवेद है। द्रव्यवेद पौद्गलिक आकृतिरूप है जो नाम-कर्म के उदय का फल है। भाववेद एक मनोविकार है जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है। द्रव्यवेद और भाववेद में साध्य-साधन या पोष्य-पोषक का सम्बन्ध है।

विभाग—नारक और सम्मूर्छिम जीवों के नपुंसकवेद होता है। देवों के नपुंसकवेद नहीं होता, शेष दो होते हैं। शेष सब अर्थात् गर्भज मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों के तीनों वेद होते हैं।

विकार की तरतमता—पुरुष-वेद का विकार सबसे कम स्थायी होता है। स्त्री-वेद का विकार उससे अधिक स्थायी और नपुंसक-वेद का विकार स्त्रीवेद के विकार से भी अधिक स्थायी होता है। यह बात उपमान से इस तरह समझी जा सकती है :

पुरुषवेद का विकार घास की अग्नि के समान है जो शीघ्र शान्त हो जाता है और प्रकट भी शीघ्र होता है। स्त्रीवेद का विकार अंगारे के समान है जो जल्दी शान्त नहीं होता और प्रकट भी जल्दी नहीं होता। नपुंसकवेद का विकार सन्तप्त ईंट के समान है जो बहुत देर में शान्त होता है तथा प्रकट भी बहुत देर में होता है।

स्त्री में कोमल भाव मुख्य है जिसे कठोर तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पुरुष में कठोर भाव मुख्य है जिसे कोमल तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पर नपुंसक में दोनों भावों का मिश्रण होने से उसे दोनों तत्त्वों की अपेक्षा रहती है। ५०-५१।

आयुष के प्रकार और उनके स्वामी

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। ५२।

औपपातिक (नारक और देव), चरमशरीरी, उत्तमपुरुष और असंख्यातवर्षजीवी—ये अनपवर्तनीय आयुवाले ही होते हैं।

---

१. द्रव्य और भाव वेद का पारस्परिक सम्बन्ध तथा तत्सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातें जानने के लिए देखें—हिन्दी **चौथा कर्मग्रन्थ**, पृ० ५३ की टिप्पणी।

युद्ध आदि विप्लव में हजारों नौजवानों को एक साथ मरते देखकर और बूढ़े तथा जर्जर देहवालों को भी भयानक विपदाओं से बचते देखकर यह सन्देह होता है कि क्या अकालमृत्यु भी है, जिससे अनेक लोग एक साथ मर जाते हैं और कोई नहीं भी मरता ? इसका उत्तर हाँ और ना में यहाँ दिया गया है।

आयु के दो प्रकार हैं--अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके वह अपवर्तनीय है और जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय है, अर्थात् जिस आयु का भोगकाल बन्धकालीन स्थितिमर्यादा से कम हो वह अपवर्तनीय और जिसका भोगकाल उक्त मर्यादा के समान ही हो वह अनपवर्तनीय है।

अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नहीं है किन्तु परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में निर्माण की जाती है। उस समय यदि परिणाम मन्द हों तो आयु का बन्ध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन कालमर्यादा नहीं घटती और न आयु एक साथ भोगी जा सकती है। जैसे अत्यन्त दृढ़ होकर खड़े पुरुषों की पंक्ति अभेद्य और शिथिल रूप में खड़े पुरुषों की पंक्ति भेद्य होती है, अथवा जैसे सघन बोये हुए बीजों के पौधे पशुओं के लिए दुष्प्रवेश्य और दूर-दूर बोये हुए बीजों के पौधे सुप्रवेश्य होते हैं, वैसे ही तीव्र परिणाम से गाढ़ रूप में बद्ध आयु शस्त्र-विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मन्द परिणाम से शिथिल रूप में बद्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही अन्तर्मुहूर्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को ही अपवर्तना या अकालमृत्यु कहते हैं और नियत स्थिति के भोग को अनपवर्तना या कालमृत्यु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम—उपक्रम सहित ही होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकालमृत्यु होती है उनका प्राप्त होना उपक्रम है। यह अपवर्तनीय आयु के अवश्य होता है, क्योंकि वह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की होती है अर्थात् उस आयु को अकालमृत्यु लानेवाले उक्त निमित्तों का सन्निधान होता भी है और नहीं भी होता। उक्त निमित्तों का सन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत कालमर्यादा के पहले पूर्ण नहीं

होती। सारांश यह है कि अपवर्तनीय आयुवाले प्राणियों को शस्त्र आदि कोई-न-कोई निमित्त मिल ही जाता है जिससे वे अकाल में ही मर जाते हैं और अनपवर्तनीय आयुवालों को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले, वे अकाल में नहीं मरते।

अधिकारी—उपपात जन्मवाले नारक और देव ही होते हैं। मनुष्य ही चरमदेह तथा उत्तमपुरुष होते हैं। विना जन्मान्तर के उसी शरीर से मोक्ष पानेवाले चरमदेह कहलाते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तमपुरुष कहलाते हैं। असंख्यातवर्षजीवी कुछ मनुष्य और कुछ तिर्यंच ही होते हैं।[1] इनमें से औपपातिक और असंख्यातवर्षजीवी निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुवाले ही होते हैं। चरमदेह और उत्तमपुरुष सोपक्रम अनपवर्तनीय तथा निरुपक्रम अनपवर्तनीय दोनों आयुवाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी मनुष्य व तिर्यंच अपवर्तनीय आयुवाले होते हैं।

प्रश्न—नियत कालमर्यादा के पहले आयु का भोग हो जाने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता ये दोष लगेंगे, जो शास्त्र में इष्ट नहीं हैं; इनका निवारण कैसे होगा ?

उत्तर—शीघ्र भोग होने में उक्त दोष नहीं हैं, क्योंकि जो कर्म चिरकाल तक भोगा जा सकता है वह एक साथ भोग लिया जाता है। उसका कोई भी भाग विना विपाकानुभव के नहीं छूटता। इसलिए न तो कृतकर्म का नाश है और न बद्धकर्म की निष्फलता ही है। इसी प्रकार मृत्यु कर्मानुसार ही आती है, अतएव अकृतकर्म का आगम भी नहीं है। जैसे घास की सघनराशि में एक ओर से छोटा अग्निकण छोड़ दिया जाय तो वह अग्निकण एक-एक तिनके को क्रमशः जलाते हुए उस सारी राशि को कुछ देर में भस्म कर सकता है। वे ही अग्निकण घास की शिथिल राशि में चारों ओर से छोड़ दिये जायें तो एक साथ उसे जला डालते हैं।

इस बात के विशेष स्पष्टीकरण के लिए शास्त्र में और भी दो दृष्टान्त दिये गए हैं : पहला गणितक्रिया का और दूसरा वस्त्र सुखाने का। जैसे किसी विशिष्ट संख्या का लघुतम छेद निकालना हो तो गणितप्रक्रिया में इसके लिए अनेक उपाय हैं। निपुण गणितज्ञ ऐसी रीति का उपयोग करता है कि बहुत शीघ्र अभीष्ट

१. असंख्यातवर्षजीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अन्तर्द्वीपों और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगलिक ही हैं। परन्तु असंख्यातवर्षजीवी तिर्यंच तो उक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त ढाई द्वीप के बाहर के द्वीप-समुद्रों में भी होते हैं।

परिणाम निकल आता है और दूसरा साधारण जानकार मनुष्य भागाकार आदि विलम्ब-साध्य क्रिया द्वारा देरी से अभीष्ट परिणाम निकाल पाता है। परिणाम तुल्य होने पर भी दक्ष गणितज्ञ उसे शीघ्र निकाल लेता है और साधारण गणितज्ञ देरी से निकालता है। इसी तरह समान रूप में भीगे हुए दो कपड़ों में से एक को समेटकर और दूसरे को फैलाकर सुखाने पर पहला देरी से सूखता है और दूसरा जल्दी। पानी का परिमाण और शोषणक्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और विस्तार के कारण सूखने में देरी और जल्दी का अन्तर पड़ता है। समान परिमाणयुक्त अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु के भोगने में भी केवल देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है। इसलिए कृत का नाश आदि उक्त दोष नहीं आते। ५२।

●

: ३ :

अधोलोक-मध्यलोक

द्वितीय अध्याय में गति की अपेक्षा से संसारी जीवों के नारक, मनुष्य, तिर्यंच और देव ऐसे चार प्रकार कहे गए हैं। स्थान, आयु, अवगाहना आदि के वर्णन द्वारा उनका विशेष स्वरूप तीसरे और चौथे अध्याय में निरूपित है। प्रस्तुत तृतीय अध्याय में नारक, तिर्यंच और मनुष्य का वर्णन है।

नारकों का वर्णन

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः। १।

तासु नरकाः। २।

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। ३।

परस्परोदीरितदुःखाः। ४।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः। ५।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः। ६।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक-दूसरे के नीचे हैं और नीचे को ओर अधिक-अधिक विस्तीर्ण हैं।

उन भूमियों में नरक हैं।

वे नरक नित्य (निरन्तर) अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं।

परस्पर उत्पन्न किये गए दुःखवाले हैं।

चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गए दुःखवाले भी हैं।

उन नरकों में स्थित प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सतरह, बाईस और तेंतीस सागरोपम है।

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व तीन भाग हैं। अधोभाग मेरुपर्वत के समतल के नीचे नौ सौ योजन की गहराई के बाद गिना जाता है, जो आकाश में औंधे किये हुए सकोरे के समान है अर्थात् नीचे-नीचे विस्तीर्ण है। समतल के नीचे तथा ऊपर के नौ सौ + नौ सौ योजन अर्थात् कुल अठारह सौ योजन का मध्यलोक है, जो आकार में झालर के समान बराबर आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) वाला है। मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है जो आकार में पखावज (मृदङ्गविशेष) के समान है।

नारकों के निवासस्थान अधोलोक में हैं जहाँ की भूमियाँ 'नरकभूमि' कहलाती हैं। ये भूमियाँ सात हैं जो समश्रेणि में न होकर एक-दूसरी के नीचे हैं। उनका आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौड़ाई) समान नहीं है, किन्तु नीचे-नीचे की भूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक-अधिक है; अर्थात् पहली भूमि से दूसरी की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, दूसरी से तीसरी की। इसी प्रकार छठी से सातवीं तक की लम्बाई-चौड़ाई अधिक-अधिक होती गई है।

ये सातों भूमियाँ एक-दूसरी के नीचे हैं, किन्तु बिलकुल सटी हुई नहीं हैं, एक-दूसरी के बीच बहुत अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे-नीचे हैं अर्थात् पहली नरकभूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरकभूमि है। दूसरी भूमि और तीसरी भूमि के बीच भी क्रमशः घनोदधि आदि हैं। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि हैं।[1] ऊपर की अपेक्षा नीचे का पृथ्वीपिंड—भूमि

१. भगवतीसूत्र में लोक-स्थिति का स्वरूप-वर्णन बहुत स्पष्ट रूप में इस प्रकार है—

"त्रस-स्थावरादि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है : कोई पुरुष चमड़े की मशक को हवा भरकर फुला दे। फिर उसके मुँह को चमड़े के फीते से मजबूत गाँठ देकर बाँध दे। इस मशक के बीच के भाग को भी बाँध दे। ऐसा करने से मशक में भरे हुए पवन के दो भाग हो जाएँगे, जिससे मशक डुगडुगी जैसी लगेगी। तब मशक का मुँह खोलकर ऊपर के भाग में से हवा निकाल दे और उसकी जगह पानी भर कर फिर मशक का मुँह बन्द कर दे और बीच का बन्धन खोल दे। फिर ऐसा लगेगा कि जो पानी मशक के ऊपर के भाग में भरा गया है वह ऊपर के भाग में ही रहेगा अर्थात् वायु के ऊपर के भाग में ही रहेगा, वायु के ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता, क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार मशक के नीचे के भाग की वायु है। जैसे मशक में हवा के आधार पर पानी ऊपर रहता है वैसे ही पृथ्वी आदि भी हवा के आधार पर प्रतिष्ठित हैं।" देखें—**भगवतीसूत्र**, शतक १, उद्देशक ६।

की मोटाई अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे के तल तक का भाग क्रम-क्रम है। प्रथम भूमि की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरी की एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठाईस हजार, चौथी की एक लाख बीस हजार, पाँचवीं की एक लाख अठारह हजार, छठी की एक लाख सोलह हजार तथा सातवीं की एक लाख आठ हजार योजन है। सातों भूमियों के नीचे जो सात घनोदधि-वलय हैं उन सबकी मोटाई समान अर्थात् बीस-बीस हजार योजन है और जो सात घनवात तथा सात तनुवात-वलय हैं उनकी मोटाई सामान्य रूप से असंख्यात योजन की होने पर भी तुल्य नहीं है, अर्थात् प्रथम भूमि के नीचे के घनवात-वलय तथा तनुवात-वलय की असंख्यात योजन की मोटाई से दूसरी भूमि के नीचे के घनवात-वलय तथा तनुवात-वलय की असंख्यात योजन की मोटाई विशेष है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर छठी भूमि के घनवात-तनुवातवलय से सातवीं भूमि के घनवात-तनुवातवलय की मोटाई विशेष-विशेष है। यही बात आकाश के विषय में भी है।

पहली भूमि रत्नप्रधान होने से रत्नप्रभा कहलाती है। इसी तरह दूसरी शर्करा (कंकड़) के सदृश होने से शर्कराप्रभा है। तीसरी वालुका (रेती) की मुख्यता होने से वालुकाप्रभा है। चौथी पङ्क (कीचड़) की अधिकता होने से पङ्कप्रभा है। पांचवीं धूम (धूएँ) की अधिकता होने से धूमप्रभा है। छठी तमः (अंधकार) की विशेषता से तमःप्रभा और सातवीं महातमः (घन-अन्धकार) की प्रचुरता से महातमःप्रभा है। इन सातों के नाम क्रमशः घर्मा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, माघव्या और माघवी हैं।

रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड (हिस्से) हैं। सबसे ऊपर का प्रथम खर-काण्ड रत्नप्रचुर है, जो मोटाई में १६ हजार योजन है। उसके नीचे का दूसरा काण्ड पङ्कबहुल है, जिसकी मोटाई ८४ हजार योजन है। उसके नीचे का तीसरा काण्ड जलबहुल है, जिसकी मोटाई ८० हजार योजन है। तीनों काण्डों की मोटाई कुल मिलाकर १ लाख ८० हजार योजन होती है। दूसरी से लेकर सातवीं भूमि तक ऐसे काण्ड नहीं हैं, क्योंकि उनमें शर्करा, वालुका आदि पदार्थ सर्वत्र एक-से हैं। रत्नप्रभा का प्रथम काण्ड दूसरे पर और दूसरा तीसरे पर स्थित है। तीसरा काण्ड घनोदधिवलय पर, घनोदधि घनवातवलय पर, घनवात तनुवातवलय पर और तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है। परन्तु आकाश किसी पर स्थित न होकर आत्म-प्रतिष्ठित है, क्योंकि आकाश को स्वभावतः दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं होती। दूसरी भूमि का आधार उसका घनोदधिवलय है, वह अपने नीचे के घनवातवलय पर आश्रित है, घनवात अपने नीचे के तनुवात पर आश्रित है,

तनुवात नीचे के आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश स्वाश्रित है। यही क्रम सातवीं भूमि तक प्रत्येक भूमि और उसके घनोदधिवलय की स्थिति का है।

ऊपर-ऊपर की भूमि से नीचे-नीचे की भूमि का बाहुल्य कम होने पर भी उसका आयाम-निष्कम्भ बढ़ता जाता है, इसलिए उनका संस्थान छत्रातिछत्रवत् अर्थात् उत्तरोत्तर पृथु-पृथुतर (विस्तीर्ण-विस्तीर्णतर) कहा गया है। १।

सातों भूमियों की जितनी-जितनी मोटाई ऊपर कही गई है, उसके ऊपर तथा नीचे के एक-एक हजार योजन को छोड़कर शेष मध्यभाग में नरकावास हैं, जैसे रत्नप्रभा की १ लाख ८० हजार योजन मोटाई में से ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर बीच के १ लाख ७८ हजार योजन के हिस्से में नरक हैं। यही क्रम सातवीं भूमि तक है। नरकों के रौरव, रौद्र, घातन, शोचन आदि अशुभ नाम हैं, जिनको सुनने मात्र से भय होता है। रत्नप्रभा के सीमान्तक नामक नरकावास से लेकर महातमःप्रभा के अप्रतिष्ठान नामक नरकावास तक के सभी नरकावास वज्र के छुरे के सदृश तलवाले हैं। संस्थान (आकार) सबका समान नहीं है—कुछ गोल हैं, कुछ त्रिकोण हैं, कुछ चतुष्कोण हैं, कुछ हांडी जैसे हैं और कुछ लोहे के घड़े जैसे हैं। प्रस्तर (प्रतर) जो कि मंजिलवाले घर के तले के समान हैं, उनकी संख्या इस प्रकार है—रत्नप्रभा में तेरह और शर्कराप्रभा में ग्यारह प्रस्तर हैं। इस प्रकार नीचे की प्रत्येक भूमि में दो-दो घटते हुए सातवीं महातमःप्रभा भूमि में एक ही प्रस्तर है। इन्हीं प्रस्तरों में नरक हैं।

नरकावासों की संख्या – प्रथम भूमि में तीस लाख, दूसरी में पचीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में केवल पांच नरकावास हैं।

प्रश्न—प्रस्तरों में नरक कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—एक प्रस्तर और दूसरे प्रस्तर के बीच जो अवकाश (अन्तर) है उसमें नरक नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक प्रस्तर की तीन-तीन हजार योजन की मोटाई में ये विविध संस्थानवाले नरक हैं।

प्रश्न—नरक और नारक में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—नारक जीव हैं और नरक उनके स्थान हैं। नरक नामक स्थान के सम्बन्ध से ही वे जीव नारक कहलाते हैं। २।

पहली भूमि से दूसरी और दूसरी से तीसरी इसी प्रकार सातवीं भूमि तक के नरक अशुभ, अशुभतर, अशुभतम रचनावाले हैं। इसी प्रकार उन नरकों में स्थित नारकों की लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ हैं।

लेश्या—रत्नप्रभा में कापोत लेश्या है। शर्कराप्रभा में भी कापोत है, पर रत्नप्रभा से अधिक तीव्रसंक्लेशकारी है। वालुकाप्रभा में कापोत-नील लेश्या है। पङ्कप्रभा में नील लेश्या है। धूमप्रभा में नील-कृष्ण लेश्या है, तमःप्रभा में कृष्ण लेश्या है और महातमःप्रभा में भी कृष्ण लेश्या है, पर तमःप्रभा से तीव्रतम है।

परिणाम—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातों भूमियों में उत्तरोत्तर अशुभ हैं।

शरीर—सातों भूमियों के नारकों के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से उत्तरोत्तर अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थानवाले तथा अशुचिपूर्ण और बीभत्स हैं।

वेदना—सातों भूमियों के नारकों की वेदना उत्तरोत्तर तीव्र है। पहली तीन भूमियों में उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण-शीत, पांचवीं में शीतोष्ण, छठी में शीत और सातवीं में शीततर वेदना है। यह उष्ण और शीत वेदना इतनी तीव्र है कि नारक जीव यदि मर्त्यलोक की भयंकर गरमी या ठण्ड में आ जायें तो उन्हें बड़े सुख की नींद आ सकती है।

विक्रिया—उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ होती है। वे दुःख से घबरा कर छुटकारे के लिए प्रयत्न करते हैं, पर होता है उलटा। सुख के साधन जुटाने में उनको दुःख के साधन ही प्राप्त होते हैं। वे वैक्रियलब्धि से बनाने लगते हैं कुछ शुभ, किन्तु बन जाता है अशुभ ही।

प्रश्न—लेश्या आदि अशुभतर भावों को नित्य कहने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर—नित्य अर्थात् निरन्तर। गति, जाति, शरीर और अङ्गोपाङ्ग नाम-कर्म के उदय से नरकगति में लेश्या आदि भाव जीवन-पर्यन्त अशुभ ही बने रहते हैं, बीच में एक पल का भी अन्तर नहीं पड़ता और न कभी वे शुभ ही होते हैं। ३।

एक तो नरक में क्षेत्र-स्वभाव से सरदी-गरमी का भयंकर दुःख है ही, भूख-प्यास का दुःख तो और भी भयंकर है। भूख इतनी सताती है कि अग्नि की भाँति सर्व-भक्षण से भी शान्त नहीं होती, अपितु और भी बढ़ती जाती है। प्यास इतनी लगती है कि चाहे जितना जल पिया जाय तो भी तृप्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त बड़ा भारी दुःख तो आपसी वैर और मारपीट का है। जैसे कौआ और उल्लू तथा साँप और नेवला जन्मजात शत्रु हैं, वैसे ही नारक जीव जन्मजात शत्रु होते हैं। इसलिए वे एक-दूसरे को देखकर कुत्तों की तरह आपस में लड़ते हैं, काटते हैं और गुस्से से जलते हैं; इसीलिए वे परस्परजनित दुःखवाले कहे गए हैं। ४।

नारकों में तीन प्रकार की वेदना मानी गई है, जिनमें क्षेत्रस्वभावजन्य और

परस्परजन्य वेदनाओं का वर्णन ऊपर आ गया है। तीसरी वेदना उत्कट अधर्म-जन्य है। प्रथम दो वेदनाएँ सातों भूमियों में साधारण हैं। तीसरी वेदना केवल पहली तीन भूमियों में होती है, क्योंकि उन्हीं भूमियों में परमाधार्मिक असुर हैं। ये बहुत क्रूर स्वभाववाले और पापरत होते हैं। इनकी अम्ब, अम्बरीष आदि पन्द्रह जातियाँ हैं। ये स्वभावतः इतने निर्दय और कुतूहली होते हैं कि इन्हें दूसरों को सताने में ही आनन्द आता है। इसलिए नारकों को ये अनेक प्रकार के प्रहारों से दुःखी करते रहते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की तरह लड़ाते हैं। नारकों को आपस में लड़ते, मार-पीट करते देखकर इन्हें बड़ा आनन्द आता है। यद्यपि ये परमाधार्मिक एक प्रकार के देव हैं, इन्हें और भी अनेक प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हैं, तथापि पूर्वजन्मकृत तीव्र दोष के कारण इन्हें दूसरों को सताने में ही प्रसन्नता होती है। नारक भी बेचारे कर्मवश असहाय होकर सम्पूर्ण जीवन तीव्र वेदनाओं के अनुभव में ही बिताते हैं। वेदना कितनी ही अधिक हो, पर नारकों के लिए न तो कोई शरण है और अनपवर्तनीय आयु के कारण जीवन भी जल्दी समाप्त नहीं होता। ५।

नारकों की स्थिति—प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति (आयुमर्यादा) जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार की है। जिससे कम न हो वह जघन्य और जिससे अधिक न हो वह उत्कृष्ट स्थिति है। यहाँ नारकों की उत्कृष्ट स्थिति का ही निर्देश है। जघन्य स्थिति का वर्णन आगे किया जायगा।[1] पहली भूमि में एक सागरोपम की, दूसरी में तीन, तीसरी में सात, चौथी में दस, पाँचवीं में सतरह, छठी में बाईस और सातवीं में तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु-स्थिति कही गई है।

यहाँ अधोलोक का सामान्य वर्णन पूरा होता है। इसमें दो बातें विशेष ज्ञातव्य हैं—गति-आगति और द्वीप-समुद्र आदि की सम्भावना।

गति—असंज्ञी प्राणी मरने पर पहली भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं। भुज-परिसर्प पहली दो भूमियों तक, पक्षी तीन भूमियों तक, सिंह चार भूमियों तक, उरग पाँच भूमियों तक, स्त्री छः भूमियों तक और मत्स्य व मनुष्य सातवीं भूमि तक जा सकते हैं। सारांश यह है कि तिर्यंच और मनुष्य ही नरक-भूमि में पैदा हो सकते हैं, देव और नारक नहीं। कारण यह है कि उनमें वैसे अध्यवसाय का अभाव होता है। नारक मरकर पुनः तत्काल न तो नरक गति में ही पैदा होते हैं और न देव गति में। वे तिर्यंच एवं मनुष्य गति में ही पैदा हो सकते हैं।

आगति—पहली तीन भूमियों के नारक जीव मनुष्य गति में आकर तीर्थङ्कर पद तक प्राप्त कर सकते हैं। चार भूमियों के नारक जीव मनुष्य गति में आकर

१. देखें—अ० ४, सू० ४३-४४।

निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं। पाँच भूमियों के नारक मनुष्य गति में संयम धारण कर सकते हैं। छः भूमियों से निकले हुए नारक जीव देशविरति और सात भूमियों से निकले हुए सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं।

द्वीप-समुद्र आदि की अवस्थिति—रत्नप्रभा भूमि को छोड़ शेष छः भूमियों में न तो द्वीप, समुद्र, पर्वत और सरोवर ही हैं; न गाँव, शहर आदि हैं; न वृक्ष, लता आदि बादर वनस्पतिकाय हैं; न द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक तिर्यंच हैं; न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही हैं। रत्नप्रभा का कुछ भाग मध्यलोक में सम्मिलित है, अतः उसमें द्वीप, समुद्र, ग्राम, नगर, वनस्पति, तिर्यंच, मनुष्य, देव होते हैं। रत्नप्रभा के अतिरिक्त शेष छः भूमियों में केवल नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव ही हैं। इस सामान्य नियम का भी अपवाद है, क्योंकि उन भूमियों में कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों का होना भी सम्भव है। मनुष्य तो इस अपेक्षा से सम्भव है कि केवली समुद्घात करनेवाला मनुष्य सर्वलोकव्यापी होने से उन भूमियों में भी आत्मप्रदेश फैलाता है। वैक्रियलब्धि-वाले मनुष्य की भी उन भूमियों तक पहुँच है। तिर्यंचों की पहुँच भी उन भूमियों तक है, परन्तु यह केवल वैक्रियलब्धि की अपेक्षा से ही मान्य है। कुछ देव कभी-कभी अपने पूर्वजन्म के मित्रों को दुःखमुक्त करने के उद्देश्य से नरकों में पहुँच जाते हैं। किन्तु देव भी केवल तीन भूमियों तक ही जा पाते हैं। नरकपाल कहे जानेवाले परमाधार्मिक देव जन्म से ही पहली तीन भूमियों में रहते हैं, अन्य देव जन्म से केवल पहली भूमि में पाये जाते हैं। ६।

मध्यलोक

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः। ७।
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः। ८।
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः। ९।
तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि। १०।
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः। ११।
द्विर्धातकीखण्डे। १२।
पुष्करार्धे च। १३।
प्राङ्मानुषोत्तरान् मनुष्याः। १४।
आर्या म्लेच्छाश्च। १५।
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः। १६।

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । १७ ।

तिर्यग्योनीनां च । १८ ।

जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप तथा लवण आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं ।

वे सभी द्वीप और समुद्र वलय (चूड़ी) की आकृतिवाले, पूर्व-पूर्व को वेष्टित करनेवाले और दुगुने-दुगुने विष्कम्भ (व्यास या विस्तार) वाले हैं ।

उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है जो गोल है, एक लाख योजन विष्कम्भवाला है और जिसके मध्य में मेरुपर्वत है ।

जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष नामक सात क्षेत्र हैं ।

उन क्षेत्रों को पृथक् करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी—ये छः वर्षधर पर्वत हैं ।

धातकीखण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्वीप से दुगुने हैं ।

पुष्करार्धद्वीप में भी उतने (धातकीखण्ड जितने) ही हैं ।

मानुषोत्तर नामक पर्वत के पहले तक (इस ओर) ही मनुष्य हैं ।

वे आर्य और म्लेच्छ हैं ।

देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़ भरत, ऐरावत तथा विदेह—ये सभी कर्मभूमियाँ है ।

मनुष्यों की स्थिति (आयु) उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है ।

तिर्यंचों की स्थिति (आयु) भी उतनी ही है ।

द्वीप और समुद्र—मध्यलोक की आकृति झालर के समान है । यह बात द्वीप-समुद्रों के वर्णन से स्पष्ट है ।

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, जो द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस क्रम से अवस्थित हैं । उन सबके नाम शुभ ही हैं । यहाँ द्वीप-समुद्रों के व्यास, उनकी रचना और आकृति सम्बन्धी तीन बातें वर्णित हैं, जिनसे मध्यलोक का आकार ज्ञात होता है ।

व्यास—जम्बूद्वीप का पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण विस्तार एक-एक लाख योजन है, लवणसमुद्र का उससे दुगुना है । इसी प्रकार धातकीखण्ड का लवणसमुद्र से, कालोदधि का धातकीखण्ड से, पुष्करवरद्वीप का कालोदधि से, पुष्करोदधि का पुष्करवरद्वीप से दुगुना-दुगुना विष्कम्भ है । विष्कम्भ का यही क्रम

अन्त तक चलता है। अन्तिम द्वीप स्वयम्भूरमण है, जिससे अंतिम समुद्र स्वयम्भूरमण का विष्कम्भ दुगुना है।

रचना—द्वीप-समुद्रों की रचना चक्की के पाट और उसके थाल के समान है। जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है। इसी प्रकार लवणसमुद्र धातकीखण्ड से, धातकीखण्ड कालोदधि से, कालोदधि पुष्करवरद्वीप से और पुष्करवरद्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यंत है।

आकृति—जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है और अन्य सब द्वीप-समुद्रों की आकृति वलय (चूड़ी) के समान है। ७-८।

जम्बूद्वीप के क्षेत्र और प्रधान पर्वत—जम्बूद्वीप सबसे प्रथम और सब द्वीप-समुद्रों के मध्य में है अर्थात् उसके द्वारा कोई द्वीप या समुद्र वेष्टित नहीं है। जम्बूद्वीप का विष्कम्भ एक लाख योजन है। वह कुम्हार के चाक की भाँति गोल है, लवणादि की तरह वलयाकृति नहीं। उसके बीच में मेरुपर्वत है। संक्षेप में मेरु का वर्णन इस प्रकार है :

मेरु की ऊँचाई एक लाख योजन है, जिसमें एक हजार योजन का भाग भूमि के अन्दर अर्थात् अदृश्य है। निन्यानबे हजार योजन का भाग भूमि के ऊपर है। जमीन के अन्दरवाले भाग की लम्बाई-चौड़ाई सब जगह दस हजार योजन है। बाहरी भाग के ऊपर का अंश, जहाँ से चूलिका निकलती है, एक-एक हजार योजन लम्बा-चौड़ा है। मेरु के तीन काण्ड हैं। वह तीनों लोकों में अवगाहित होकर स्थित है और चार वनों से घिरा है। प्रथम काण्ड एक हजार योजन का है जो जमीन में है। दूसरा तिरसठ हजार योजन का और तीसरा छत्तीस हजार योजन का है। पहले काण्ड में शुद्ध पृथिवी तथा कंकड़ आदि की, दूसरे में चाँदी, स्फटिक आदि की और तीसरे में स्वर्ण की प्रचुरता है। क्रमशः चार वनों के नाम भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक हैं। एक लाख योजन की ऊँचाई के बाद सबसे ऊपर एक चूलिका (चोटी) है, जो चालीस योजन ऊँची है। वह मूल में बारह योजन, बीच में आठ योजन और ऊपर चार योजन लम्बी-चौड़ी है।

जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र हैं जो वंश, वर्ष या वास्य कहलाते हैं। इनमें पहला भरत दक्षिण की ओर है। भरत के उत्तर में हैमवत, हैमवत के उत्तर में हरि, हरि के उत्तर में विदेह, विदेह के उत्तर में रम्यक, रम्यक के उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत के उत्तर में ऐरावतवर्ष है। व्यवहारसिद्ध दिशा के नियम[1] के अनुसार मेरुपर्वत सातों क्षेत्रों के उत्तरी भाग में अवस्थित है।

---

१. दिशा का नियम सूर्य के उदयास्त पर निर्भर है। सूर्योदय की ओर मुख करके खड़े होने पर बायीं ओर उत्तर दिशा में मेरु पड़ता है। भरतक्षेत्र में सूर्यास्त की दिशा ही

सातों क्षेत्रों को एक-दूसरे से अलग करनेवाले छः पर्वत हैं जो वर्षधर कहलाते हैं। ये सभी पूर्व-पश्चिम लम्बे हैं। भरत और हैमवत क्षेत्र के बीच हिमवान् पर्वत है। हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक महाहिमवान् है। हरिवर्ष और विदेह का विभाजक निषधपर्वत है। विदेह और रम्यकवर्ष का विभाजक नीलपर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत का विभाजक रुक्मीपर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत का विभाजक शिखरीपर्वत है।

ऊपर निर्दिष्ट सातों क्षेत्र थाली की आकृति के जम्बूद्वीप में पूर्वी छोर से पश्चिमी छोर तक विस्तृत लम्बे पट के रूप में एक के बाद एक अवस्थित हैं। विदेहक्षेत्र इन सबके मध्य में है, इसलिए मेरुपर्वत भी उस क्षेत्र के ठीक मध्य में अवस्थित है। विदेहक्षेत्र को रम्यकक्षेत्र से नीलपर्वत विभक्त करता है और हरिवर्षक्षेत्र को निषधपर्वत विभक्त करता है। विदेहक्षेत्र में मेरु और नीलपर्वत के बीच का अर्धचन्द्राकार भाग उत्तरकुरु है जिसकी पूर्व-पश्चिम सीमा वहाँ के दो पर्वतों से निश्चित होती है; तथा मेरु तथा निषधपर्वत के बीच का वैसा ही अर्धचन्द्राकार भाग देवकुरु है। देवकुरु और उत्तरकुरु ये दोनों क्षेत्र विदेह अर्थात् महाविदेह के ही भाग हैं; परन्तु उन क्षेत्रों में युगलियों की आबादी होने के कारण वे भिन्न रूप से पहचाने जाते हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु के भाग का क्षेत्र छोड़ने पर महाविदेह के अवशिष्ट पूर्व और पश्चिम भाग में सोलह-सोलह विभाग हैं। ये विभाग विजय कहलाते हैं। इस प्रकार सुमेरुपर्वत के पूर्व और पश्चिम दोनों ओर कुल मिलाकर ३२ विजय हैं।

जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की सीमा पर स्थित हिमवान्पर्वत के दोनों छोर पूर्व-पश्चिम लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। इसी प्रकार ऐरावतक्षेत्र की सीमा पर स्थित शिखरीपर्वत के दोनों छोर भी लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। प्रत्येक छोर दो भागों में विभाजित होने से कुल मिलाकर दोनों पर्वतों के आठ भाग लवणसमुद्र में आते हैं। दाढ़ों की आकृति के होने से उन्हें दाढ़ा कहा जाता है। प्रत्येक दाढ़ा पर मनुष्यों की आबादीवाले सात-सात क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र लवणसमुद्र में आने के कारण अंतर्द्वीप के रूप में प्रसिद्ध हैं, जिनकी संख्या छप्पन है। उनमें भी युगलिया मनुष्य रहते हैं। ९-११।

धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप—जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड में मेरु, वर्ष और वर्षधर की संख्या दुगुनी है, अर्थात् वहाँ दो मेरु, चौदह वर्ष और बारह

ऐरावतक्षेत्र में सूर्योदय की दिशा है। इसलिए वहाँ भी सूर्योदय की ओर मुख करने से मेरुपर्वत उत्तर दिशा में ही पड़ता है। इसी प्रकार दूसरे क्षेत्रों में भी मेरु उत्तर में ही पड़ता है।

वर्षधर हैं, परन्तु सबके नाम जम्बूद्वीपवर्ती मेरु, वर्षधर और वर्ष के समान ही हैं। वलयाकृति धातकीखण्ड के पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दो भाग हैं। यह विभाग दो पर्वतों से होता है, जो दक्षिणोत्तर विस्तृत हैं और इष्वाकार (बाण के समान सीधे) हैं। प्रत्येक विभाग में एक-एक मेरु, सात-सात वर्ष और छः-छः वर्षधर हैं। सारांश यह है कि नदी, क्षेत्र, पर्वत आदि जो कुछ जम्बूद्वीप में हैं वे सब धातकीखण्ड में दुगुने हैं। धातकीखण्ड को पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में विभक्त करनेवाले दक्षिणोत्तर विस्तृत और इष्वाकार दो पर्वत हैं तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में पूर्व-पश्चिम में फैले हुए छः-छः वर्षधर (पर्वत) हैं। ये सभी एक ओर से कालोदधि को और दूसरी ओर से लवणोदधि को स्पर्श करते हैं। पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में स्थित छः-छः वर्षधरों को पहिये की नाभि में लगे हुए आरों की उपमा दी जाय तो उन वर्षधरों से विभक्त होनेवाले भरत आदि सात क्षेत्रों को आरों के बीच के अन्तर की उपमा दी जा सकती है।

धातकीखण्ड में मेरु, वर्ष और वर्षधरों की जो संख्या है वही पुष्करार्ध द्वीप में भी है। वहाँ भी दो मेरु, चौदह वर्ष तथा बारह वर्षधर हैं जो इष्वाकार पर्वतों द्वारा विभक्त पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में अवस्थित हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में पाँच मेरु, तीस वर्षधर (पर्वत) और पैंतीस वर्ष (क्षेत्र) हैं। उक्त पैंतीस क्षेत्रों के पाँच महाविदेह क्षेत्रों में पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु और एक सौ साठ विजय हैं। अन्तर्द्वीप केवल लवणसमुद्र में ही हैं, अतः छप्पन ही हैं। पुष्करवरद्वीप में मानुषोत्तर नाम का एक पर्वत है, जो पुष्करवरद्वीप के ठीक मध्य में किले की तरह गोलाकार खड़ा है और मनुष्यलोक को घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करवर द्वीप ये ढाई तथा लवण, कालोदधि ये दो समुद्र—यही क्षेत्र 'मनुष्यलोक' कहलाता है। उक्त क्षेत्र का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर इसलिए पड़ा है कि इससे बाहर मनुष्य का जन्म-मरण नहीं होता। विद्यासम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य ही ढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं, किंतु उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर पर्वत के अंदर ही होता है। १२-१३।

मनुष्यजाति का क्षेत्र और प्रकार—मानुषोत्तर पर्वत के पहले जो ढाई द्वीप और दो समुद्र हैं उनमें मनुष्य की स्थिति है अवश्य, पर वह सार्वत्रिक नहीं। जन्म से तो मनुष्यजाति का स्थान मात्र ढाई द्वीप के अन्तर्गत पैंतीस क्षेत्रों और छप्पन अन्तर्द्वीपों में ही है परन्तु संहरण, विद्या या लब्धि के निमित्त से मनुष्य ढाई द्वीप तथा दो समुद्रों के किसी भी भाग में रह सकता है। इतना ही नहीं, मेरुपर्वत की चोटी पर भी वह उक्त निमित्त से रह सकता है। फिर भी यह

भारतीय है, यह हैमवतीय है इत्यादि व्यवहार क्षेत्र के सम्बन्ध से और यह जम्बूद्वीपीय है, यह धातकीखण्डीय है इत्यादि व्यवहार द्वीप के सम्बन्ध से होता है। १४।

मनुष्यजाति के मुख्यतः आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद हैं। निमित्तभेद की दृष्टि से छः प्रकार के आर्य हैं जैसे क्षेत्र, जाति, कुल,कर्म, शिल्प और भाषा। १. क्षेत्र-आर्य वे हैं, जो पन्द्रह कर्मभूमियों में और उनमें भी आर्यदेशों में उत्पन्न होते हैं।[1] २. जाति-आर्य वे हैं जो इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र आदि वंशों में उत्पन्न होते हैं। ३. कुल-आर्य वे हैं जो कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि के रूप में विशुद्ध कुल में उत्पन्न होते हैं। ४. कर्म-आर्य वे हैं जो यजन, याजन, पठन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य आदि द्वारा आजीविका चलाते हैं। ५. शिल्प-आर्य जुलाहा, नाई, कुम्हार आदि हैं जो अल्प आरम्भवाली और अनिन्द्य आजीविकावाले हैं। ६. भाषा आर्य वे हैं जो शिष्टपुरुषमान्य[2] भाषाओं में सुगम रीति से वचन आदि का व्यवहार करते हैं। इनसे विपरीत लक्षणोंवाले सभी मनुष्य म्लेच्छ[3] हैं, जैसे शक, यवन, कम्बोज, शबर, पुलिन्द आदि। छप्पन अन्तर्द्वीपों में रहनेवाले सभी मनुष्य तथा कर्मभूमियों में भी अनार्य देशोत्पन्न म्लेच्छ ही हैं। १५।

कर्मभूमियाँ—कर्मभूमि वही है जहाँ मोक्षमार्ग के ज्ञाता और उपदेष्टा तीर्थङ्कर उत्पन्न होते हैं। ढाई द्वीप में मनुष्य की उत्पत्ति के पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। उनमें ऐसी कर्मभूमियाँ पन्द्रह ही हैं और वे हैं पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह। इनके अतिरिक्त शेष बीस क्षेत्र तथा सब अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि (भोगभूमि) ही हैं। यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो क्षेत्र विदेह के अन्तर्गत ही हैं तथापि वे कर्मभूमियाँ नहीं हैं, क्योंकि उनमें युगलिक-धर्म होने से चारित्र धारण करना सम्भव नहीं है, जैसे हैमवत आदि अकर्मभूमियों में। १६।

मनुष्य और तिर्यञ्चों की स्थिति—मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति (आयुमर्यादा)

---

१. प्रत्येक क्षेत्र में साढ़े पच्चीस आर्यदेश के हिसाब से पाँच भरत और पाँच ऐरावत में दो सौ पचपन आर्यदेश हैं और पाँच विदेह के एक सौ साठ चक्रवर्ती-विजय आर्यदेश हैं। इन्हीं में तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और धर्मप्रवर्तन करते हैं। इनको छोड़कर पन्द्रह कर्मभूमियों का शेष क्षेत्र आर्यदेश नहीं माना जाता।

२. तीर्थंकर, गणधर आदि जो अतिशयसम्पन्न हैं वे शिष्ट हैं, उनकी भाषा संस्कृत व अर्धमागधी आदि होती है।

३. इस व्याख्या के अनुसार हैमवत आदि तीस भोगभूमियों (अकर्मभूमियों) के निवासी म्लेच्छ ही हैं।

तीन पल्योपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तिर्यञ्चों की स्थिति भी मनुष्य के बराबर उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

भव और कायभेद से स्थिति दो प्रकार की है। कोई भी जन्म पाकर उसमें जघन्य अथवा उत्कृष्ट जितने काल तक जी सकता है वह भवस्थिति है और बीच में किसी दूसरी जाति में जन्म न ग्रहण करके किसी एक ही जाति में बार-बार उत्पन्न होना कायस्थिति है। ऊपर मनुष्यों और तिर्यञ्चों की जघन्य तथा उत्कृष्ट भवस्थिति का निर्देश किया गया है। मनुष्य हो या तिर्यञ्च, सबकी जघन्य कायस्थिति तो भवस्थिति की भाँति अन्तर्मुहूर्त ही है। मनुष्य की उत्कृष्ट काय-स्थिति सात अथवा आठ भवग्रहण की है, अर्थात् किसी भी मनुष्य को लगातार सात अथवा आठ जन्म तक रहने के बाद अवश्य मनुष्यजाति छोड़ देनी पड़ती है।

सब तिर्यञ्चों की कायस्थिति भवस्थिति की तरह समान नहीं है। अतः तिर्यञ्चों की दोनों स्थितियों का विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक है। पृथ्वीकाय की भवस्थिति बाईस हजार वर्ष, जलकाय की भवस्थिति सात हजार वर्ष, वायुकाय की भवस्थिति तीन हजार वर्ष और तेजःकाय की भवस्थिति तीन अहोरात्र है। इन चारों की कायस्थिति असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण है। वनस्पतिकाय की भवस्थिति दस हजार वर्ष और कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। द्वीन्द्रिय की भवस्थिति बारह वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनचास अहोरात्र और चतुरिन्द्रिय की छः मास है। इन तीनों की कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में गर्भज और संमूर्छिम की भवस्थिति भिन्न-भिन्न है। गर्भजों में जलचर, उरग और भुजग की भवस्थिति करोड़पूर्व, पक्षियों की भवस्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और चतुष्पद स्थलचर की भवस्थिति तीन पल्योपम है। संमूर्छिम जीवों में जलचर की भवस्थिति करोड़पूर्व, उरग की भव-स्थिति त्रेपन हजार वर्ष, भुजग की भवस्थिति बयालीस हजार वर्ष, पक्षियों की भवस्थिति बहत्तर हजार वर्ष और स्थलचरों की भवस्थिति चौरासी हजार वर्ष है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की कायस्थिति सात या आठ जन्मग्रहण और संमूर्छिम जीवों की कायस्थिति सात जन्मग्रहण प्रमाण है। १७-१८। ●

: ४ :

देवलोक

तृतीय अध्याय में मुख्यरूप से नारकों, मनुष्यों और तिर्यञ्चों की स्थिति, क्षेत्र आदि का वर्णन किया गया है। इस चतुर्थ अध्याय में देवों के निकायों, उनकी स्थिति, उनकी विशेषताओं आदि का वर्णन किया जा रहा है।

देवों के प्रकार

देवाश्चतुर्निकायाः । १ ।

देव चार निकायवाले हैं।

समूह विशेष या जाति को निकाय कहते है। देवों के चार निकाय या प्रकार हैं—१. भवनपति, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिष्क और ४. वैमानिक। १।

तृतीय निकाय की लेश्या

तृतीयः पीतलेश्यः[1] । २ ।

तीसरा निकाय पीतलेश्यावाला है।

उक्त चार निकायों में ज्योतिष्क तीसरे निकाय के देव हैं। उनमें केवल पीत (तेजः) लेश्या होती है। यहाँ लेश्या[2] का अर्थ द्रव्यलेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण है, अध्यवसाय-विशेष के रूप में भावलेश्या नहीं; क्योंकि छहों भावलेश्याएँ तो चारों निकायों के देवों में होती हैं। २।

१. दिगम्बर परम्परा में भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायों में कृष्ण से तेजः पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी गयी हैं, पर श्वेताम्बर परम्परा में भवनपति व व्यन्तर दो निकायों में ही उक्त चार लेश्याएँ मानी गयी हैं और ज्योतिष्क निकाय में केवल तेजोलेश्या। इसी मतभेद के कारण श्वेताम्बर परम्परा में यह दूसरा और आगे सातवाँ दोनों सूत्र भिन्न हैं। दिगम्बर परम्परा में इन दोनों सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः' प्रचलित है।

२. लेश्या के विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—हिन्दी **'चौथा कर्मग्रन्थ'** में 'लेश्या' शब्द-विषयक परिशिष्ट, पृ० ३३।

चार निकायों के भेद

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः । ३ ।

कल्पोपपन्न देवों तक चतुर्निकायिक देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं ।

भवनपतिनिकाय के दस, व्यन्तरनिकाय के आठ, ज्योतिष्कनिकाय के पाँच और वैमानिकनिकाय के बारह भेद हैं, जिनका वर्णन आगे आयेगा । वैमानिकनिकाय के बारह भेद कल्पोपपन्न वैमानिक देव तक के हैं, क्योंकि कल्पातीत देव वैमानिक-निकाय के तो हैं, पर उनकी गणना उक्त बारह भेदों में नहीं है । सौधर्म से अच्युत तक बारह स्वर्ग (देवलोक) हैं, जिन्हें कल्प कहा जाता है । ३ ।

चतुर्निकाय के अवान्तर भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः । ४ ।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः । ५ ।

चतुर्निकाय के उक्त दस आदि एक-एक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिकरूप हैं ।

व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल-रहित हैं ।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देव हैं । ये सब देव इन्द्र, सामानिक आदि दस भागों में विभक्त हैं । १. इन्द्र—सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी । २. सामानिक—आयु आदि में इन्द्र के समान अर्थात् अमात्य, पिता, गुरु आदि की तरह पूज्य, पर इनमें मात्र इन्द्रत्व नहीं होता । ३. त्रायस्त्रिंश—मंत्री या पुरोहित का काम करनेवाले । ४. पारिषद्य—मित्र का काम करने-वाले । ५. आत्मरक्षक—शस्त्र धारण करके आत्मरक्षक के रूप में पीठ की ओर खड़े रहनेवाले । ६. लोकपाल—सीमा के रक्षक । ७. अनीक—सैनिक और सेनाधिपति । ८. प्रकीर्णक—नगरवासी और देशवासी के समान । ९. आभियोग्य—सेवक या दास के तुल्य । १०. किल्विषिक—अन्त्यजों के समान । बारह देवलोकों में अनेक प्रकार के वैमानिक देव भी इन्द्र, सामानिक आदि दस भागों में विभक्त हैं ।

व्यन्तरनिकाय के आठ और ज्योतिष्कनिकाय के पाँच प्रकार के देव इन्द्र आदि आठ विभागों में ही विभक्त हैं, क्योंकि इन दोनों निकायों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नहीं होते । ४-५ ।

इन्द्रों की संख्या

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः । ६ ।

प्रथम दो निकायों में दो-दो इन्द्र हैं ।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देवों में तथा व्यन्तर-निकाय के किन्नर आदि आठ प्रकार के देवों में दो-दो इन्द्र हैं । जैसे चमर और बलि असुरकुमारों के, धरण और भूतानन्द नागकुमारों के, हरि और हरिसह विद्युत्कुमारों के, वेणुदेव और वेणुदारी सुपर्णकुमारों के, अग्निशिख और अग्नि-माणव अग्निकुमारों के, वेलम्ब और प्रभञ्जन वातकुमारों के, सुघोष और महाघोष स्तनितकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ उदधिकुमारों के, पूर्ण और वासिष्ठ द्वीप-कुमारों के, तथा अमितगति और अमितवाहन दिक्कुमारों के इन्द्र हैं । इसी तरह व्यन्तरनिकाय में भी हैं जैसे किन्नरों के किन्नर और किंपुरुष, किंपुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप तथा पिशाचों के काल और महाकाल ये दो-दो इन्द्र हैं ।

भवनपति और व्यन्तर इन दोनों निकायों में दो-दो इन्द्र बतलाकर शेष दो निकायों में दो-दो इन्द्रों का अभाव दर्शाया गया है । ज्योतिष्कनिकाय में तो चन्द्र और सूर्य ही इन्द्र हैं । चन्द्र और सूर्य असंख्यात हैं, इसलिए ज्योतिष्कनिकाय में इन्द्र भी इतने ही हैं । वैमानिकनिकाय में प्रत्येक कल्प में एक-एक इन्द्र है । सौधर्म कल्प में शक्र, ऐशान में ईशान, सानत्कुमार में सनत्कुमार नामक इन्द्र है । इसी प्रकार ऊपर के देवलोकों में उन देवलोकों के नामवाला एक-एक इन्द्र है । विशेषता इतनी ही है कि आनत और प्राणत इन दो कल्पों का प्राणत नामक एक ही इन्द्र है । आरण और अच्युत इन दो कल्पों का भी अच्युत नामक एक ही इन्द्र है । ६ ।

प्रथम दो निकायों में लेश्या

पीतान्तलेश्याः । ७ ।

प्रथम दो निकायों के देव पीत (तेजः) पर्यन्त लेश्यावाले हैं ।

भवनपति और व्यन्तर जाति के देवों में शारीरिक वर्णरूप द्रव्यलेश्या चार ही मानी जाती हैं, जैसे कृष्ण, नील, कापोत और पीत (तेजः) । ७ ।

देवों का कामसुख

कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् । ८ ।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः । ९ ।

परेऽप्रवीचाराः । १० ।

ऐशान कल्प तक के देव कायप्रवीचार होते हैं अर्थात् शरीर से विषयसुख भोगते हैं।

शेष देव दो-दो कल्पों में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और संकल्प द्वारा विषयसुख भोगते हैं।

अन्य सब देव प्रवीचार से रहित अर्थात् वैषयिक सुखभोग से मुक्त होते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा पहले व दूसरे कल्प के वैमानिक ये सब देव मनुष्य की भाँति शरीर से कामसुख का अनुभव करके प्रसन्न होते हैं।

तीसरे कल्प तथा ऊपर के सभी कल्पों के वैमानिक देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण शरीरस्पर्श द्वारा कामसुख नहीं भोगते, अपितु अन्यान्य प्रकार से वैषयिक सुख भोगते हैं। तीसरे और चौथे कल्प के देवों की तो देवियों के स्पर्श-मात्र से कामतृप्ति हो जाती है। पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के सुसज्जित (शृंगारित) रूप को देखकर ही विषयसुख प्राप्त कर लेते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्दों को सुनने से पूरी हो जाती है। नवें और दसवें तथा ग्यारहवें और बारहवें इन दो जोड़ों अर्थात् चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति देवियों का चिन्तन करने मात्र से हो जाती है। इस तृप्ति के लिए उन्हें न तो देवियों के स्पर्श की, न उनका रूप देखने की और न गीत आदि सुनने की आवश्यकता रहती है। सारांश यह है कि दूसरे स्वर्ग तक ही देवियाँ हैं, ऊपर के कल्पों में नहीं हैं। वे जब तृतीय आदि ऊपर के स्वर्गों के देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक अर्थात् अपनी ओर आदरशील जानती हैं तभी वे उनके निकट पहुँचती हैं। देवियों के हस्त आदि के स्पर्श मात्र से तीसरे-चौथे स्वर्ग के देवों की कामतृप्ति हो जाती है। उनके शृंगारसज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पाँचवें और छठे स्वर्ग के देवों की कामलालसा पूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार उनके सुन्दर संगीतमय शब्दों के श्रवण मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक आनन्द का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। देवियों की पहुँच आठवें स्वर्ग तक ही है, ऊपर नहीं। नवें से बारहवें स्वर्ग तक के देवों की काम-सुखतृप्ति केवल देवियों का चिन्तन करने से ही हो जाती है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव शान्त और

कामलालसा से परे होते हैं। उन्हें देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी वे नीचे के देवों से अधिक सन्तुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि ज्यों-ज्यों कामवासना प्रबल होती है त्यों-त्यों चित्तसंक्लेश अधिक बढ़ता है तथा ज्यों-ज्यों चित्तसंक्लेश बढ़ता है त्यों-त्यों उसके निवारण के लिए विषयभोग भी अधिकाधिक आवश्यक होता है। दूसरे स्वर्ग तक के देवों की अपेक्षा तीसरे और चौथे स्वर्ग के देवों की, उनकी अपेक्षा पाँचवें-छठे स्वर्ग के देवों की और इस तरह ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवों की कामवासना मन्द होती जाती है। इसलिए उनका चित्तसंक्लेश भी कम होता जाता है। उनके कामभोग के साधन भी अल्प होते हैं। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों की कामवासना शान्त होती है, अतः उन्हें स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि किसी भी प्रकार के भोग की कामना नहीं होती। वे संतोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों का सुख अधिकाधिक माना गया है। ८-१०।

चतुर्निकाय के देवों के भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीप-दिक्कुमाराः। ११।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः। १२।

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च। १३।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके। १४।

तत्कृतः कालविभागः। १५।

बहिरवस्थिताः। १६।

वैमानिकाः। १७।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च। १८।

उपर्युपरि। १९।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च[1]। २०।

---

१. श्वेताम्बर परम्परा में बारह कल्प माने गए हैं। दिगम्बर परम्परा में सोलह कल्पों की मान्यता है, अतः उनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार ये चार कल्प अधिक हैं, जो क्रमशः छठें, आठवें, नवें और ग्यारहवें हैं।

असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार—ये (दस) भवनवासीनिकाय हैं।

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच—ये (आठ) व्यन्तरनिकाय हैं।

सूर्य, चन्द्र तथा ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा—ये (पाँच) ज्योतिष्क-निकाय हैं।

वे मनुष्यलोक में मेरु के चारों ओर प्रदक्षिणा करते हैं तथा नित्य गतिशील हैं।

काल का विभाग उनके (चरज्योतिष्कों) द्वारा किया हुआ है।

ज्योतिष्क मनुष्यलोक के बाहर स्थिर होते हैं।

चतुर्थ निकायवाले वैमानिक देव हैं।

वे कल्पोपपन्न और कल्पातीत हैं।

ऊपर-ऊपर रहते हैं।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (इन १२ कल्पों) तथा नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध में उनका निवास है।

भवनपति—दसों प्रकार के भवनपति देव जम्बूद्वीपवर्ती सुमेरुपर्वत के नीचे, उसके दक्षिण और उत्तर भाग में तिरछे अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन तक रहते हैं। असुरकुमार प्रायः आवासों में और कभी भवनों में बसते हैं तथा नागकुमार आदि सब प्रायः भवनों में ही बसते हैं। आवास रत्नप्रभा के पृथ्वीपिंड में ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजन को छोड़कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग में सब जगह हैं, पर भवन तो रत्नप्रभा के नीचे नब्बे हजार योजन के भाग में ही होते हैं। आवास बड़े मण्डप जैसे होते हैं और भवन नगर के समान। भवन बाहर से गोल, भीतर से समचतुष्कोण और तल में पुष्करकर्णिका जैसे होते हैं।

सभी भवनपति इसलिए कुमार कहे जाते हैं कि वे कुमार की तरह मनोहर तथा सुकुमार दीखते हैं। उनकी गति मृदु व मधुर होती है तथा वे क्रीड़ाशील होते हैं। दस प्रकार के भवनपति देवों की चिह्नादि स्वरूपसम्पत्ति जन्मना अपनी-अपनी जाति में भिन्न भिन्न है। जैसे असुरकुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का, नागकुमारों के

नाग का, विद्युत्कुमारों के वज्र का, सुपर्णकुमारों के गरुड़ का, अग्निकुमारों के घट का, वातकुमारों के अश्व[१] का, स्तनितकुमारों के वर्धमान सकोरासंपुट (सकोरायुगल) का, उदधिकुमारों के मकर का, द्वीपकुमारों के सिंह का और दिक्कुमारों के हस्ति का चिह्न होता है। नागकुमार आदि सभी के चिह्न उनके आभरण में होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि विविध होते हैं। ११।

व्यन्तरों के भेद-प्रभेद—सभी व्यन्तरदेव ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीनों लोकों में भवनों तथा आवासों में बसते हैं। वे स्वेच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते रहते हैं। उनमें से कुछ तो मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। विविध पहाड़ों और गुफाओं के अन्तरों में तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण उन्हें व्यन्तर कहा जाता है। इनमें से किन्नर नामक व्यन्तरदेव दस प्रकार के हैं—किन्नर, किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। किंपुरुष नामक व्यन्तरदेव दस प्रकार के हैं—पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ और यशस्वान्। महोरग दस प्रकार के हैं–भुजंग, भोगशाली, महाकाव्य, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मेरुकान्त और भास्वान्। गान्धर्व बारह प्रकार के हैं–हाहा, हूहू, तुम्बुरव, नारद, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति और गीतयश। यक्ष तेरह प्रकार के हैं–पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। राक्षस सात प्रकार के हैं–भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, जलराक्षस, राक्षस और ब्रह्मराक्षस – भूत नौ प्रकार के हैं–सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, स्कन्दिक, महास्कन्दिक, महावेग, प्रतिच्छन्न और आकाशग। पिशाच पन्द्रह प्रकार के हैं–कूष्माण्ड, पटक, जोष, आह्नक, काल, महाकाल, चौक्ष, अचौक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णीक और वनपिशाच।

आठों प्रकार के व्यन्तरों के चिह्न क्रमशः अशोक, चम्पक, नाग, तुम्बरु, वट, खट्वाङ्ग,[२] सुलस और कदम्बक हैं। खट्वाङ्ग के अतिरिक्त शेष सब चिह्न वृक्ष जाति के हैं जो उनके आभूषण आदि में होते हैं। १२।

पञ्चविध ज्योतिष्क—मेरु के समतल भूभाग से सात सौ नब्बे योजन की

---

१. संग्रहणी ग्रन्थ में उदधिकुमारों के अश्व का और वातकुमारों के मकर का चिन्ह उल्लिखित है। देखें—गा० २६।

२. तापस का उपकरण विशेष।

ऊँचाई पर ज्योतिश्चक्र का क्षेत्र आरम्भ होता है जो वहाँ से ऊँचाई में एक सौ दस योजन का है और तिरछे असंख्यात द्वीपसमुद्र तक है। दस योजन की ऊँचाई पर अर्थात् उक्त समतल से आठ सौ योजन की ऊँचाई पर सूर्य के विमान हैं। वहाँ से अस्सी योजन ऊँचे अर्थात् समतल से आठ सौ अस्सी योजन ऊपर चन्द्र के विमान हैं। वहाँ से बीस योजन की ऊँचाई तक अर्थात् समतल से नौ सौ योजन की ऊँचाई तक ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारागण हैं। प्रकीर्ण तारों से आशय यह है कि कुछ तारे ऐसे भी हैं जो अनियतचारी होने से कभी सूर्य-चन्द्र के नीचे चलते हैं और कभी ऊपर। चन्द्र के ऊपर बीस योजन की ऊँचाई में पहले चार योजन की ऊँचाई पर नक्षत्र हैं, फिर चार योजन की ऊँचाई पर बुधग्रह, बुध से तीन योजन की ऊँचाई पर शुक्र, शुक्र से तीन योजन की ऊँचाई पर गुरु, गुरु से तीन योजन ऊपर मङ्गल और मङ्गल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर है। अनियतचारी तारा सूर्य के नीचे चलते समय ज्योतिष-क्षेत्र में सूर्य के नीचे दस योजन तक रहता है। ज्योतिष (प्रकाशमान) विमान में रहने से सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते हैं। इन सबके मुकुटों में प्रभामण्डल जैसा उज्ज्वल, सूर्यादिमण्डल जैसा चिह्न होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल जैसा, चन्द्र के चन्द्रमण्डल जैसा और तारा के तारामण्डल जैसा चिह्न होता है। १३।

चरज्योतिष्क—मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्यलोक होने की बात पहले कही जा चुकी है।[1] मनुष्यलोक के ज्योतिष्क सदा मेरु के चारों ओर भ्रमण करते रहते हैं। मनुष्यलोक में एक सौ बत्तीस सूर्य और चन्द्र हैं—जम्बूद्वीप में दो-दो, लवणसमुद्र में चार-चार, धातकीखण्ड में बारह-बारह, कालोदधि में बयालीस-बयालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर-बहत्तर हैं। एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोटाकोटि तारों का है। यद्यपि लोकमर्यादा के स्वभावानुसार ज्योतिष्कविमान सदा अपने-आप घूमते रहते हैं तथापि समृद्धि-विशेष प्रकट करने के लिए और आभियोग्य (सेवक) नामकर्म के उदय से क्रीड़ाशील कुछ देव उन विमानों को उठाते हैं। सामने के भाग में सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पीछे वृषभाकृति और बायें अश्वाकृतिवाले ये देव विमान को उठाकर चलते रहते हैं। १४।

कालविभाग—मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि; अतीत, वर्तमान आदि एवं संख्येय-असंख्येय आदि के रूप में अनेक प्रकार का कालव्यवहार मनुष्यलोक में होता है, उसके बाहर नहीं होता। मनुष्यलोक के बाहर यदि कोई कालव्यवहार करनेवाला हो और व्यवहार करे तो मनुष्यलोक-प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही

१. देखें—अ० ३, सू० १४।

होगा, क्योंकि व्यावहारिक कालविभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया मात्र है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। यह गति भी ज्योतिष्कों की सर्वत्र नहीं, केवल मनुष्यलोक में वर्तमान ज्योतिष्कों में ही मिलती है। इसीलिए माना गया है कि काल का विभाग ज्योतिष्कों की विशिष्ट गति पर ही निर्भर है। दिन, रात, पक्ष आदि स्थूल कालविभाग सूर्य आदि ज्योतिष्कों की नियत गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे ज्ञात हो सकते हैं; समय, आवलिका आदि सूक्ष्म कालविभाग उससे ज्ञात नहीं हो सकते। स्थान-विशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थान-विशेष में सूर्य का जो अदर्शन होता है उस उदय और अस्त के बीच सूर्य की गतिक्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी प्रकार सूर्य के अस्त से उदय तक की गतिक्रिया से रात्रि का व्यवहार होता है। दिन और रात्रि का तीसवाँ भाग मुहूर्त कहलाता है। पन्द्रह दिनरात का पक्ष होता है। दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष, पाँच वर्ष का युग इत्यादि अनेक प्रकार का लौकिक कालविभाग सूर्य की गतिक्रिया से किया जाता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमानकाल, जो होने-वाली है वह अनागतकाल और जो हो चुकी है वह अतीतकाल है। जो काल गणना में आ सकता है वह संख्येय है, जो गणना में न आकर केवल उपमान से जाना जाता है वह असंख्येय है, जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि और जिसका अन्त नहीं है वह अनन्त[1] है। १५।

स्थिरज्योतिष्क—मनुष्यलोक से बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं, क्योंकि उनके विमान स्वभावतः एक स्थान पर स्थिर रहते हैं, यत्र-तत्र भ्रमण नहीं करते। अतः उनकी लेश्या और प्रकाश भी एक रूप में स्थिर है, वहाँ राहु आदि की छाया न पड़ने से ज्योतिष्कों का स्वाभाविक पीतवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है और उदय-अस्त न होने से उनका लक्ष योजन का प्रकाश भी एक-सा स्थिर रहता है। १६।

वैमानिक देव—चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक हैं। उनका वैमानिक नाम पारिभाषिक मात्र है, क्योंकि विमान से तो अन्य निकायों के देव भी चलते हैं। १७।

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प में रहने-वाले कल्पोपपन्न और कल्प के ऊपर रहनेवाले कल्पातीत। ये समस्त वैमानिक न तो एक ही स्थान में हैं और न तिरछे हैं किन्तु एक-दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित हैं। १८-१९।

---

१. यह अनन्त का शब्दार्थ है। उसका पूरा भाव जानने के लिए देखें—हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ।

सौधर्म, ऐशान आदि बारह कल्प (स्वर्ग) हैं। प्रथम सौधर्म कल्प ज्योतिश्चक्र के असंख्यात योजन ऊपर मेरुपर्वत के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाशप्रदेश में स्थित है। उसके बहुत ऊपर किन्तु उत्तर की ओर ऐशान कल्प है। सौधर्म कल्प के बहुत ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार कल्प है और ऐशान के ऊपर समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है। इन दोनों के मध्य में किन्तु ऊपर ब्रह्मलोक कल्प है। इसके ऊपर समश्रेणि में क्रमशः लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प एक-दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौधर्म और ऐशान की तरह आनत और प्राणत ये दो कल्प हैं। इनके ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार और माहेन्द्र की तरह आरण और अच्युत कल्प हैं। कल्पों से ऊपर-ऊपर अनुक्रम से नौ विमान हैं जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवास्थानीय भाग में होने से 'ग्रैवेयक' कहलाते हैं। इनसे ऊपर-ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। सबसे उत्तर (प्रधान) होने के कारण ये 'अनुत्तर' कहलाते हैं।

सौधर्म कल्प से अच्युत कल्प तक के देव कल्पोपपन्न हैं और इनसे ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं। कल्पोपपन्न देवों में स्वामि-सेवकभाव होता है, कल्पातीत में नहीं। सभी कल्पातीत देव इन्द्रवत् होते हैं, अतः वे अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्यलोक में किसी निमित्त से आवागमन का कार्य कल्पोपपन्न देव ही करते हैं, कल्पातीत देव अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते। २०।

देवों की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता विषयक बातें

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः। २१।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः। २२।

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधि-विषय की ऊपर-ऊपर के देवों में अधिकता होती है।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की ऊपर-ऊपर के देवों में हीनता होती है।

नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देव सात बातों में अधिक (बढ़े हुए) होते हैं। ये सात बातें निम्नलिखित हैं :

१. स्थिति—इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे सूत्र ३० से ५३ तक किया गया है।

२. प्रभाव—निग्रह-अनुग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा-महिमा आदि सिद्धियों का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरों से काम करवाने का बल यह सब प्रभाव के

अन्तर्गत है। यह प्रभाव ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक है, फिर भी उनमें उत्त-रोत्तर अभिमान व संक्लेश परिणाम कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं।

३.४. **सुख और द्युति**—इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति द्युति है। यह सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने से उनमें उत्तरोत्तर क्षेत्रस्वभावजन्य शुभ पुद्गल-परिणाम की प्रकृष्टता होती है।

५. **लेश्या-विशुद्धि**—लेश्या के नियम की स्पष्टता सूत्र २३ में की जायेगी। यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि जिन देवों की लेश्या समान है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों की लेश्या संक्लेश परिणाम की न्यूनता के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर होती है।

६. **इन्द्रियविषय**—दूर से इष्टविषयों को ग्रहण करने का इन्द्रियों का सामर्थ्य भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और संक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर अधिक होता है।

७. **अवधिविषय**—अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होता है। पहले-दूसरे स्वर्ग के देव अधोभूमि में रत्नप्रभा तक, तिरछे क्षेत्र में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वलोक में अपने-अपने भवन तक के क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानते हैं। तीसरे-चौथे स्वर्ग के देव अधोभूमि में शर्कराप्रभा तक, तिरछे क्षेत्र में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वलोक में अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं। इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अनुत्तर-विमान-वासी देव सम्पूर्ण लोकनाली को अवधिज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों का अवधि-ज्ञान-क्षेत्र समान होता है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में विशुद्ध, विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य होता है। २१।

चार बातें ऐसी हैं जो नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होती हैं। वे ये हैं :

१. **गति**—गमनक्रिया की शक्ति और गमनक्रिया में प्रवृत्ति ये दोनों बातें ऊपर-ऊपर के देवों में कम होती हैं, क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर महानुभावत्व और उदासीनत्व अधिक होने से देशान्तर विषयक क्रीड़ा करने की रति (रुचि) कम होती जाती है। सानत्कुमार आदि कल्पों के देव जिनकी जघन्य आयुस्थिति दो सागरोपम होती है, अधोभूमि में सातवें नरक तक और तिरछे क्षेत्र में असंख्यात हजार कोटाकोटि योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इनके ऊपर के

जघन्य स्थितिवाले देवों का गतिसामर्थ्य इतना घट जाता है कि वे अधिक-से-अधिक तीसरे नरक तक ही जा पाते हैं। शक्ति चाहे अधिक हो, पर कोई देव तीसरे नरक से नीचे न गया है और न जायेगा।

२. शरीर—शरीर का परिमाण पहले-दूसरे स्वर्ग में सात हाथ का, तीसरे-चौथे स्वर्ग में छः हाथ का, पाँचवें-छठे स्वर्ग में पाँच हाथ का, सातवें-आठवें स्वर्ग में चार हाथ का, नवें से बारहवें स्वर्ग तक में तीन-तीन हाथ का, नौ ग्रैवेयकों में दो हाथ का और अनुत्तरविमानों में एक हाथ का होता है।

३. परिग्रह—स्वर्गों मे विमानों का परिग्रह ऊपर-ऊपर कम होता जाता है। वह इस प्रकार है—पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में चालीस हजार, आठवें में छः हजार, नवें से बारहवें तक में सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयकों में एक सौ ग्यारह, मध्यवर्ती तीन ग्रैवेयकों में एक सौ सात, ऊपर के तीन ग्रैवेयकों में सौ और अनुत्तर में केवल पाँच विमान हैं।

४. अभिमान—अभिमान अर्थात् अहंकार। स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि के कारण अभिमान उत्पन्न होता है। यह अभिमान कषायों की मन्दता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होता जाता है।

इनके अतिरिक्त और भी पाँच बातें देवों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य हैं जो सूत्र में नहीं कही गई हैं—१. उच्छ्वास, २. आहार, ३. वेदना, ४. उपपात और ५. अनुभाव वे इस प्रकार हैं :

१. उच्छ्वास—जैसे-जैसे देवों की आयुस्थिति बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उच्छ्वास का समय भी बढ़ता जाता है, जैसे दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक-एक उच्छ्वास सात-सात स्तोक में होता है। एक पल्योपम की आयुवाले देवों का उच्छ्वास एक दिन में एक ही होता है। सागरोपम की आयुवाले देवों के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो उनका एक-एक उच्छ्वास उतने पक्ष में होता है।

२. आहार—आहार के विषय में यह नियम है कि दस हजार वर्ष की आयुवाले देव एक-एक दिन बीच में छोड़कर आहार ग्रहण करते हैं। पल्योपम की आयुवाले दिनपृथक्त्व[1] के बाद आहार लेते हैं। सागरोपम की स्थितिवाले देवों के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो वे देव उतने हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करते हैं।

---

१. दो की संख्या से लेकर नौ की संख्या तक पृथक्त्व का व्यवहार होता है।

३. वेदना—सामान्यतः देवों के साता (सुख-वेदना) ही होती है। कभी असाता (दुःख-वेदना) हो जाय तो वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहती। साता-वेदना भी लगातार छः महीने तक एक-सी रहकर बदल जाती है।

४. उपपात—उपपात अर्थात् उत्पत्तिस्थान की योग्यता। पर अर्थात् जैनेतरलिङ्गिक मिथ्यात्वी बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। स्व अर्थात् जैनलिङ्गिक मिथ्यात्वी ग्रैवेयक तक जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि पहले स्वर्ग से सर्वार्थसिद्ध तक कहीं भी जा सकते हैं, परन्तु चतुर्दश पूर्वधारी संयत पाँचवें स्वर्ग से नीचे उत्पन्न नहीं होते।

५. अनुभाव—अनुभाव अर्थात् लोकस्वभाव (जगद्धर्म)। इसी के कारण सब विमान तथा सिद्धशिला आदि आकाश में निराधार अवस्थित हैं।

अरिहन्त भगवान् के जन्माभिषेक आदि प्रसंगों पर देवों के आसन का कम्पित होना भी लोकानुभाव का ही कार्य है। आसनकम्प के अनन्तर अवधिज्ञान के उपयोग से तीर्थङ्कर की महिमा को जानकर कुछ देव उनके निकट पहुँचकर उनकी स्तुति, वन्दना, उपासना आदि करके आत्मकल्याण करते हैं। कुछ देव अपने ही स्थान पर प्रत्युत्थान, अञ्जलिकर्म, प्रणिपात, नमस्कार, उपहार आदि द्वारा तीर्थङ्कर की अर्चा करते हैं। यह भी लोकानुभाव का ही कार्य है। २२।

वैमानिकों में लेश्या

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु। २३।

दो, तीन और शेष स्वर्गों में क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं।

पहले दो स्वर्गों के देवों में पीत (तेजः) लेश्या होती है। तीसरे से पाँचवें स्वर्ग तक के देवों में पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध तक के देवों में शुक्ललेश्या होती है। यह विधान शरीरवर्णरूप द्रव्यलेश्या के विषय में है, क्योंकि अध्यवसायरूप छहों भावलेश्याएँ तो सब देवों में होती हैं। २३।

कल्पों की परिगणना

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः। २४।

ग्रैवेयकों से पहले कल्प हैं।

जिनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप में देवों के विभाग की कल्पना है वे कल्प कहलाते हैं। ऐसे कल्प बारह हैं जो ग्रैवेयक के पहले तक अर्थात् सौधर्म से अच्युत तक हैं। ग्रैवेयक से लेकर ऊपर के सभी देवलोक कल्पातीत हैं,

क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि की विभाग-कल्पना नहीं है; वे सभी समान होने से अहमिन्द्र हैं। २४।

लोकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः। २५।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च[1]। २६।

ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आलय (निवासस्थान) है।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट ये लोकान्तिक हैं।

लोकान्तिक देव विषयरति से परे होने से देवर्षि कहलाते हैं, आपस में छोटे-बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र हैं और तीर्थङ्कर के निष्क्रमण (गृह-त्याग) के समय उनके समक्ष उपस्थित होकर 'बुज्झह बुज्झह' शब्द द्वारा प्रति-बोधन के रूप में अपने आचार का पालन करते हैं। ये ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्ग के ही चारों ओर दिशाओं-विदिशाओं में रहते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं रहते। ये सभी वहाँ से च्युत होकर मनुष्य-जन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक दिशा, प्रत्येक विदिशा और मध्यभाग में एक-एक जाति के बसने के कारण लोकान्तिकों की कुल नौ जातियाँ हैं, जैसे पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण में सारस्वत, पूर्व में आदित्य, पूर्वदक्षिण (अग्निकोण) में वह्नि, दक्षिण में अरुण, दक्षिणपश्चिम (नैर्ऋत्यकोण) में गर्दतोय, पश्चिम में तुषित, पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में अव्याबाध, उत्तर में मरुत और बीच में अरिष्ट। इनके सारस्वत आदि नाम विमानों के नाम के आधार पर ही प्रसिद्ध हैं। हाँ, इतनी विशेषता और है कि इन दो सूत्रों के मूल भाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ ही भेद निर्दिष्ट हैं, नौ नहीं। दिगम्बर संप्रदाय के सूत्रपाठ में भी आठ की संख्या ही उपलब्ध

---

१. रायल एशियाटिक सोसायटी की मुद्रित पुस्तक में 'अरिष्टाश्च' इस अंश को निश्चित रूप से सूत्र में न रखकर कोष्ठक में रखा गया है, परन्तु मनसुख भगुभाई की मुद्रित पुस्तक में यही अंश 'रिष्टाश्च' पाठ के रूप में सूत्रगत ही छपा है। यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदाय के मूल सूत्र में 'ऽरिष्टाश्च' पाठ है तथापि इस सूत्र के भाष्य की टीका में 'सूरिणोपात्ताः रिष्टविमानप्रस्तारवर्तिभिः' आदि का उल्लेख है। इससे 'अरिष्ट' के स्थान पर 'रिष्ट' होने का भी तर्क हो सकता है। परन्तु दिगम्बर संप्रदाय में इस सूत्र का अन्तिम अंश 'ऽव्याबाधारिष्टाश्च' पाठ के रूप में मिलता है। इससे यहाँ स्पष्टतः 'अरिष्ट' ही निष्पन्न होता है, 'रिष्ट' नहीं, साथ ही 'मरुत' का भी विधान नहीं है।

होती है, उसमें 'मरुत' का उल्लेख नहीं है। स्थानाङ्ग आदि सूत्रों में नौ भेद मिलते हैं। उत्तमचरित्र में तो दस भेदों का भी उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि मूल सूत्र में 'मरुतो' पाठ बाद में प्रक्षिप्त हुआ है। २५-२६।

अनुत्तर विमानों के देवों की विशेषता

विजयादिषु द्विचरमाः। २७।

विजयादि के देव द्विचरम होते हैं अर्थात् दो बार मनुष्यजन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

अनुत्तर विमान पाँच हैं। उनमें से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों के देव द्विचरम होते हैं। वे अधिक-से-अधिक दो बार मनुष्यजन्म धारण करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है कि चार अनुत्तर विमानों से च्युत होने के बाद मनुष्यजन्म, उसके बाद अनुत्तर विमान में देवजन्म, वहाँ से फिर मनुष्यजन्म और उसी जन्म से मोक्ष। परन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव च्युत होने के बाद केवल एक बार मनुष्यजन्म धारण करके उसी जन्म से मोक्ष प्राप्त करते हैं। अनुत्तर विमानवासी देवों के अतिरिक्त अन्य सब देवों के लिए कोई नियम नहीं है, क्योंकि कोई तो एक ही बार मनुष्यजन्म लेकर मोक्ष जाते हैं, कोई दो बार तीन बार, चार बार या और भी अधिक बार मनुष्यजन्म धारण करते हैं। २७।

तिर्यंचों का स्वरूप

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यंग्योनयः। २८।

औपपातिक और मनुष्य से जो शेष हैं वे तिर्यंच योनिवाले हैं।

'तिर्यंच कौन हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में वर्णित है। औपपातिक (देव तथा नारक) तथा मनुष्य को छोड़कर शेष सभी संसारी जीव तिर्यंच हैं। देव, नारक और मनुष्य केवल पञ्चेन्द्रिय होते हैं, पर तिर्यंच में एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक सब जीव आ जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य लोक के विशेष भागों में ही होते हैं, तिर्यञ्च नहीं, क्योंकि उनका स्थान लोक के सब भागों में है। २८।

अधिकार-सूत्र

स्थितिः। २९।

आयु का वर्णन किया जाता है।

मनुष्यों और तिर्यञ्चों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है। देवों और नारकों की आयु बतलाना शेष है, जो इस अध्याय की समाप्ति तक वर्णित है। २९।

भवनपतिनिकाय की उत्कृष्ट स्थिति

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् । ३० ।

शेषाणां पादोने । ३१ ।

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च । ३२ ।

भवनों में दक्षिणार्ध के इन्द्रों की स्थिति डेढ़ पल्योपम है।

शेष इन्द्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम है।

दो असुरेन्द्रों की स्थिति क्रमशः सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम है।

यहाँ भवनपतिनिकाय की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, क्योंकि जघन्य-स्थिति का वर्णन आगे सूत्र ४५ में आया है। भवनपतिनिकाय के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस भेद हैं। प्रत्येक वर्ग के दक्षिणार्ध के अधिपति और उत्तरार्ध के अधिपति के रूप में दो-दो इन्द्र हैं। उनमें से दक्षिण और उत्तर के दो असुरेन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—दक्षिणार्ध के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम और उत्तरार्ध के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक है। असुरकुमार को छोड़कर नागकुमार आदि शेष नौ प्रकार के भवनपति देवों के दक्षिणार्ध के धरण आदि नौ इन्द्रों की स्थिति डेढ़ पल्योपम और उत्तरार्ध के भूतानन्द आदि नौ इन्द्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम है। ३०-३२।

वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् । ३३ ।

सागरोपमे । ३४ ।

अधिके च । ३५ ।

सप्त सानत्कुमारे । ३६ ।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च । ३७ ।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । ३८ ।

सौधर्म आदि देवलोकों में क्रमशः निम्नोक्त स्थिति है।

सौधर्म में स्थिति दो सागरोपम है।

ऐशान में स्थिति कुछ अधिक दो सागरोपम है।

सानत्कुमार में स्थिति सात सागरोपम है।

माहेन्द्र से आरण-अच्युत तक क्रमशः कुछ अधिक सात सागरोपम, तीन से अधिक सात सागरोपम, सात से अधिक सात सागरोपम, दस से अधिक सात सागरोपम, ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम, पन्द्रह से अधिक सात सागरोपम स्थिति है।

आरण-अच्युत के ऊपर नौ ग्रैवेयक, चार विजयादि और सर्वार्थसिद्ध में स्थिति अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक है।

यहाँ वैमानिक देवों की क्रमशः जो स्थिति वर्णित है वह उत्कृष्ट है। पहले स्वर्ग में दो सागरोपम, दूसरे में दो सागरोपम से कुछ अधिक, तीसरे में सात सागरोपम, चौथे में सात सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवें में दस सागरोपम, छठे में चौदह सागरोपम, सातवें में सत्रह सागरोपम, आठवें में अठारह सागरोपम, नवें-दसवें में बीस सागरोपम और ग्यारहवें-बारहवें में बाईस सागरोपम की स्थिति है। प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागरोपम, दूसरे में चौबीस सागरोपम, इसी प्रकार एक-एक बढ़ते-बढ़ते नवें ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थिति है। पहले चार अनुत्तर विमानों में बत्तीस[1] और सर्वार्थसिद्ध में तैंतीस सागरोपम की स्थिति है। ३३-३८।

वैमानिक देवों की जघन्य स्थिति

अपरा पल्योपममधिकं च। ३९।

सागरोपमे। ४०।

अधिके च। ४१।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा। ४२।

अपरा (जघन्य स्थिति) पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम की है।

दो सागरोपम की है।

---

१. दिगम्बर टीकाओं में और कहीं-कहीं श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी विजयादि चार विमानों में उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम मानी गई है। देखें—इसी अध्याय के सूत्र ४२ का भाष्य। संग्रहणी ग्रन्थ में भी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम कही गई है।

कुछ अधिक दो सागरोपम की है।

पहले-पहले की उत्कृष्ट स्थिति आगे-आगे की जघन्य स्थिति है।

सौधर्मादि कल्पों की जघन्य स्थिति क्रमशः इस प्रकार है—पहले स्वर्ग में एक पल्योपम, दूसरे में एक पल्योपम से कुछ अधिक, तीसरे में दो सागरोपम, चौथे में दो सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवें से आगे-आगे सभी देवलोकों में जघन्य स्थिति वही है जो अपनी-अपनी अपेक्षा पूर्व-पूर्व के देवलोकों में उत्कृष्ट स्थिति है। इसके अनुसार चौथे देवलोक की कुछ अधिक सात सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ही पाँचवें देवलोक में जघन्य स्थिति है; पाँचवें की दस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति छठे में जघन्य है, छठे की चौदह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति सातवें में जघन्य है, सातवें की सत्रह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति, आठवें में जघन्य है, आठवें की अठारह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति नवें-दसवें में जघन्य है, नवें-दसवें की बीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारहवें-बारहवें में जघन्य है, ग्यारहवें-बारहवें की बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति प्रथम ग्रैवेयक में जघन्य है। इसी प्रकार नीचे-नीचे के ग्रैवेयक की उत्कृष्ट स्थिति ऊपर-ऊपर के ग्रैवेयक में जघन्य है। इस क्रम से नवें ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम है। चार अनुत्तर विमानों में जघन्य स्थिति इकतीस सागरोपम है। सर्वार्थसिद्ध की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति में कोई अन्तर नहीं है, वहाँ तैंतीस सागरोपम की स्थिति है। ३९-४२।

नारकों की जघन्य स्थिति

नारकाणां च द्वितीयादिषु। ४३।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्। ४४।

नारकों की दूसरी आदि भूमियों में पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

सूत्र ४२ में देवों की जघन्य स्थिति का जो क्रम है वही क्रम दूसरी से लेकर सातवीं भूमि तक के नारकों की जघन्य स्थिति का है। इसके अनुसार पहली भूमि की एक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति दूसरी की जघन्य स्थिति है। दूसरी की तीन सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति तीसरी की जघन्य है। तीसरी की सात साग-रोपम उत्कृष्ट स्थिति चौथी की जघन्य है। चौथी की दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति पाँचवीं की जघन्य है। पाँचवीं की सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति छठी की जघन्य है। छठी की बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति सातवीं की जघन्य है। पहली भूमि में नारकों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। ४३-४४।

भवनपतियों की जघन्य स्थिति

भवनेषु च । ४५ ।

भवनपतियों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष ही है ।

व्यन्तरों की स्थिति

व्यन्तराणां च । ४६ ।

परा पल्योपमम् । ४७ ।

व्यन्तर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष ही है ।

उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम प्रमाण है । ४६-४७ ।

ज्योतिष्कों की स्थिति

ज्योतिष्काणामधिकम् । ४८ ।

ग्रहाणामेकम् । ४९ ।

नक्षत्राणामर्धम् । ५० ।

तारकाणां चतुर्भागः । ५१ ।

जघन्या त्वष्टभागः । ५२ ।

चतुर्भागः शेषाणाम् । ५३ ।

ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य व चन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम प्रमाण है ।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम है ।

नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम है ।

तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है ।

जघन्य स्थिति पल्योपम का अष्टमांश है ।

शेष ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों व नक्षत्रों की (तारों को छोड़कर) जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश है । ४८-५३ । ●

: ५ :

अजीव

द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक जीव तत्त्व का निरूपण हुआ। प्रस्तुत अध्याय में अजीव तत्त्व का निरूपण किया जा रहा है।

अजीव के भेद

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । १ ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं।

निरूपणनियम के अनुसार पहले लक्षण का और फिर भेदों का कथन होना चाहिए, फिर भी यहाँ सूत्रकार ने अजीव तत्त्व का लक्षण न बतलाकर उसके भेदों का कथन किया है। इसका आशय यह है कि अजीव का लक्षण जीव के लक्षण से ही ज्ञात हो जाता है, उसका अलग से वर्णन करने की विशेष आवश्यकता नहीं। अ+जीव अर्थात् जो जीव नहीं है वह अजीव। जीव का लक्षण उपयोग है। जिसमें उपयोग न हो वह तत्त्व अजीव है। इस प्रकार अजीव का लक्षण उपयोग का अभाव ही फलित होता है।

अजीव जीव का विरोधी भावात्मक तत्त्व है, केवल अभावात्मक नहीं।

धर्म आदि चार अजीव तत्त्वों को अस्तिकाय कहने का अभिप्राय यह है कि ये तत्त्व एक प्रदेशरूप या एक अवयवरूप नहीं हैं, अपितु प्रचय अर्थात् समूहरूप हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन तत्त्व तो प्रदेशप्रचयरूप हैं तथा पुद्गल तत्त्व अवयवरूप व अवयवप्रचयरूप है।

अजीव तत्त्व के भेदों में काल की गणना नहीं की गई है, क्योंकि काल को तत्त्व मानने में मतभेद है। काल को तत्त्व माननेवाले आचार्य भी उसे केवल प्रदेशात्मक मानते हैं, प्रदेशप्रचयरूप नहीं मानते; अतः उनके मत से भी अस्तिकायों के साथ काल का परिगणन युक्त नहीं है और जो आचार्य काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते उनके मत से तो तत्त्व के भेदों में काल का परिगणन सम्भव ही नहीं है।

प्रश्न—उक्त चार अजीव तत्त्व क्या अन्य दर्शनों में भी मान्य हैं ?

उत्तर—नहीं। आकाश और पुद्गल इन दो तत्त्वों को तो वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शनों ने भी माना है, परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन दो तत्त्वों को जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन ने नहीं माना है। जिस तत्त्व को जैन दर्शन में आकाशास्तिकाय कहा गया है उसे जैनेतर दर्शनों में आकाश कहा गया है। 'पुद्गलास्तिकाय' संज्ञा केवल जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। जैनेतर शास्त्रों में पुद्गलस्थानीय तत्त्व प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से व्यवहृत है। १।

मूल द्रव्य

द्रव्याणि जीवाश्च। २।

धर्मास्तिकाय आदि चार अजीव तत्त्व और जीव ये पांच द्रव्य हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार यह जगत् केवल पर्याय अर्थात् परिवर्तनरूप नहीं है, किन्तु परिवर्तनशील होने पर भी अनादि-निधन है। इस जगत् में जैन दर्शन के अनुसार अस्तिकायरूप पांच मूल द्रव्य हैं, वे ही इस सूत्र में निर्दिष्ट हैं।

इस सूत्र तथा आगे के कुछ सूत्रों में द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष धर्म का वर्णन करके उनके पारस्परिक साधर्म्य-वैधर्म्य का वर्णन किया गया है। साधर्म्य अर्थात् समानधर्म (समानता) और वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म (असमानता)। इस सूत्र में द्रव्यत्व अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि पाँचों के द्रव्यरूप साधर्म्य का विधान है। वैधर्म्य तो गुण या पर्याय का हो सकता है, क्योंकि गुण और पर्याय स्वयं द्रव्य नहीं हैं। २।

मूल द्रव्यों का साधर्म्य और वैधर्म्य

नित्यावस्थितान्यरूपाणि। ३।

रूपिणः पुद्गलाः। ४।

आऽऽकाशादेकद्रव्याणि[1]। ५।

निष्क्रियाणि च। ६।

उक्त द्रव्य नित्य हैं, स्थिर हैं और अरूपी (अमूर्त) हैं।

पुद्गल रूपी (मूर्त) हैं।

---

१. भाष्य में 'आ आकाशात्' ऐसा सन्धिरहित पाठ है। दिगम्बर परम्परा में भी सूत्र-पाठ सन्धिरहित ही है।

उक्त पाँच में से आकाश तक के द्रव्य एक-एक हैं।

तथा निष्क्रिय हैं।

धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य नित्य हैं और अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होते। पाँचों स्थिर भी हैं, क्योंकि उनकी संख्या में न्यूनाधिकता नहीं होती, परन्तु अरूपी तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चार ही द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य अरूपी नहीं है। सारांश यह है कि नित्यत्व तथा अवस्थितत्व दोनों ही पाँचों द्रव्यों के साधर्म्य हैं, परन्तु अरूपित्व पुद्गल के अतिरिक्त शेष चार द्रव्यों का साधर्म्य है।

प्रश्न—नित्यत्व और अवस्थितत्व के अर्थ में क्या अन्तर है ?

उत्तर—अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना नित्यत्व है और अपने स्वरूप में स्थिर रहते हुए भी अन्य तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त न करना अवस्थितत्व है। जैसे जीव तत्त्व अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं छोड़ता, यह उसका नित्यत्व है और अपने इस स्वरूप को न छोड़ते हुए भी अजीव तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता, यह उसका अवस्थितत्व है। सारांश यह है कि स्व-स्वरूप को न त्यागना और पर-स्वरूप को प्राप्त न करना ये दो अंश (धर्म) सभी द्रव्यों में समान हैं। पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है। द्रव्यों के नित्यत्वकथन से जगत् की शाश्वतता प्रकट की जाती है और अवस्थितत्वकथन से उनका पारस्परिक असांकर्य प्रकट किया जाता है अर्थात् वे सब परिवर्तनशील होते हुए भी अपने स्वरूप में सदा स्थित हैं और एक साथ रहते हुए भी एक-दूसरे के स्वभाव (लक्षण) से अस्पृष्ट हैं। इस प्रकार यह जगत् अनादि-निधन भी है और जगत् के मूल तत्त्वों की संख्या भी समान रहती है।

प्रश्न—जब धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्य और तत्त्व हैं तब उनका कोई-न-कोई स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा, फिर उन्हें अरूपी क्यों कहा गया ?

उत्तर—यहाँ अरूपी कहने का आशय स्वरूपनिषेध नहीं है, स्वरूप तो धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों का भी होता ही है। उनका कोई स्वरूप न हो तो वे घोड़े के सींग की तरह वस्तु ही सिद्ध न हों। यहाँ अरूपित्व के कथन का तात्पर्य रूप का निषेध है। यहाँ रूप का अर्थ मूर्ति है। रूप आदि संस्थान-परिणाम को अथवा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते हैं जिसका धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वों में अभाव होता है। यही बात 'अरूपी' पद द्वारा कही गई है। ३।

रूप, मूर्तत्व, मूर्ति ये सब शब्द समानार्थक हैं। रूप, रस आदि इन्द्रियग्राह्य गुण ही मूर्ति कहे जाते हैं। पुद्गलों के गुण इन्द्रियग्राह्य हैं इसलिए पुद्गल ही मूर्त (रूपी) हैं। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य मूर्त नहीं हैं, क्योंकि वे इन्द्रियों द्वारा गृहीत नहीं होते। अतः रूपित्व गुण पुद्गल को छोड़कर धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वों का वैधर्म्य है।

अतीन्द्रिय होने से परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म द्रव्य और उनके गुण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं, फिर भी विशिष्ट परिणामरूप अवस्था-विशेष में वे इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने की योग्यता रखते हैं, अतः अतीन्द्रिय होते हुए भी वे रूपी (मूर्त) ही हैं। धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी द्रव्यों में तो इन्द्रिय-विषय बनने की योग्यता ही नहीं है। अतीन्द्रिय पुद्गल और अतीन्द्रिय धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में यही अन्तर है। ४।

इन पाँच द्रव्यों में से आकाश तक के तीन द्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक इकाईरूप हैं। इनके दो या दो से अधिक विभाग नहीं हैं।

इसी प्रकार तीनों निष्क्रिय (क्रियारहित) हैं। एक इकाई और निष्क्रियता ये दोनों उक्त तीनों द्रव्यों का साधर्म्य और जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय का वैधर्म्य है। जीव और पुद्गल द्रव्य की अनेक इकाइयाँ हैं और वे क्रियाशील भी हैं। जैन दर्शन में आत्म द्रव्य को वेदान्त की भाँति एक इकाईरूप नहीं माना गया और सांख्य-वैशेषिक आदि सभी वैदिक दर्शनों की तरह उसे निष्क्रिय भी नहीं माना गया।

प्रश्न—जैन दर्शन के अनुसार सभी द्रव्यों में पर्यायपरिणमन (उत्पाद-व्यय) माना जाता है। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यों में ही हो सकता है। धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यों को निष्क्रिय मानने पर उनमें पर्यायपरिणमन कैसे घटित हो सकेगा ?

उत्तर—यहाँ निष्क्रियत्व से अभिप्राय गतिक्रिया का निषेध है, क्रियामात्र का नहीं। जैन दर्शन के अनुसार निष्क्रिय द्रव्य का अर्थ 'गतिशून्य द्रव्य' है। गतिशून्य धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में भी सदृशपरिणमनरूप क्रिया जैन दर्शन को मान्य है। ५-६।

प्रदेशों की संख्या

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः। ७।

जीवस्य। ८।

आकाशस्यानन्ताः । ९ ।

सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् । १० ।

नाणोः । ११ ।

धर्म और अधर्म के प्रदेश असंख्यात हैं।

एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। अणु (परमाणु) के प्रदेश नहीं होते।

धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पाँच द्रव्यों को 'काय' कहकर पहले यह निर्दिष्ट किया गया है कि पांच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशप्रचयरूप हैं। परन्तु उनके प्रदेशों की विशेष संख्या यहाँ पहले-पहल दर्शायी गई है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्किाय दोनों द्रव्यों के प्रदेश असंख्यात हैं। प्रदेश अर्थात् एक ऐसा सूक्ष्म अंश जिसके दूसरे अंश की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म को निरंश-अंश भी कहते हैं। धर्म व अधर्म ये दोनों द्रव्य एक-एक इकाईरूप हैं और उनके प्रदेश (अविभाज्य अंश) असंख्यात-असंख्यात हैं। उक्त दोनों द्रव्य ऐसे अखंड स्कन्धरूप हैं जिनके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश केवल बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं, वे वस्तुभूत स्कन्ध से पृथक् नहीं किये जा सकते।

जीव द्रव्य इकाईरूप में अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक अखंड इकाई है, जो धर्मास्तिकाय की तरह असंख्यात-प्रदेशी है।

आकाश द्रव्य अन्य सब द्रव्यों से बड़ा स्कन्ध है क्योंकि वह अनन्तप्रदेशी है।

पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध अन्य चार द्रव्यों की तरह नियतरूप नहीं हैं, क्योंकि कोई पुद्गल-स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का होता है, कोई असंख्यात प्रदेशों का, कोई अनन्त प्रदेशों का और कोई अनन्तानन्त प्रदेशों का।

पुद्गल तथा अन्य द्रव्यों में अन्तर यह है कि पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग-अलग हो सकते हैं, पर अन्य चार द्रव्यों के अपने प्रदेश अपने-अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त चारों द्रव्य अमूर्त हैं, और अमूर्त का स्वभाव है खण्डित न होना। पुद्गल द्रव्य मूर्त है, मूर्त के खंड हो सकते हैं, क्योंकि संश्लेष और विश्लेष के द्वारा मिलने की तथा अलग होने की

शक्ति मूर्त द्रव्य में होती है। इसी अन्तर के कारण पुद्गलस्कन्ध के छोटे-बड़े सभी अंशों को अवयव कहते हैं। अवयव अर्थात् अलग होनेवाला अंश।

परमाणु भी पुद्गल होने से मूर्त है किन्तु उसका विभाग नहीं होता, क्योंकि वह आकाश के प्रदेश की तरह पुद्गल का छोटे-से-छोटा अंश है। परमाणु का परिमाण सबसे छोटा है, अतः वह भी अविभाज्य अंश है।

यहाँ परमाणु के खंड या अंश न होने की बात द्रव्य (इकाई) रूप से कही गई है, पर्यायरूप से नहीं। पर्यायरूप में तो उसके भी अंशों की कल्पना की गई है; क्योंकि एक ही परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस आदि अनेक पर्याय हैं और वे सभी उस द्रव्य के भावरूप अंश ही हैं। इसलिए एक परमाणु के भी अनेक भावपरमाणु माने जाते हैं।

प्रश्न–धर्म आदि के प्रदेश और पुद्गल के परमाणु में क्या अन्तर है ?

उत्तर–परिमाण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जितने क्षेत्र में परमाणु रह सकता हैं उसे प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभाज्य अंश होने से उसके समाने योग्य क्षेत्र भी अविभाज्य ही होगा। अतः परमाणु और तत्परिमित प्रदेशसंज्ञक क्षेत्र दोनों ही परिमाण की दृष्टि से समान हैं, तो भी उनमें यह अन्तर है कि परमाणु अपने अंशीभूत स्कन्ध से पृथक् हो सकता है, परन्तु धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेश अपने स्कन्ध से पृथक् नहीं हो सकते।

प्रश्न–नवें सूत्र में 'अनन्त' पद है उससे पुद्गल द्रव्य के अनेक अनन्त प्रदेश होने का अर्थ तो निकल सकता है, परन्तु अनन्तानन्त प्रदेश होने का अर्थ किस पद से निकाला गया है ?

उत्तर–'अनन्त' पद सामान्य है, वह सब प्रकार की अनन्त संख्याओं का बोध कराता है। अतः उसी से अनन्तानन्त अर्थ प्राप्त हो जाता है। ७–११।

द्रव्यों का स्थितिक्षेत्र

लोकाकाशेऽवगाहः। १२।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने। १३।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्। १४।

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम्। १५।

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। १६।

आधेय (ठहरनेवाले) द्रव्यों की स्थिति लोकाकाश में ही है।

धर्म और अधर्म द्रव्यों की स्थिति समग्र लोकाकाश में है।

पुद्गलों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प (अनिश्चित रूप) से है।

जीवों की स्थिति लोक के असंख्यातवें भाग आदि में होती है।

क्योंकि प्रदीप की भाँति उनके प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।

जगत् पाँच अस्तिकायरूप है, इसलिए प्रश्न उठता है कि इन अस्तिकायों का आधार (स्थितिक्षेत्र) क्या है ? उनका आधार अन्य कोई द्रव्य है अथवा पाँचों में से ही कोई एक द्रव्य है ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि आकाश ही आधार है और शेष सब द्रव्य आधेय हैं। यह उत्तर व्यवहारदृष्टि से है, निश्चयदृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ (अपने-अपने स्वरूप में स्थित) हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तात्त्विक दृष्टि से नहीं रहता। प्रश्न हो सकता है कि जब धर्म आदि चार द्रव्यों का आधार व्यवहारदृष्टि से आकाश माना गया है तो आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर यही है कि आकाश का अन्य कोई आधार नहीं है, क्योंकि उससे बड़ा या उसके तुल्य परिमाण का अन्य कोई तत्त्व नहीं है। इस प्रकार व्यवहार एवं निश्चय दोनों दृष्टियों से आकाश स्वप्रतिष्ठ ही है। आकाश को अन्य द्रव्यों का आधार इसीलिए कहा गया है कि वह सब द्रव्यों से महान् है।

आधेयभूत धर्म आदि चार द्रव्य भी समग्र आकाश में नहीं रहते। वे आकाश के एक परिमित भाग में ही स्थित हैं और आकाश का यह भाग 'लोक' कहलाता है। लोक का अर्थ है पाँच अस्तिकाय। इस भाग के बाहर चारों ओर अनन्त आकाश फैला है। उसमें अन्य द्रव्यों की स्थिति न होने से वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। यहाँ अस्तिकायों के आधाराधेय सम्बन्ध का विचार लोकाकाश को लेकर ही किया गया है।

धर्म और अधर्म ये दोनों अस्तिकाय ऐसे अखण्ड स्कन्ध हैं जो सम्पूर्ण लोकाकाश में स्थित हैं। वस्तुतः अखण्ड आकाश के लोक और अलोक भागों की कल्पना भी धर्म-अधर्म द्रव्य-सम्बन्ध के कारण ही है। जहाँ धर्म-अधर्म द्रव्यों का सम्बन्ध न हो वह अलोक और जहाँ तक सम्बन्ध हो वह लोक।

पुद्गल द्रव्य का आधार सामान्यतः लोकाकाश ही नियत है, तथापि विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पुद्गलों के आधारक्षेत्र के परिमाण में अन्तर पड़ता है। पुद्गल द्रव्य धर्म-अधर्म द्रव्य की तरह एक इकाई तो है नहीं कि उसके एकरूप आधारक्षेत्र की सम्भावना मानी जा सके। भिन्न-भिन्न इकाई होते हुए भी पुद्गलों के परिमाण में विविधता है, एकरूपता नहीं है। इसीलिए यहाँ उसके आधार

का परिमाण अनेकरूप कहा गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में और कोई दो प्रदेशों में रहता है। कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश में भी रहता है। सारांश यह है कि आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेयभूत पुद्गलद्रव्य के परमाणुओं की संख्या से न्यून या तुल्य हो सकती है, अधिक नहीं। एक परमाणु एक ही आकाश-प्रदेश में स्थित रहता है, पर द्व्यणुक[1] एक प्रदेश में भी ठहर सकता है और दो में भी। इसी प्रकार उत्तरोत्तर संख्या बढ़ते-बढ़ते त्र्यणुक, चतुरणुक यावत् संख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश, यावत् संख्यात प्रदेश परिमित क्षेत्र में ठहर सकते हैं। संख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिए असंख्यात प्रदेशवाले क्षेत्र की आवश्यकता नहीं होती। असंख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश से लेकर अधिक-से-अधिक अपने बराबर की असंख्यात संख्यावाले प्रदेशों के क्षेत्र में ठहर सकता है। अनन्ताणुक और अनन्तानन्ताणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रमशः बढ़ते-बढ़ते संख्यात प्रदेश और असंख्यात प्रदेशवाले क्षेत्र में ठहर सकते हैं। उनकी स्थिति के लिए अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र आवश्यक नहीं है। पुद्गल द्रव्य का एवं अनन्तानन्त अणुओं का बना हुआ सबसे बड़ा अचित्त महास्कन्ध भी असंख्यातप्रदेश लोकाकाश में ही समा जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का परिमाण न तो आकाश की भाँति व्यापक है और न परमाणु की तरह अणु, किन्तु मध्यम माना जाता है। सब आत्माओं का मध्यम परिमाण प्रदेश-संख्या की दृष्टि से समान है, तो भी लम्बाई, चौड़ाई आदि सबकी समान नहीं है। इसलिए प्रश्न उठता है कि जीव द्रव्य का आधारक्षेत्र कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितना है? इसका उत्तर यह है कि एक जीव का आधारक्षेत्र लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है। यद्यपि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश परिमाण है, तथापि असंख्यात संख्या के भी असंख्यात प्रकार होने से लोकाकाश के ऐसे असंख्यात भागों की कल्पना की जा सकती है जो अंगुलासंख्येय भाग परिमाण हों। इतना छोटा एक भाग भी असंख्यात प्रदेशात्मक ही होता है। कोई एक जीव उस एक भाग में रह सकता है, उतने-उतने दो भागों में भी रह सकता है। इस प्रकार एक-एक भाग बढ़ते-बढ़ते अन्ततः सर्वलोक में भी एक जीव रह सकता है अर्थात् जीव द्रव्य का छोटे-

१. दो परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध द्व्यणुक, इसी प्रकार तीन परमाणुओं का स्कन्ध त्र्यणुक, चार परमाणुओं का चतुरणुक, संख्यात परमाणुओं का संख्याताणुक, असंख्यात का असंख्याताणुक, अनन्त का अनन्ताणुक और अनन्तानन्त परमाणुजन्य स्कन्ध अनन्तानन्ताणुक।

से-छोटा आधारक्षेत्र अंगुलासंख्येय भाग परिमाण होता है, जो समग्र लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग है। उसी जीव का कालान्तर में अथवा उसी समय जीवान्तर का कुछ बड़ा आधारक्षेत्र उक्त भाग से दुगुना भी होता है। इसी प्रकार उसी जीव का या जीवान्तर का आधारक्षेत्र उक्त भाग से तिगुना, चौगुना, पाँचगुना आदि क्रमशः बढ़ते-बढ़ते कभी असंख्यातगुना अर्थात् सर्व लोकाकाश हो सकता है। एक जीव का आधारक्षेत्र सर्व लोकाकाश तभी सम्भव है जब वह जीव केवलिसमुद्घात की स्थिति में हो। जीव के परिमाण की न्यूनाधिकता के अनुसार उसके आधारक्षेत्र के परिमाण की न्यूनाधिकता एक जीव की अपेक्षा से कही गई है। सर्व जीवराशि की अपेक्षा से तो जीव तत्त्व का आधारक्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि एक जीव द्रव्य के परिमाण में कालभेदगत जो न्यूनाधिकता है, या तुल्य प्रदेशवाले भिन्न-भिन्न जीवों के परिमाण में एक ही समय में जो न्यूनाधिकता है, उसका कारण क्या है? यहाँ इसका उत्तर यह है कि अनादि काल से जीव के साथ लगा हुआ कार्मणशरीर जो कि अनन्तानन्त अणुप्रचय-रूप होता है, उसके सम्बन्ध से एक ही जीव के परिमाण में या नाना जीवों के परिमाण में विविधता आती है। कार्मणशरीर सदा एक-सा नहीं रहता। उसके सम्बन्ध से औदारिक आदि जो अन्य शरीर प्राप्त होते हैं वे भी कार्मण के अनुसार छोटे-बड़े होते हैं। जीव द्रव्य वस्तुतः है तो अमूर्त, पर वह शरीर-सम्बन्ध के कारण मूर्तवत् बन जाता है। इसलिए जब जितना बड़ा शरीर उसे प्राप्त होता है। तब उसका परिमाण उतना हो जाता है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की भाँति जीव द्रव्य भी अमूर्त है, फिर एक का परिमाण नहीं घटता-बढ़ता और दूसरे का घटता-बढ़ता है ऐसा क्यों? इसका कारण स्वभावभेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीव तत्त्व का स्वभाव निमित्त मिलने पर प्रदीप की तरह संकोच और विकास को प्राप्त करना है, जैसे खुले आकाश में रखे हुए प्रदीप के प्रकाश का कोई एक परिमाण होता है, पर कोठरी में उसका प्रकाश कोठरी भर ही बन जाता है, कुण्डे के नीचे रखने पर वह कुण्डे के नीचे के भाग को ही प्रकाशित करता है, लोटे के नीचे उसका प्रकाश उतना ही हो जाता है। इसी प्रकार जीव द्रव्य भी संकोच-विकासशील है। वह जब जितना छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है तब उस शरीर के परिमाणानुसार उसके परिमाण में संकोच-विकास हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जीव यदि संकोचस्वभाव के कारण छोटा होता है तो वह लोकाकाश के प्रदेशरूप असंख्यातवें भाग से छोटे भाग में अर्थात् आकाश

के एक प्रदेश पर या दो, चार, पाँच आदि प्रदेशों पर क्यों नहीं समा सकता ? इसी प्रकार यदि उसका स्वभाव विकासशील है तो वह सम्पूर्ण लोकाकाश की तरह अलोकाकाश को भी व्याप्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि संकोच की मर्यादा कार्मणशरीर पर निर्भर है। कार्मणशरीर तो किसी भी अंगुलासंख्यात भाग से छोटा हो ही नहीं सकता, इसलिए जीव का संकोच-कार्य भी वहीं तक परिमित रहता है। विकास की मर्यादा भी लोकाकाश तक मानी गई है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि जीव के प्रदेश उतने ही हैं जितने लोकाकाश के हैं। अधिक-से-अधिक विकास-दशा में जीव का एक प्रदेश आकाश के एक ही प्रदेश को व्याप्त कर सकता है, दो या अधिक को नहीं। इसलिए सर्वोत्कृष्ट विकासदशा में भी वह लोकाकाश के बाहर के भाग को व्याप्त नहीं करता। दूसरा कारण यह है कि विकास करना गति का कार्य है और गति धर्मास्तिकाय के बिना नहीं हो सकती, अतः लोकाकाश के बाहर जीव के फैलने का कोई कारण ही नहीं है।

प्रश्न—असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में शरीरधारी अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं ?

उत्तर—सूक्ष्मभाव में परिणत होने से निगोद-शरीर से व्याप्त एक ही आकाश-क्षेत्र में साधारणशरीरी अनन्त जीव एक साथ रहते हैं और मनुष्य आदि के एक औदारिक शरीर के ऊपर तथा अन्दर अनेक संमूर्छिम जीवों की स्थिति देखने में आती है। इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का समावेश असंगत नहीं है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त और मूर्त हैं, तथापि उनका लोकाकाश में समा जाने का कारण यह है कि पुद्गलों में सूक्ष्म रूप से परिणत होने की शक्ति है। जब ऐसा परिणमन होता है तब एक ही क्षेत्र में एक-दूसरे को व्याघात पहुँचाए बिना अनन्तानन्त परमाणु और अनन्तानन्त स्कन्ध स्थान पा सकते हैं, जैसे एक ही स्थान में हजारों दीपकों का प्रकाश व्याघात के बिना समा जाता है। मूर्त होने पर भी पुद्गल द्रव्य व्याघातशील तभी होता है जब वह स्थूलभाव में परिणत हो। सूक्ष्मत्वपरिणामदशा में वह न किसी को व्याघात पहुँचाता है और न स्वयं किसी से व्याघातित होता है। १२-१६।

कार्य द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण

गतिस्थित्युपग्रहो[1] धर्माधर्मयोरुपकारः। १७।

आकाशस्यावगाहः। १८।

---

१. 'गतिस्थित्युपग्रहौ' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है, तथापि भाष्य के अनुसार 'गतिस्थित्युपग्रहो' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा में तो 'गति-स्थित्युपग्रहौ' पाठ ही निर्विवाद रूप में प्रचलित है।

गति और स्थिति में निमित्त बनना क्रमशः धर्म और अधर्म द्रव्यों का कार्य है।

अवकाश में निमित्त होना आकाश का कार्य है।

धर्म, अधर्म और आकाश तीनों द्रव्य अमूर्त हैं अतः इन्द्रियगम्य नहीं हैं। इसलिए इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है। आगम-प्रमाण से इनका अस्तित्व मान्य है, फिर भी आगम-पोषक ऐसी युक्ति भी है जो उक्त द्रव्यों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। जगत् में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ हैं। गति और स्थिति इन दोनों द्रव्यों के परिणाम व कार्य हैं और उन्हीं से पैदा होते हैं अर्थात् गति और स्थिति के उपादान कारण जीव और पुद्गल ही हैं, तो भी कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित निमित्त कारण तो उपादान कारण से भिन्न ही सम्भव है। इसीलिए जीव एवं पुद्गल की गति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय की और स्थिति में निमित्त रूप से अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में धर्मास्तिकाय का लक्षण 'गतिशील पदार्थों की गति में निमित्त होना' कहा गया और अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'स्थिति में निमित्त होना'।

धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये चारों द्रव्य कहीं-न-कहीं स्थित हैं अर्थात् आधेय बनना या अवकाश प्राप्त करना उनका कार्य है। पर अपने में अवकाश (स्थान) देना आकाश का कार्य है। इसीलिए आकाश का लक्षण अवगाह प्रदान करना माना गया है।

प्रश्न—सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में आकाश द्रव्य तो माना गया है परन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यों को तो अन्य किसी ने नहीं माना, फिर जैन दर्शन में ही क्यों स्वीकार किया गया है ?

उत्तर—जड़ और चेतन द्रव्य की गतिशीलता तो अनुभव-सिद्ध है जो दृश्यादृश्य विश्व के विशिष्ट अंग हैं। कोई नियामक तत्त्व न रहे तो वे द्रव्य अपनी सहज गतिशीलता से अनन्त आकाश में कहीं भी चले जा सकते हैं। सचमुच यदि वे अनन्त आकाश में चले ही जायँ तो इस दृश्यादृश्य विश्व का नियत संस्थान कभी सामान्य रूप से एक-सा दिखाई नहीं देगा, क्योंकि इकाईरूप में अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव अनन्त परिमाण विस्तृत आकाश क्षेत्र में बे-रोकटोक संचार के कारण इस तरह पृथक् हो जायँगे जिनका पुनः मिलना और नियत सृष्टिरूप में दिखाई देना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। यही कारण है कि उक्त गतिशील द्रव्यों की गतिमर्यादा के नियामक तत्त्व को जैन दर्शन ने स्वीकार किया है। यही

तत्त्व धर्मास्तिकाय है। इस तत्त्व को स्वीकार कर लेने पर तुल्य युक्ति से स्थिति-मर्यादा के नियामक अधर्मास्तिकाय तत्त्व को भी जैन दर्शन ने स्वीकार कर लिया है।

दिग्द्रव्य के कार्यरूप पूर्व-पश्चिम आदि व्यवहार की उपपत्ति आकाश के द्वारा सम्भव होने से दिग्द्रव्य को आकाश से अलग मानना आवश्यक नहीं। किंतु धर्म-अधर्म द्रव्यों का कार्य आकाश से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश को गति और स्थिति का नियामक मानने पर वह अनन्त और अखंड होने से जड़ तथा चेतन द्रव्यों को अपने में सर्वत्र गति व स्थिति करने से रोक नहीं सकेगा और इस तरह नियत दृश्यादृश्य विश्व के संस्थान की अनुपपत्ति बनी ही रहेगी। इसलिए धर्म-अधर्म द्रव्यों को आकाश से भिन्न एवं स्वतन्त्र मानना न्यायसंगत है। जब जड़ और चेतन गतिशील हैं तब मर्यादित आकाशक्षेत्र में नियामक के बिना उनकी गति अपने स्वभाववश नहीं मानी जा सकती। इसलिए धर्म-अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व युक्तिसिद्ध है। १७-१८।

कार्य द्वारा पुद्गल का लक्षण

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्। १९।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च। २०।

शरीर, वाणी, मन, निःश्वास और उच्छ्वास ये पुद्गलों के उपकार (कार्य) हैं।

सुख, दुःख, जीवन और मरण भी पुद्गलों के उपकार हैं।

अनेक पौद्गलिक कार्यों में से कुछ का यहाँ निर्देश किया गया है, जो जीवों पर अनुग्रह-निग्रह करते हैं। औदारिक आदि सब शरीर पौद्गलिक ही हैं। कार्मणशरीर अतीन्द्रिय है, किन्तु वह औदारिक आदि मूर्त द्रव्य के सम्बन्ध से सुखदुःखादि विपाक देता है, जैसे जलादि के सम्बन्ध से धान। इसलिए वह भी पौद्गलिक ही है।

भाषा दो प्रकार की है—भावभाषा और द्रव्यभाषा। भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से प्राप्त होनेवाली एक विशिष्ट शक्ति है जो पुद्गल-सापेक्ष होने से पौद्गलिक है और ऐसी शक्तिमान् आत्मा से प्रेरित होकर वचनरूप में परिणत होनेवाले भाषावर्गणा के स्कन्ध ही द्रव्यभाषा है।

लब्धि तथा उपयोगरूप भावमन पुद्गलावलम्बी होने से पौद्गलिक है। ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के उदय से

मनोवर्गणा के जो स्कन्ध गुणदोषविवेचन, स्मरण आदि कार्याभिमुख आत्मा के अनुग्राहक अर्थात् सामर्थ्य के उत्तेजक होते हैं वे द्रव्यमन हैं। इसी प्रकार आत्मा द्वारा उदर से बाहर निकाला जानेवाला निःश्वासवायु (प्राण) और उदर के भीतर पहुँचाया जानेवाला उच्छ्वासवायु (अपान) ये दोनों पौद्गलिक हैं और जीवनप्रद होने से आत्मा के अनुग्रहकारी हैं।

भाषा, मन, प्राण और अपान इन सबका व्याघात और अभिभव देखने में आता है। इसलिए वे शरीर की भाँति पौद्गलिक ही हैं।

जीव का प्रीतिरूप परिणाम सुख है, जो सातावेदनीय कर्मरूप अन्तरंग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। परिताप ही दुःख है, जो असातावेदनीय कर्मरूप अन्तरंग कारण और द्रव्य आदि बाह्य निमित्तों से उत्पन्न होता है।

आयुकर्म के उदय से देहधारी जीव के प्राण और अपान का चलते रहना जीवित (जीवन) है और प्राणापान का उच्छेद मरण है। ये सब सुख, दुःख आदि पर्याय जीवों में पुद्गलों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे जीवों के प्रति पौद्गलिक उपकार कहे गए हैं। १९-२०।

कार्य द्वारा जीव का लक्षण

परस्परोपग्रहो जीवानाम्। २१।

परस्पर के कार्य में निमित्त (सहायक) होना जीवों का उपकार है।

पारस्परिक उपकार करना जीवों का कार्य है। इस सूत्र में इसी का निर्देश है। एक जीव हित-अहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। मालिक पैसे से नौकर का उपकार करता है और नौकर हित या अहित की बात के द्वारा या सेवा करके मालिक का उपकार करता है। आचार्य सत्कर्म का उपदेश करके उसके अनुष्ठान द्वारा शिष्य का उपकार करता है और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है। २१।

कार्य द्वारा काल का लक्षण

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य। २२।

वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर यहाँ उसके उपकार गिनाये गए हैं। अपने-अपने पर्याय की उत्पत्ति में स्वयमेव प्रवर्तमान धर्म आदि द्रव्यों को निमित्तरूप

से प्रेरणा करना वर्तना है। स्वजाति का त्याग किये बिना होनेवाला द्रव्य का अपरिस्पन्द पर्याय परिणाम है जो पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्तिरूप है। ऐसा परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादिरूप, पुद्गल में नील-पीत वर्णादिरूप और धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों में अगुरुलघु[1] गुण की हानि-वृद्धिरूप है। गति (परिस्पन्द) ही क्रिया है। ज्येष्ठत्व परत्व हैं और कनिष्ठत्व अपरत्व। यद्यपि वर्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के ही हैं, तथापि काल सबका निमित्त कारण होने से यहाँ उनका वर्णन काल के उपकाररूप से किया गया है। २२।

१. अगुरुलघु शब्द जैन परम्परा में तीन प्रसंगों पर भिन्न-भिन्न अर्थ में व्यवहृत है :

(क) आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि जो आठ गुण आठ कर्म से आवार्य (आवरणयोग्य) माने गए हैं उनमें एक अगुरुलघुत्व नामक आत्मगुण है जो गोत्रकर्म से आवार्य है। गोत्र-कर्म का कार्य जीवन में उच्च-नीच भाव आरोपित करना है। लोकव्यवहार में जीव जन्म, जातिकुल, देश, रूपरंग और अन्य अनेक निमित्तों से उच्च या नीच रूप में व्यवहृत होते हैं। परंतु सब आत्माएँ समान हैं, उनमें उच्च-नीचपन नहीं है। इस शक्ति और योग्यतामूलक साम्य को स्थिर रखनेवाले सहजगुण या शक्ति को अगुरुलघुत्व कहते हैं।

(ख) अगुरुलघु-नाम नाम-कर्म का एक भेद है। उसका कार्य आगे नामकर्म की चर्चा में आया है।

(ग) 'क' क्रम पर की गई व्याख्यावाला अगुरुलघुत्व केवल आत्मगत है, जब कि प्रस्तुत अगुरुलघु गुण सभी जीव-अजीव द्रव्यों पर लागू होता है। यदि द्रव्य स्वतः परिणमनशील हो तो किसी समय भी ऐसा क्यों नहीं होता कि वह द्रव्य अन्य द्रव्यरूप से भी परिणाम को प्राप्त करे? इसी प्रकार यह प्रश्न भी उठता है कि एक द्रव्य में निहित भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (गुण) अपने-अपने परिणाम उत्पन्न करती ही रहती हैं तो कोई एक शक्ति अपने परिणाम की नियतधारा की सीमा से बाहर जाकर अन्य शक्ति के परिणाम को क्यों नहीं पैदा करती? इसी तरह यह प्रश्न भी उठता है कि एक द्रव्य में जो अनेक शक्तियाँ स्वीकृत की गई हैं वे अपना नियत सहचरत्व छोड़कर बिखर क्यों नहीं जातीं? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर अगुरुलघु गुण से दिया जाता है। यह गुण सभी द्रव्यों में नियामक पद भोगता है, जिससे एक भी द्रव्य द्रव्यान्तर नहीं होता, एक भी गुण गुणान्तर का कार्य नहीं करता और नियत सहभावी परस्पर पृथक् नहीं होते।

ग्रन्थों के सुस्पष्ट आधार के अतिरिक्त भी मैंने अगुरुलघु गुण की अंतिम व्याख्या का विचार किया। मैं इसका समाधान ढूँढ़ रहा था। मुझसे जब कोई पूछता तब यह व्याख्या बतला देता। परंतु समाधान प्राप्त करने की जिज्ञासा तो रहती ही थी। प्रस्तुत टिप्पणी लिखते समय एकाएक स्व० पंडित गोपालदासजी बरैया की **जैनसिद्धान्तप्रवेशिका** पुस्तक मिल गई। इसमें श्रीयुत बरैयाजी ने भी यही विचार व्यक्त किया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इतने अंश में मेरे इस विचार को समर्थन प्राप्त हुआ। अतएव

पुद्गल के असाधारण पर्याय

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । २३ ।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्द्योतवन्तश्च । २४ ।

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं।

वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतवाले भी होते हैं।

बौद्ध दर्शन में पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव के अर्थ में किया जाता है तथा वैशेषिक आदि दर्शनों में पृथ्वी आदि मूर्त द्रव्यों को समान रूप से स्पर्श, रस आदि चतुर्गुण युक्त नहीं माना गया है किन्तु पृथ्वी को चतुर्गुण, जल को गन्धरहित त्रिगुण, तेज को गन्ध-रसरहित द्विगुण और वायु को मात्र स्पर्शगुण युक्त माना गया है। इसी तरह उन्होंने मन में स्पर्श आदि चारों गुण नहीं माने हैं। इस प्रकार बौद्ध आदि दर्शनों से मतभेद दर्शाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। इस सूत्र द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जैन दर्शन में जीव और पुद्गल तत्त्व भिन्न हैं। इसीलिए पुद्गल शब्द का प्रयोग जीव तत्त्व के लिए नहीं होता। इसी

मैंने यहाँ इसका उल्लेख किया है। विशिष्ट अभ्यासी अधिक अन्वेषण करें। स्व० बरैयाजी जैन तत्त्वज्ञान के असाधारण ज्ञाता थे।

ऊपर अगुरुलघु गुण के लिए दी गई युक्ति के समान ही एक युक्ति जैन परम्परा में मान्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के समर्थन में दी जाती है। वह तुलनात्मक दृष्टि से जानने योग्य है। जड़ और चेतन गतिशील होने के कारण आकाश में चाहे जहाँ न चले जायँ इसके लिए उक्त दोनों काय नियामक रूप से माने गए हैं और कहा गया है कि इनके कारण गतिशील द्रव्यों की गतिस्थिति लोकक्षेत्र तक मर्यादित रहती है। जिस प्रकार ये दोनों काय गतिस्थिति के नियामक माने गए हैं उसी प्रकार अगुरुलघु गुण को मानना चाहिए।

गतिस्थिति की मर्यादा के लिए गतिस्थितिशील पदार्थों का स्वभाव ही माना जाय या आकाश का ऐसा स्वभाव माना जाय और उक्त दोनों कायों को न मानें तो क्या असंगति है? ऐसा प्रश्न सहज उठता है। परन्तु यह विषय अहेतुवाद का होने से इसमें केवल सिद्ध का समर्थन करने की बात है। यह विषय हेतुवाद या तर्कवाद का नहीं है कि केवल तर्क से इन कायों को स्वीकार या अस्वीकार किया जाय। अगुरुलघु गुण के समर्थन के विषय में भी मुख्यरूप से अहेतुवाद का ही आश्रय लेना पड़ता है। हेतुवाद अन्त में अहेतुवाद की पुष्टि के लिए ही है, यह स्वीकार किये बिना नहीं चलता। इस प्रकार सब दर्शनों में कुछ विषय हेतुवाद और अहेतुवाद की मर्यादा में आ जाते हैं।

तरह पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये सभी पुद्गल के रूप में समान हैं अर्थात् ये सभी स्पर्श आदि चतुर्गुण से युक्त हैं। जैन-दर्शन में मन भी पौद्गलिक होने से स्पर्श आदि गुणवाला ही है। स्पर्श आठ प्रकार का है—कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। रस पाँच हैं—कड़ुवा, चरपरा, कसैला, खट्टा और मीठा। गन्ध दो हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पाँच हैं—काला, नीला (हरा), लाल, पीला और सफेद। इस तरह स्पर्श आदि के कुल बीस भेद हैं, पर इनमें से प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद तरतमभाव से होते हैं। मृदु तो एक गुण है, पर प्रत्येक मृदु वस्तु की मृदुता में कुछ-न-कुछ तरतमता होती है। इस कारण सामान्य रूप से मृदुत्व का स्पर्श एक होने पर भी तारतम्य के अनुसार उसके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं। यही बात कठिन आदि अन्य स्पर्श तथा रस आदि अन्य गुणों के विषय में है।

शब्द कोई गुण नहीं है, जैसे कि वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनों में माना जाता है। वह भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक विशिष्ट प्रकार का परिणाम है। निमित्त-भेद से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह प्रयोगज है और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है वह वैस्रसिक है, जैसे बादलों की गर्जना। प्रयोगज शब्द के छः प्रकार हैं—१. भाषा—मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाएँ; २. तत—चमड़े से लपेटे हुए वाद्यों का अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द; ३. वितत—तारवाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द; ४. घन—झालर, घंट आदि का शब्द; ५. शुषिर—फूँककर बजाये जानेवाले शंख, बाँसुरी आदि का शब्द; ६. संघर्ष—लकड़ी आदि के घर्षण से उत्पन्न शब्द।

परस्पर आश्लेषरूप बन्ध के भी प्रायोगिक और वैस्रसिक ये दो भेद हैं। जीव और शरीर का सम्बन्ध तथा लाख और लकड़ी का सम्बन्ध प्रयत्नसापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का प्रयत्न-निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्रसिक बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य तथा आपेक्षिक ये दो-दो भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनों एक ही वस्तु में अपेक्षा-भेद से घटित न हों वे अन्त्य और जो घटित हों वे आपेक्षिक हैं। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व और जगद्-व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योंकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओं में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घटित नहीं होता। द्व्यणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों के सूक्ष्मत्व व स्थूलत्व दोनों आपेक्षिक हैं, जैसे आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व। आँवला बिल्व से छोटा है अतः सूक्ष्म है और बिल्व आँवले से बड़ा है अतः स्थूल

है। परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षा स्थूल है और वही बिल्व कूष्माण्ड की अपेक्षा सूक्ष्म है। इस तरह जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु में सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व दोनों विरुद्ध पर्याय होते हैं, वैसे अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में नहीं होते।

संस्थान इत्थंत्व और अनित्थंत्व दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके वह इत्थंत्वरूप है और जिसकी तुलना न की जा सके वह अनित्थंत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान (रचना-विशेष) अनित्थंत्वरूप है, क्योंकि अनियत होने से किसी एक प्रकार से उसका निरूपण नहीं किया जा सकता और अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्वरूप है, जैसे गेंद, सिंघाड़ा आदि। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, परिमण्डल (वलयाकार) आदि रूप में इत्थंत्व-रूप संस्थान के अनेक भेद हैं।

एकत्व अर्थात् स्कन्धरूप में परिणत पुद्‌गलपिण्ड का विश्लेष (विभाग) होना भेद है। इसके पाँच प्रकार हैं—१. औत्करिक—चीरे या खोदे जाने पर होने वाला लकड़ी, पत्थर आदि का भेदन; २. चौर्णिक—कण-कण रूप में चूर्ण हो जाना, जैसे जौ आदि का सत्तू, आटा आदि; ३. खण्ड—टुकड़े-टुकड़े होकर टूट जाना, जैसे घड़े का कपालादि; ४. प्रतर—परतें या तहें निकलना, जैसे अभ्रक, भोजपत्र आदि; ५. अनुतट—छाल निकलना, जैसे बाँस, ईख आदि।

तम अर्थात् अन्धकार, जो देखने में रुकावट डालनेवाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम-विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं—दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़नेवाला बिम्ब जिसमें मुखादि का वर्ण, आकार आदि ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है और अन्य अस्वच्छ वस्तुओं पर पड़नेवाली परछाई प्रतिबिम्बरूप छाया है।

सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण (शीतल) प्रकाश उद्योत है।

स्पर्श आदि तथा शब्द आदि उपर्युक्त सभी पर्याय पुद्‌गल के कार्य होने से पौद्‌गलिक माने जाते हैं।

सूत्र २३ और २४ को अलग करके यह बतलाया गया है कि स्पर्श आदि पर्याय परमाणु और स्कन्ध दोनों में होते हैं, परन्तु शब्द, बन्ध आदि पर्याय केवल स्कन्ध में होते हैं। सूक्ष्मत्व यद्यपि परमाणु व स्कन्ध दोनों का पर्याय है, तथापि उसका परिगणन स्पर्श आदि के साथ न करके शब्द आदि के साथ किया गया है वह इसलिए कि प्रतिपक्षी स्थूलत्व पर्याय के साथ उसके कथन का औचित्य है। २३-२४।

पुद्गल के मुख्य प्रकार

अणवः स्कन्धाश्च । २५ ।

पुद्गल परमाणु और स्कन्धरूप हैं ।

पुद्गल द्रव्य इकाईरूप में अनन्त हैं और उनका वैविध्य भी अपरिमित है, तथापि आगे के दो सूत्रों में पौद्गलिक परिणाम की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण दर्शाने के लिए यहाँ तदुपयोगी परमाणु और स्कन्ध ये दो प्रकार संक्षेप में निर्दिष्ट हैं । सम्पूर्ण पुद्गलराशि का इन दो प्रकारों में समावेश हो जाता है ।

जो पुद्गल द्रव्य कारणरूप है पर कार्यरूप नहीं है, वह अन्त्य द्रव्य है । ऐसा द्रव्य परमाणु है, जो नित्य, सूक्ष्म और किसी एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त होता है । ऐसे परमाणु द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता । उसका ज्ञान आगम या अनुमान से साध्य है । परमाणु का अनुमान कार्यहेतु से माना गया है । जो-जो पौद्गलिक कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सकारण हैं । इसी प्रकार जो अदृश्य अन्तिम कार्य होगा, उसका भी कारण होना चाहिए, वही कारण परमाणु द्रव्य है । उसका कारण अन्य द्रव्य न होने से उसे अन्तिम कारण कहा गया है । परमाणु द्रव्य का कोई विभाग नहीं होता और न हो सकता है। इसलिए उसका आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही होता है। परमाणु द्रव्य अबद्ध (असमुदायरूप) होता है ।

स्कन्ध दूसरे प्रकार का पुद्गल द्रव्य है । सभी स्कन्ध बद्ध—समुदायरूप होते हैं और वे अपने कारणद्रव्य की अपेक्षा से कार्यद्रव्यरूप तथा कार्यद्रव्य की अपेक्षा से कारणद्रव्यरूप हैं, जैसे द्विप्रदेश आदि स्कन्ध परमाणु आदि के कार्य हैं और त्रिप्रदेश आदि के कारण हैं । २५ ।

स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण

सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते । २६ ।

भेदादणुः । २७ ।

संघात से, भेद से और संघात-भेद दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ।

अणु भेद से ही उत्पन्न होता है ।

स्कन्ध (अवयवी) द्रव्य की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है । कोई स्कन्ध संघात (एकत्वपरिणति) से उत्पन्न होता है, कोई भेद से और कोई एक साथ भेद-संघात दोनों निमित्तों से । जब अलग-अलग स्थित दो परमाणुओं के मिलने पर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है तब वह संघातजन्य कहलाता है । इसी प्रकार तीन,

चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त परमाणुओं के मिलने मात्र से त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश, संख्यातप्रदेश, असंख्यातप्रदेश, अनन्तप्रदेश तथा अनन्तानन्त-प्रदेश स्कन्ध बनते हैं जो सभी संघातजन्य हैं। किसी बड़े स्कन्ध के टूटने मात्र से जो छोटे-छोटे स्कन्ध होते हैं वे भेदजन्य हैं। ये भी द्विप्रदेश से अनन्तानन्तप्रदेश तक होते हैं। जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर उसके अवयव के साथ उसी समय दूसरा कोई द्रव्य मिल जाने से नया स्कन्ध बनता है तब वह स्कन्ध भेद-संघातजन्य कहलाता है। ऐसे स्कन्ध भी द्विप्रदेश से लेकर अनन्तानन्तप्रदेश तक हो सकते हैं। दो से अधिक प्रदेशवाले स्कन्ध जैसे तीन, चार आदि अलग-अलग परमाणुओं के मिलने से भी त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश आदि स्कन्ध होते हैं और द्विप्रदेश स्कन्ध के साथ एक परमाणु मिलने से भी त्रिप्रदेश तथा द्विप्रदेश या त्रिप्रदेश स्कन्ध के साथ अनुक्रम से दो या एक परमाणु मिलने से भी चतुष्प्रदेश स्कन्ध बनता है।

अणु द्रव्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति में दो द्रव्यों का संघात सम्भव नहीं। यों तो परमाणु नित्य माना गया है, तथापि यहाँ उसकी उत्पत्ति पर्यायदृष्टि से कही गई है, अर्थात् परमाणु द्रव्यरूप में तो नित्य ही है, पर पर्यायदृष्टि से जन्य भी है। परमाणु का कभी स्कन्ध का अवयव बनकर सामुदायिक अवस्था में रहना और कभी स्कन्ध से अलग होकर विशकलित अवस्था में रहना ये सभी परमाणु के पर्याय (अवस्थाविशेष) हैं। विशकलित अवस्था स्कन्ध के भेद से ही उत्पन्न होती है। इसलिए यहाँ भेद से अणु की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि विशकलित अवस्थावाला परमाणु भेद का कार्य है, शुद्ध परमाणु नहीं। २६-२७।

अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष बनने में हेतु

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः। २८।

भेद और संघात से ही चाक्षुष स्कन्ध बनते हैं।

अचाक्षुष स्कन्ध निमित्त पाकर चाक्षुष बन सकता है, इसी का निर्देश इस सूत्र में है।

पुद्गल के परिणाम विविध हैं, अतः कोई पुद्गल-स्कन्ध अचाक्षुष (चक्षु से अग्राह्य) होता है तो कोई चाक्षुष (चक्षु-ग्राह्य)। जो स्कन्ध पहले सूक्ष्म होने से अचाक्षुष हो वह निमित्तवश सूक्ष्मत्व परिणाम छोड़कर बादर (स्थूल) परिणाम-विशिष्ट बनने से चाक्षुष हो सकता है। उस स्कन्ध के ऐसा होने में भेद तथा संघात दोनों हेतु अपेक्षित हैं। जब किसी स्कन्ध में सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति

से स्थूलत्व परिणाम उत्पन्न होता है तब कुछ नये अणु उस स्कन्ध में मिल जाते हैं। मिलते ही नहीं, कुछ अणु उस स्कन्ध से अलग भी हो जाते हैं। सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्तिपूर्वक स्थूलत्व परिणाम की उत्पत्ति न केवल संघात अर्थात् अणुओं के मिलने मात्र से होती है और न केवल भेद अर्थात् अणुओं के अलग होने मात्र से। स्थूलत्व (बादरत्व) परिणाम के अतिरिक्त कोई स्कन्ध चाक्षुष होता ही नहीं। इसीलिए यहाँ नियमपूर्वक कहा गया है कि चाक्षुष स्कन्ध भेद और संघात दोनों से बनता है।

'भेद' शब्द के दो अर्थ हैं—१. स्कन्ध का टूटना अर्थात् उसमें से अणुओं का अलग होना और २. पूर्व-परिणाम निवृत्त होने से दूसरे परिणाम का उत्पन्न होना। इनमें से पहले अर्थ के अनुसार ऊपर सूत्रार्थ लिखा गया है। दूसरे अर्थ के अनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—जब कोई सूक्ष्म स्कन्ध नेत्र-ग्राह्य बादर परिणाम को प्राप्त करता है, अर्थात् अचाक्षुष न रहकर चाक्षुष बनता है, तब उसके ऐसा होने में स्थूल परिणाम अपेक्षित है जो विशिष्ट अनन्ताणु संख्या (संघात) सापेक्ष है। केवल सूक्ष्मत्वरूप पूर्व-परिणाम की निवृत्तिपूर्वक नवीन स्थूलत्व-परिणाम चाक्षुष बनने का कारण नहीं और केवल विशिष्ट अनन्त संख्या भी चाक्षुष बनने में कारण नहीं, किन्तु परिणाम (भेद) और उक्त संख्या-संघात दोनों ही स्कन्ध के चाक्षुष बनने में कारण हैं।

यद्यपि सूत्रगत 'चाक्षुष' पद से तो चक्षु-ग्राह्य स्कन्ध का ही बोध होता है, तथापि यहाँ चक्षु पद से समस्त इन्द्रियों का लाक्षणिक बोध अभिप्रेत है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि सभी अतीन्द्रिय स्कन्धों के इन्द्रियग्राह्य बनने में भेद और संघात दो ही हेतु अपेक्षित हैं। पौद्गलिक परिणाम की अमर्यादित विचित्रता के कारण जैसे पहले के अतीन्द्रिय स्कन्ध भी बाद में भेद तथा संघात-रूप निमित्त से इन्द्रियग्राह्य बन जाते हैं, वैसे ही स्थूल स्कन्ध सूक्ष्म बन जाते हैं। इतना ही नहीं, पारिणामिक विचित्रता के कारण अधिक इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य स्कन्ध अल्प इन्द्रियग्राह्य बन जाता है। जैसे लवण, हिंगु आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन, रसना और घ्राण इन चारों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं, परन्तु जल में गल जाने से केवल रसना और घ्राण इन दो इन्द्रियों से ही ग्रहण हो सकते हैं।

प्रश्न—स्कन्ध के चाक्षुष बनने में दो कारण बतलाये गए, पर अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण क्यों नहीं बतलाये गए ?

उत्तर—सूत्र २६ में सामान्य रूप से स्कन्ध मात्र की उत्पत्ति के तीन हेतुओं का कथन है। यहाँ तो केवल विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति के अर्थात् अचाक्षुष से

चाक्षुष बनने के हेतुओं का विशेष कथन हुआ है। अतः उस सामान्य विधान के अनुसार अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के तीन ही हेतु होते हैं। सारांश यह है कि सूत्र २६ के अनुसार भेद, संघात और भेद-संघात इन तीनों हेतुओं से अचाक्षुष स्कन्ध बनते हैं। २८।

'सत्' की व्याख्या

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। २९।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है वही सत् है।

'सत्' के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों में मतभेद है। एक दर्शन[1] सम्पूर्ण सत् पदार्थ (ब्रह्म) को केवल ध्रुव (नित्य) ही मानता है। दूसरा दर्शन[2] पदार्थ को निरन्वय क्षणिक (मात्र उत्पाद-विनाशशील) मानता है। तीसरा दर्शन[3] चेतनतत्त्वरूप सत् को तो केवल ध्रुव (कूटस्थनित्य) और प्रकृति तत्त्व-रूप सत् को परिणामिनित्य (नित्यानित्य) मानता है। चौथा दर्शन[4] अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु, काल, आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थनित्य और घट-पट आदि कुछ सत् को मात्र उत्पाद-व्ययशील (अनित्य) मानता है। परन्तु जैनदर्शन का सत् के स्वरूप से सम्बद्ध मन्तव्य इन मतों से भिन्न है और वही इस सूत्र का विषय है।

जैनदर्शन के अनुसार जो सत् (वस्तु) है वह पूर्ण रूप से केवल कूटस्थ-नित्य या केवल निरन्वयविनाशी या उसका अमुक भाग कूटस्थनित्य और अमुक भाग परिणामिनित्य अथवा उसका कोई भाग मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नहीं हो सकता। इसके अनुसार चेतन और जड़, अमूर्त और मूर्त, सूक्ष्म और स्थूल, सभी सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरूप हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं। एक अंश तो तीनों कालों में शाश्वत रहता है और दूसरा अंश सदा अशाश्वत होता है। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद-व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है। इन दो अंशों में से किसी एक की ओर दृष्टि जाने और दूसरे की ओर न जाने से वस्तु केवल स्थिररूप या केवल अस्थिररूप प्रतीत होती है। परन्तु दोनों अंशों पर दृष्टि डालने से ही वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप

---

१. वेदान्त—औपनिषदिक शाङ्करमत।

२. बौद्ध। ३. सांख्य।

४. न्याय, वैशेषिक।

ज्ञात हो सकता है इसलिए दोनों दृष्टियों के अनुसार ही इस सूत्र में सत् (वस्तु) का स्वरूप प्रतिपादित है । २९ ।

विरोध-परिहार एवं परिणामिनित्यत्व का स्वरूप

तद्भावाव्ययं नित्यम् । ३० ।

जो अपने भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वही नित्य है ।

पिछले सूत्र में कहा गया कि एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है अर्थात् स्थिरास्थिर (उभयरूप) है। परन्तु प्रश्न होता है कि यह कैसे सम्भव है ? जो स्थिर है वह अस्थिर कैसे ? जो अस्थिर है वह स्थिर कैसे ? एक ही वस्तु में स्थिरत्व और अस्थिरत्व दोनों अंश शीत-उष्ण की भाँति परस्परविरुद्ध होने से एक ही समय में हो नहीं सकते । इसलिए क्या सत् की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक व्याख्या विरुद्ध नहीं है ? इस विरोध के परिहारार्थ जैन दर्शन सम्मत नित्यत्व का स्वरूप प्रतिपादित करना ही इस सूत्र का उद्देश्य है ।

यदि कुछ अन्य दर्शनों की भाँति जैन दर्शन भी वस्तु का स्वरूप यह मानता कि 'किसी भी प्रकार से परिवर्तन को प्राप्त किये बिना ही वस्तु सदा एक रूप में अवस्थित रहती है' तो इस कूटस्थनित्यत्व में अनित्यत्व सम्भव न होने से एक ही वस्तु में स्थिरत्व और अस्थिरत्व का विरोध आता । इसी प्रकार अगर जैन दर्शन वस्तु को मात्र क्षणिक अर्थात् प्रति क्षण उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली मानकर उसका कोई स्थायी आधार न मानता तो भी उत्पाद-व्ययशील अनित्यपरिणाम में नित्यत्व सम्भव न होने से उक्त विरोध आता । परन्तु जैन दर्शन किसी वस्तु को केवल कूटस्थनित्य या परिणामिमात्र न मानकर परिणामिनित्य मानता है। इसलिए सभी तत्त्व अपनी-अपनी जाति में स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) प्राप्त करते हैं । अतएव प्रत्येक वस्तु में मूल जाति (द्रव्य) की अपेक्षा से ध्रौव्य और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय के घटित होने में कोई विरोध नहीं है । जैन दर्शन का परिणामिनित्यत्ववाद सांख्य दर्शन की तरह केवल जड़ (प्रकृति) तक ही सीमित नहीं है, किन्तु वह चेतन तत्त्व पर भी घटित होता है ।

सब तत्त्वों में व्यापक रूप से परिणामिनित्यत्ववाद को स्वीकार करने के लिए मुख्य साधक प्रमाण अनुभव है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कोई ऐसा तत्त्व अनुभव में नहीं आता जो केवल अपरिणामी हो या मात्र परिमाणरूप हो । बाह्य और आभ्यन्तरिक सभी वस्तुएँ परिणामिनित्य ही प्रतीत होती हैं । यदि सभी वस्तुएँ मात्र क्षणिक हों तो प्रत्येक क्षण में नई-नई वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होने तथा उसका

कोई स्थायी आधार न होने से उस क्षणिक परिणाम-परम्परा में सजातीयता का कभी अनुभव नहीं होगा अर्थात् पहले देखी हुई वस्तु को फिर से देखने पर जो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह न होगा, क्योंकि जैसे प्रत्यभिज्ञान के लिए उसकी विषयभूत वस्तु का स्थिरत्व आवश्यक है, वैसे ही द्रष्टा आत्मा का स्थिरत्व भी आवश्यक है। इसी प्रकार यदि जड़ या चेतन तत्त्व मात्र निर्विकार हो तो इन दोनों तत्त्वों के मिश्रणरूप जगत् में प्रतिक्षण दिखाई देनेवाली विविधता कभी उत्पन्न न होगी ! अतः परिणामिनित्यत्ववाद को जैन दर्शन युक्ति-संगत मानता है।

व्याख्यान्तर से सत् का नित्यत्व

तद्भावाव्ययं नित्यम्

सत् अपने भाव से च्युत न होने से नित्य है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना ही वस्तुमात्र का स्वरूप है और यही सत् है। सत्-स्वरूप नित्य है अर्थात् वह तीनों कालों में एक-सा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु में या वस्तुमात्र में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हों और कभी न हों। प्रत्येक समय में उत्पादादि तीनों अंश अवश्य होते हैं। यही सत् का नित्यत्व है।

अपनी-अपनी जाति को न छोड़ना सभी द्रव्यों का ध्रौव्य है और प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न परिणामरूप से उत्पन्न और नष्ट होना उत्पाद-व्यय है। ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय का चक्र द्रव्यमात्र में सदा चलता रहता है। उस चक्र में से कभी कोई अंश लुप्त नहीं होता, यही इस सूत्र में कहा गया है। पूर्व सूत्र में ध्रौव्य का कथन द्रव्य के अन्वयी (स्थायी) अंश मात्र को लेकर है और इस सूत्र में नित्यत्व का कथन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों अंशों के अविच्छिन्नत्व को लेकर है। यही पूर्व सूत्र में कथित ध्रौव्य और इस सूत्र में कथित नित्यत्व में अन्तर है। ३०।

अनेकान्त-स्वरूप का समर्थन

अर्पितानर्पितसिद्धेः। ३१।

प्रत्येक वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योंकि अर्पित—अर्पणा अर्थात् अपेक्षा-विशेष से और अनर्पित—अनर्पणा अर्थात् अपेक्षान्तर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है।

परस्पर विरुद्ध किन्तु प्रमाण-सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु में कैसे हो सकता है, तथा विद्यमान अनेक धर्मों में से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन क्यों होता है, यही इस सूत्र में दर्शाया गया है।

'आत्मा सत् है' इस प्रतीति या उक्ति में सत्त्व का जो भान होता है वह सब प्रकार से घटित नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो आत्मा चेतना आदि स्व-रूप की भाँति घटादि पर-रूप से भी सत् सिद्ध होगी अर्थात् उसमें चेतना की तरह घटत्व भी भासमान होगा जिससे उसका विशिष्ट स्वरूप सिद्ध ही न होगा। विशिष्ट स्वरूप का अर्थ ही यह है कि वह स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् है। इस प्रकार अपेक्षा-विशेष से सत्त्व और अपेक्षान्तर से असत्त्व ये दोनों धर्म आत्मा में सिद्ध होते हैं। सत्त्व-असत्त्व की भाँति नित्यत्व-अनित्यत्व धर्म भी उसमें सिद्ध हैं। द्रव्य (सामान्य) दृष्टि से नित्यत्व और पर्याय (विशेष) दृष्टि से अनित्यत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले, परन्तु अपेक्षा-भेद से सिद्ध और भी एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मों का समन्वय आत्मा आदि सब वस्तुओं में अबाधित है। इसलिए सभी पदार्थ अनेकधर्मात्मक माने जाते हैं।

व्याख्यान्तर

अर्पितानर्पितसिद्धेः

प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है, क्योंकि अर्पणा और अनर्पणा से अर्थात् विवक्षा के अनुसार प्रधान एवं अप्रधान भाव से व्यवहार की सिद्धि (उपपत्ति) होती है।

अपेक्षाभेद से सिद्ध अनेक धर्मों में से भी कभी किसी एक धर्म द्वारा और कभी उसके विरोधी दूसरे धर्म द्वारा वस्तु का व्यवहार होता है जो अप्रामाणिक या बाधित नहीं है, क्योंकि विद्यमान सब धर्म भी एक साथ विवक्षित नहीं होते। प्रयोजनानुसार कभी एक की और कभी दूसरे की विवक्षा होती है। जिस समय जिसकी विवक्षा हो उस समय वह प्रधान और दूसरा अप्रधान होता है। जो कर्म का कर्ता है वही उसके फल का भोक्ता होता है। इस कर्म और तज्जन्य फल के सामान्याधिकरण्य को दिखाने के लिए आत्मा में द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व की विवक्षा की जाती है। उस समय उसका पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित न होने से गौण होता है, परन्तु कर्तृत्वकाल की अपेक्षा भोक्तृत्व काल में आत्मा की अवस्था में परिवर्तन हो जाता है। इस कर्मकालीन और फलकालीन अवस्थाभेद को दिखाने के लिए जब पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है तब द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व प्रधान नहीं रहता। इस

प्रकार विवक्षा और अविवक्षा के कारण कभी आत्मा को नित्य कहा जाता है और कभी अनित्य। जब दोनों धर्मों की विवक्षा एक साथ की जाती है तब दोनों का युगपत् प्रतिपादन करनेवाला वाचक शब्द न होने के कारण आत्मा को अवक्तव्य कहा जाता है। विवक्षा, अविवक्षा और सहविवक्षा के आश्रित उक्त तीन वाक्य-रचनाओं के पारस्परिक विविध मिश्रण से और भी चार वाक्य-रचनाएँ बनती हैं। जैसे नित्य-अनित्य, नित्य-अवक्तव्य, अनित्य-अवक्तव्य और नित्य-अनित्य-अवक्तव्य। इन सात वाक्य-रचनाओं को सप्तभंगी कहा जाता है। इनमें प्रथम तीन वाक्य और इनमें भी दो वाक्य मूलभूत हैं। जैसे भिन्न-भिन्न दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व और अनित्यत्व को लेकर विवक्षावश किसी एक वस्तु में सप्तभंगी घटित की जा सकती है, वैसे और भी भिन्न-भिन्न दृष्टिसिद्ध किन्तु परस्पर विरुद्ध दीखनेवाले सत्त्व असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, वाच्यत्व-अवाच्यत्व आदि धर्मयुग्मों को लेकर सप्तभंगी घटित करनी चाहिए। इस प्रकार एक ही वस्तु अनेकधर्मात्मक एवं अनेक व्यवहारों की विषय मानी गई है। ३१।

पौद्गलिक बन्ध के हेतु

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। ३२।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति उसके अवयवभूत परमाणु आदि के पारस्परिक संयोग मात्र से नहीं होती। इसके लिए संयोग के अतिरिक्त और भी कुछ अपेक्षित होता है। यही इस सूत्र में दर्शाया गया है। अवयवों के पारस्परिक संयोग के उपरान्त उनमें स्निग्धत्व (चिकनापन), रूक्षत्व (रूखापन) गुण का होना भी आवश्यक है। जब स्निग्ध और रूक्ष अवयव आपस में मिलते हैं तब उनका बन्ध (एकत्वपरिणाम) होता है, इसी बन्ध से द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं।

स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का श्लेष सदृश और विसदृश दो प्रकार का होता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ श्लेष सदृश श्लेष है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ श्लेष विसदृश श्लेष है। ३२।

बन्ध के सामान्य विधान के अपवाद

न जघन्यगुणानाम्। ३३।
गुणसाम्ये सदृशानाम्। ३४।
द्व्यधिकादिगुणानां तु। ३५।

जघन्य गुण अर्थात् अंशवाले स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

समान अंश होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध के साथ स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष के साथ रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

दो अंश अधिकवाले आदि अवयवों का बन्ध होता है।

इन सूत्रों में से पहला सूत्र बन्ध का निषेधक है। इसके अनुसार जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश जघन्य हो उन जघन्यगुण परमाणुओं का पारस्परिक बन्ध नहीं होता। इस निषेध से यह फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्टसंख्यक अंशोंवाले स्निग्ध व रूक्ष सभी अवयवों का पारस्परिक बन्ध हो सकता है। परन्तु इसमें भी अपवाद है, जिसका वर्णन आगे के सूत्र में है। उसके अनुसार समान अंशवाले सदृश अवयवों का पारस्परिक बन्ध नहीं होता। इससे समान अंशोंवाले स्निग्ध तथा रुक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नहीं बनता। इस निषेध का भी फलित अर्थ यह है कि असमान गुणवाले सदृश अवयवों का बन्ध होता है। इस फलित अर्थ का संकोच करके तीसरे सूत्र में सदृश अवयवों के असमान अंशों की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत की गई है। तदनुसार असमान अंशवाले सदृश अवयवों में भी जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हो तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध होता है। इसलिए यदि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व केवल एक अंश अधिक हो तो उन दो सदृश अवयवों का बन्ध नहीं होता।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत तीनों सूत्रों में पाठभेद नहीं है, पर अर्थभेद अवश्य है। अर्थभेद की दृष्टि से ये तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. जघन्यगुण परमाणु एक संख्यावाला हो, तब बन्ध का होना या न होना, २. सूत्र ३५ के 'आदि' पद से तीन आदि संख्या ली जाय या नहीं, ३. सूत्र ३५ का बन्धविधान केवल सदृश अवयवों के लिए माना जाय अथवा नहीं।

१. भाष्य और वृत्ति के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुणवाले हों तभी उनका बन्ध निषिद्ध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्यगुण हो और दूसरा जघन्य-गुण न हो तभी उनका बन्ध होता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार जघन्यगुण युक्त दो परमाणुओं के पारस्परिक बन्ध की तरह एक जघन्यगुण परमाणु का दूसरे अजघन्यगुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।

२. भाष्य और वृत्ति के अनुसार सूत्र ३५ के 'आदि' पद का तीन आदि संख्या अर्थ लिया जाता है। अतएव उसमें किसी एक अवयव से दूसरे अवयव में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार तथा बढ़ते-बढ़ते संख्यात, असंख्यात,

अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है; केवल एक अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता। परन्तु सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार और संख्यात, असंख्यात, अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता।

३. भाष्य और वृत्ति के अनुसार सूत्र ३५ में दो, तीन आदि अंशों के अधिक होने पर बन्ध का विधान सदृश अवयवों पर ही लागू होता है, परन्तु दिगम्बर व्याख्याओं में वह विधान सदृश की भाँति असदृश परमाणुओं के बन्ध पर भी लागू होता है।

इस अर्थभेद के कारण दोनों परम्पराओं में बन्ध विषयक जो विधि-निषेध फलित होता है वह आगे के कोष्ठकों से स्पष्ट है :

भाष्य-वृत्त्यनुसार

गुण-अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२. जघन्य + एकाधिक	नहीं	है
३. जघन्य + द्व्यधिक	है	है
४. जघन्य + त्र्यादि अधिक	है	है
५. जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	है
६. जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७. जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों के अनुसार

गुण-अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२. जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
३. जघन्य + द्व्यधिक	नहीं	नहीं
४. जघन्य + त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५. जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६. जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७. जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

स्निग्धत्व और रूक्षत्व दोनों स्पर्श-विशेष हैं। ये अपनी-अपनी जाति की अपेक्षा एक-एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अंशों का अन्तर रहता है, जैसे बकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व में। स्निग्धत्व दोनों में ही होता है परन्तु एक में अत्यल्प होता है और दूसरे में अत्यधिक। तरतमतावाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणामों में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो उसे जघन्य अंश कहते हैं। जघन्य को छोड़कर शेष सभी जघन्येतर कहे जाते हैं। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। सबसे अधिक स्निग्धत्व परिणाम उत्कृष्ट है और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच के सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुना अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाय तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंशपरिमित मानना चाहिए। दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त और एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम हैं।

यहाँ सदृश का अर्थ है स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध होना और विसदृश का अर्थ है स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होना। एक अंश जघन्य है और उससे एक अधिक अर्थात् दो अंश एकाधिक हैं। दो अंश अधिक हों तब द्व्यधिक और तीन अंश अधिक हों तब त्र्यधिक। इसी तरह चार अंश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त-अधिक कहलाता है। सम अर्थात् समसंख्या। दोनों ओर अंशों की संख्या समान हो तब वह सम है। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का द्व्यधिक जघन्येतर चार अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का त्र्यधिक जघन्येतर पाँच अंश हैं और चतुरधिक जघन्येतर छः अंश हैं। इसी प्रकार तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्व्यधिक और त्र्यादि अधिक जघन्येतर होते हैं। ३३–३५।

परिणाम का स्वरूप

बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ[1]। ३६।

बन्ध के समय सम और अधिक गुण, सम तथा हीन गुण के परिणमन करानेवाले होते हैं।

---

१. दिगम्बर परम्परा में 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' सूत्रपाठ है। तदनुसार एक सम का दूसरे सम को अपने स्वरूप में मिलाना इष्ट नहीं है। केवल अधिक का हीन को अपने स्वरूप में मिला लेना ही इष्ट है।

प्रश्न—बन्ध के विधि और निषेध का वर्णन तो हुआ, किन्तु जिन सदृश परमाणुओं का या विसदृश परमाणुओं का बन्ध होता है उनमें कौन किसको परिणत करता है ?

उत्तर—समांश स्थल में सदृश बन्ध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है, जैसे दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है। परंतु अधिकांश स्थल में अधिकांश ही हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकता है, जैसे पंचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने रूप में परिणत करता है अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के सम्बन्ध से पाँच अंश परिमाण हो जाता है। इसी प्रकार पाँच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्व-स्वरूप में मिला लेता है अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व में बदल जाता है। रूक्षत्व अधिक हो तो वह अपने से कम स्निग्धत्व को अपने रूप का बना लेता है। ३६।

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। ३७।

द्रव्य गुण-पर्यायवाला है।

द्रव्य का उल्लेख पहले अनेक बार आया है, इसलिए उसका लक्षण यहाँ बतलाया गया है।

जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय-समय में निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता रहता है अर्थात् विविध परिणामों को प्राप्त करता रहता है। द्रव्य में परिणाम-जनन की शक्ति ही उसका गुण है और गुणजन्य परिणाम पर्याय है। गुण कारण है और पर्याय कार्य। एक द्रव्य में शक्ति-रूप अनन्त गुण होते हैं जो वस्तुतः आश्रयभूत द्रव्य से या परस्पर में अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण-शक्ति के भिन्न-भिन्न समयों में होनेवाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंशभूत शक्तियाँ उत्पन्न तथा विनष्ट न होने से नित्य अर्थात् अनादि-अनन्त हैं, परन्तु सभी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होते रहने से व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि-सान्त हैं और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं। कारणभूत एक शक्ति के द्वारा द्रव्य में होनेवाला त्रैकालिक पर्याय-प्रवाह भी सजातीय है। द्रव्य में अनन्त शक्तियों से तज्जन्य अनन्त पर्याय-प्रवाह भी एक साथ चलते रहते हैं। भिन्न-

भिन्न शक्तिजन्य विजातीय पर्याय एक समय में एक द्रव्य में होते हैं, परन्तु एक शक्तिजन्य भिन्न-भिन्न समयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य में एक समय में नहीं होते।

आत्मा और पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः चेतना आदि तथा रूप आदि अनन्त गुण हैं और ज्ञान-दर्शनरूप विविध उपयोग आदि तथा नील, पीत आदि विविध अनन्त पर्याय हैं। आत्मा चेतनाशक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न उपयोगरूप में और पुद्गल रूपशक्ति द्वारा भिन्न भिन्न नील, पीत आदि के रूप में परिणत होता रहता है। चेतनाशक्ति आत्म द्रव्य से और आत्मगत अन्य शक्तियों से अलग नहीं की जा सकती। इसी प्रकार रूपशक्ति पुद्गल द्रव्य से तथा पुद्गलगत अन्य शक्तियों से पृथक् नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न समयवर्ती विविध उपयोगों के त्रैकालिक प्रवाह की कारणभूत एक चेतना-शक्ति है और उस शक्ति का कार्यभूत पर्याय-प्रवाह उपयोगात्मक है। पुद्गल में भी कारणभूत रूपशक्ति और नील, पीत आदि विविध वर्णपर्यायप्रवाह उस एक शक्ति का कार्य है। आत्मा में उपयोगात्मक पर्याय-प्रवाह की तरह सुख-दुःख वेदनात्मक पर्याय-प्रवाह, प्रवृत्यात्मक पर्याय-प्रवाह आदि अनन्त पर्याय-प्रवाह एक साथ चलते हैं। इसलिए उसमें चेतना की भाँति उस-उस सजातीय पर्याय-प्रवाह की कारणभूत आनन्द, वीर्य आदि एक-एक शक्ति के मानने से अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार पुद्गल में भी रूपपर्याय-प्रवाह की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त पर्याय-प्रवाह सतत चलते हैं। इसलिए प्रत्येक प्रवाह की कारणभूत एक-एक शक्ति के मानने से उसमें रूपशक्ति की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। आत्मा में चेतना, आनन्द, वीर्य आदि शक्तियों के भिन्न-भिन्न विविध पर्याय एक समय में हो सकते हैं परन्तु एक चेतनाशक्ति या एक आनन्दशक्ति के विविध उपयोग पर्याय या विविध वेदना पर्याय एक समय में नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्येक शक्ति का एक समय में एक ही पर्याय व्यक्त होता है। इसी प्रकार पुद्गल में भी रूप, गन्ध आदि भिन्न-भिन्न शक्तियों के भिन्न-भिन्न पर्याय एक समय में होते हैं परन्तु एक रूपशक्ति के नील, पीत आदि विविध पर्याय एक समय में नहीं होते। जिस प्रकार आत्मा और पुद्गल द्रव्य नित्य हैं उसी प्रकार उनकी चेतना आदि तथा रूप आदि शक्तियाँ भी नित्य हैं। चेतनाजन्य उपयोग-पर्याय या रूपशक्ति-जन्य नील-पीतपर्याय नित्य नहीं हैं, किन्तु सदैव उत्पत्ति-विनाशशील होने से इकाई के रूप में अनित्य हैं और उपयोग-पर्याय-प्रवाह तथा रूप-पर्याय-प्रवाह त्रैकालिक होने से नित्य हैं।

अनन्त गुणों का अखंड समुदाय ही द्रव्य है, तथापि आत्मा के चेतना, आनन्द

चारित्र, वीर्य आदि परिमित गुण ही साधारणबुद्धि छद्मस्थ की कल्पना में आते हैं, सब गुण नहीं। इसी प्रकार पुद्गल के भी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि कुछ ही गुण कल्पना में आते हैं, सब गुण नहीं। कारण यह है कि आत्मा या पुद्गल द्रव्य के समस्त पर्यायप्रवाहों को जानना विशिष्ट ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। जो-जो पर्याय-प्रवाह साधारणबुद्धिगम्य हैं उनके कारणभूत गुणों का व्यवहार किया जाता है, इसलिए वे गुण विकल्प्य हैं। आत्मा के चेतना, आनन्द, चारित्र, वीर्य आदि गुण विकल्प्य अर्थात् विचार व वाणी के गोचर हैं और पुद्गल के रूप आदि गुण विकल्प्य हैं। शेष सब अविकल्प्य हैं जो केवल-ज्ञानगम्य ही हैं।

त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के एक-एक प्रवाह की कारणभूत एक-एक शक्ति (गुण) और ऐसी अनन्त शक्तियों का समुदाय द्रव्य है, यह कथन भी भेद-सापेक्ष है। अभेददृष्टि से पर्याय अपने-अपने कारणभूत गुणस्वरूप और गुण द्रव्य-स्वरूप होने से द्रव्य गुणपर्यायात्मक ही कहा जाता है।

द्रव्य में सब गुण समान नहीं हैं। कुछ साधारण होते हैं अर्थात् सब द्रव्यों में पाये जाते हैं, जैसे अस्तित्व, प्रदेशत्व, ज्ञेयत्व आदि और कुछ असाधारण होते हैं अर्थात् एक-एक द्रव्य में पाये जाते हैं जैसे चेतना, रूप आदि। असा-धारण गुण और तज्जन्य पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्यों के गुण तथा पर्यायों का विचार भी इसी प्रकार करना चाहिए। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि पुद्गल द्रव्य मूर्त है, अतः उसके गुण तथा पर्याय गुरु-लघु कहे जाते हैं। परन्तु शेष सब द्रव्य अमूर्त हैं अतः उनके गुण और पर्याय अगुरुलघु कहे जाते हैं। ३७।

काल तथा उसके पर्याय

कालश्चेत्येके[1]। ३८।

सोऽनन्तसमयः। ३९।

कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं।

वह अनन्त समयवाला है।

---

१. दिगम्बर परम्परा में 'कालश्च' सूत्रपाठ है। तदनुसार वहाँ काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। वहाँ प्रस्तुत सूत्र को एकदेशीय मत-परक न मानकर सिद्धान्तरूप से ही काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का सूत्रकार का तात्पर्य बतलाया गया है। जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते और जो मानते हैं वे सब अपने-अपने मन्तव्य की पुष्टि किस प्रकार करते हैं, काल का स्वरूप कैसा बतलाते हैं, इसमें और भी कितने मतभेद हैं इत्यादि बातों को विशेष रूप से जानने के लिए देखें—हिन्दी **चौथा कर्मग्रन्थ**, काल-विषयक परिशिष्ट, पृ० १५७।

पहले काल के वर्त्तना आदि अनेक पर्याय कहे गए हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय आदि की भाँति उसमें द्रव्यत्व का विधान नहीं किया गया।[1] इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या पहले विधान न करने से काल द्रव्य नहीं है? अथवा वर्त्तना आदि पर्यायों का वर्णन करने से काल की गणना द्रव्य में हो जाती है? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है।

सूत्रकार कहते है कि कोई आचार्य काल को द्रव्य मानते हैं। सूत्रकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि काल का स्वतन्त्र द्रव्यत्व सर्वसम्मत नहीं है।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य माननेवाले आचार्य के मत का निराकरण सूत्रकार ने नहीं किया, उसका उल्लेखमात्र कर दिया है। यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि काल अनन्त पर्यायवाला है। काल के वर्त्तना आदि पर्यायों का कथन तो पहले हो चुका है। समयरूप पर्याय भी काल के ही हैं। वर्तमानकालीन समयपर्याय तो एक ही होता है, परन्तु अतीत, अनागत समय के पर्याय अनन्त होते हैं। इसीलिए काल को अनन्त समयवाला कहा गया है। ३८-३९।

गुण का स्वरूप

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः । ४० ।

जो द्रव्य में सदा रहनेवाले और गुणरहित हैं वे गुण हैं।

द्रव्य के लक्षण में गुण का कथन आ गया है,[2] इसलिए यहाँ उसका स्वरूप बतलाया जा रहा है।

पर्याय भी द्रव्य के ही आश्रित और निर्गुण हैं फिर भी उत्पाद-विनाशशील होने से द्रव्य में सदा नहीं रहते, पर गुण तो नित्य होने से सदा द्रव्याश्रित होते हैं। गुण और पर्याय में यही अन्तर है।

द्रव्य में सदा वर्तमान शक्तियाँ ही गुण हैं, जो पर्याय की जनक मानी जाती हैं। उन गुणों में पुनः गुणान्तर या शक्त्यन्तर मानने से अनवस्था दोष आता है, इसलिए द्रव्यनिष्ठ शक्तिरूप गुण निर्गुण ही माने गए हैं। आत्मा के गुण चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि और पुद्गल के गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं।

परिणाम का स्वरूप

तद्भावः परिणामः । ४१ ।

उसका होना अर्थात् स्वरूप में स्थित रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है।

---

१. देखें—अ० ५, सू० २२।
२. देखें—अ० ५, सू० ३७।

पहले कई स्थलों पर परिणाम का भी कथन आ चुका है।[1] अतः यहाँ उसका स्वरूप दर्शाया जा रहा है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तुमात्र क्षणस्थायी और निरन्वयविनाशी है। इसके अनुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न होकर सर्वथा नष्ट हो जाना अर्थात् नाश के बाद किसी तत्त्व का स्थित न रहना फलित होता है। नैयायिक आदि भेदवादी दर्शनों के अनुसार—जो कि गुण और द्रव्य का एकान्त भेद मानते हैं—'सर्वथा अविकृत द्रव्य में गुणों का उत्पन्न तथा नष्ट होना' परिणाम का अर्थ फलित होता है। इन दोनों मतों से भिन्न परिणाम के स्वरूप के सम्बन्ध में जैन दर्शन का मन्तव्यभेद ही इस सूत्र में दर्शाया गया है।

कोई द्रव्य अथवा गुण सर्वथा अविकृत नहीं होता। विकृत अर्थात् अवस्थान्तरों को प्राप्त होते रहने पर भी कोई द्रव्य अथवा गुण अपनी मूल जाति (स्वभाव) का त्याग नहीं करता। सारांश यह है कि द्रव्य या गुण अपनी-अपनी जाति का त्याग किये बिना प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। यही द्रव्यों तथा गुणों का परिणाम है।

आत्मा मनुष्य के रूप में हो या पशु-पक्षी के रूप में, चाहे जिन अवस्थाओं में रहने पर भी उसमें आत्मत्व बना रहता है। इसी प्रकार ज्ञानरूप साकार उपयोग हो या दर्शनरूप निराकार उपयोग, घट-विषयक ज्ञान हो या पट-विषयक, सब उपयोग-पर्यायों में चेतना बनी ही रहती है। चाहे द्व्यणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि, पर उन अनेक अवस्थाओं में भी पुद्गल अपने पुद्गलपन को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार शुक्ल रूप बदलकर कृष्ण हो, या कृष्ण बदलकर पीत हो, उन विविध वर्णपर्यायों में रूपत्व-स्वभाव स्थित रहता है। यही बात प्रत्येक द्रव्य और उसके प्रत्येक गुण के विषय में है। ४१।

परिणाम के भेद तथा आश्रयविभाग

अनादिरादिमांश्च । ४२ ।

रूपिष्वादिमान् । ४३ ।

योगोपयोगौ जीवेषु । ४४ ।

वह अनादि और आदिमान् दो प्रकार का है।
रूपी अर्थात् पुद्गलों में आदिमान् है।
जीवों में योग और उपयोग आदिमान् हैं।

---

१. देखें—अ० ५, सू० २२, ३६।

जिसके काल की पूर्वकोटि ज्ञात न हो सके वह अनादि तथा जिसके काल की पूर्वकोटि ज्ञात हो सके वह आदिमान् है। अनादि और आदिमान् शब्द का सामान्य रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध उक्त अर्थ मान लेने पर द्विविध परिणाम के आश्रय का विचार करते समय यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि रूपी या अरूपी सभी द्रव्यों में अनादि और आदिमान् दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और व्यक्ति की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम सबमें समान रूप से घटित किया जा सकता है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत सूत्रों में तथा इनके भाष्य में भी उक्त अर्थ सम्पूर्णतया तथा स्पष्टतया क्यों नहीं निरूपित किया गया ? यह प्रश्न वृत्तिकार ने भाष्य की वृत्ति में उठाया है और अन्त में स्वीकार किया है कि वस्तुतः सब द्रव्यों में अनादि तथा आदिमान् दोनों परिणाम होते हैं।

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों में तो सब द्रव्यों में दोनों प्रकार के परिणाम होने का स्पष्ट निरूपण है और इसका समर्थन भी किया है कि द्रव्य-सामान्य की अपेक्षा से अनादि और पर्याय-विशेष की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम होता है।

दिगम्बर व्याख्याकारों ने ४२ से ४४ तक के तीन सूत्र मूलपाठ में न रखकर 'तद्भावः परिणामः' सूत्र की व्याख्या में ही परिणाम के भेद और उनके आश्रय का कथन सम्पूर्णतया तथा स्पष्ट रूप में किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनको भी परिणाम के आश्रयविभागपरक प्रस्तुत सूत्रों तथा उनके भाष्य में अर्थत्रुटि अथवा अस्पष्टता अवश्य प्रतीत हुई होगी। इसीलिए उन्होंने अपूर्णार्थक सूत्रों को पूर्ण करने की अपेक्षा अपने वक्तव्य को स्वतन्त्र रूप से कहना ही उचित समझा।



: ६ :

आस्रव

जीव और अजीव का निरूपण समाप्त कर अब इस अध्याय में आस्रव का निरूपण किया जाता है।

योग अर्थात् आस्रव का स्वरूप

कायवाङ्मनःकर्म योगः । १ ।

स आस्रवः । २ ।

काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

वही आस्रव है अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करानेवाला है।

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम या क्षय से तथा पुद्गलों के आलम्बन से होनेवाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द (कम्पनव्यापार) को योग कहते हैं। आलम्बनभेद से इसके तीन भेद हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग । १. काययोग—औदारिकादि शरीर-वर्गणा के पुद्गलों के आलम्बन से प्रवर्तमान योग; २. वचनयोग—मतिज्ञानावरण, अक्षर-श्रुतावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न आन्तरिक वाग्लब्धि होने पर भाषावर्गणा के आलम्बन से भाषा-परिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द; ३. मनोयोग—नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के अवलम्बन से मनःपरिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेशकम्पन।

उक्त तीनों प्रकार के योग को ही आस्रव कहते हैं, क्योंकि योग के द्वारा ही आत्मा में कर्मवर्गणा का आस्रवण (कर्मरूप से सम्बन्ध) होता है। जैसे जलाशय में जल को प्रवेश करानेवाले नाले आदि का मुख आस्रव अर्थात् वहन का निमित्त होने से आस्रव कहा जाता है, वैसे ही कर्मास्रव का निमित्त होने से योग को आस्रव कहते हैं। १-२।

योग के भेद और उनका कार्यभेद

शुभः पुण्यस्य । ३ ।

अशुभः पापस्य[1] । ४ ।

शुभ योग पुण्य का आस्रव (बन्धहेतु) है ।
अशुभ योग पाप का आस्रव है ।

काययोग आदि तीनों योग शुभ भी हैं और अशुभ भी ।

योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है । शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है । कार्य—कर्मबन्ध की शुभाशुभता—पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही हो जायेंगे, कोई योग शुभ न रह जायेगा, जब कि शुभ योग भी आठवें आदि गुणस्थानों[2] में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है ।

हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि कायिक व्यापार अशुभ काययोग और दया, दान, ब्रह्मचर्यपालन आदि शुभ काययोग है । सत्य किन्तु सावद्य भाषण, मिथ्या भाषण, कठोर भाषण आदि अशुभ वाग्योग और निरवद्य सत्य भाषण, मृदु तथा सभ्य आदि भाषण शुभ वाग्योग है । दूसरों की बुराई का तथा उनके वध आदि का चिन्तन करना अशुभ मनोयोग और दूसरों की भलाई का चिन्तन आदि करना तथा उनके उत्कर्ष से प्रसन्न होना शुभ मनोयोग है ।

शुभ-योग का कार्य पुण्यप्रकृति का बन्ध और अशुभ-योग का कार्य पाप-प्रकृति का बन्ध है । प्रस्तुत सूत्रों का यह विधान आपेक्षिक है, क्योंकि संक्लेश (कषाय) की मन्दता के समय होनेवाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होनेवाला योग अशुभ है । जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुण-स्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता

१. सूत्र ३ व ४ के स्थान पर 'शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य' यह एक ही सूत्र दिगम्बर ग्रन्थों में सूत्र ३ के रूप में है । परंतु राजवार्तिक में 'ततः सूत्रद्वयमनर्थकम्' उल्लेख प्रस्तुत सूत्रों की चर्चा में मिलता है : देखें—पृष्ठ २४८ वार्तिक ७ की टीका । इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि व्याख्याकारों ने दोनों सूत्र साथ लिखकर उन पर एक साथ ही व्याख्या की होगी और लिपिकारों या प्रकाशकों ने एक साथ सूत्र-पाठ और व्याख्या देखकर दोनों सूत्रों को अलग-अलग न मानकर एक ही सूत्र समझ लिया होगा और एक ही संख्या लिख दी होगी ।

२. इसके लिए देखें—हिंदी **चौथा कर्मग्रन्थ**, गुणस्थानों में बन्धविचार; तथा हिंदी **दूसरा कर्मग्रन्थ** ।

है, वैसे ही छठे आदि गुणस्थानों में शुभ योग के समय भी सभी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है। फिर शुभयोग का पुण्य-बन्ध के कारणरूप में और अशुभयोग का पाप-बन्ध के कारणरूप में अलग-अलग विधान कैसे संगत हो सकता है? इसलिए प्रस्तुत विधान मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। शुभयोग की तीव्रता के समय पुण्य-प्रकृतियों के अनुभाग (रस) की मात्रा अधिक और पाप-प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा अल्प निष्पन्न होती है। इससे उलटे अशुभयोग की तीव्रता के समय पाप-प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अधिक और पुण्य-प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा तथा अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसे प्रधान मानकर सूत्रों में अनुक्रम से शुभयोग को पुण्य का और अशुभयोग को पाप का कारण कहा गया है। शुभयोगजन्य पापानुभाग की अल्प मात्रा और अशुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अल्प मात्रा विवक्षित नहीं है, क्योंकि लोक की भाँति शास्त्र में भी प्रधानतापूर्वक व्यवहार का विधान प्रसिद्ध है।[1] ३-४।

स्वामिभेद से योग का फलभेद

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः। ५।

कषायसहित और कषायरहित आत्मा का योग अनुक्रम से साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म का बन्धहेतु (आस्रव) होता है।

जिनमें क्रोध-लोभ आदि कषायों का उदय हो वे कषायसहित हैं और जिनमें न हो वे कषायरहित हैं। पहले से दसवें गुणस्थान तक के सभी जीव न्यूनाधिक प्रमाण में सकषाय होते हैं और ग्यारहवें तथा आगे के गुणस्थानवर्ती अकषाय होते हैं।

आत्मा का पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कहलाता है। जैसे गीले चमड़े के ऊपर हवा द्वारा पड़ी हुई रज उससे चिपक जाती है, वैसे ही योग द्वारा आकृष्ट होनेवाला जो कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर स्थिति पा लेता है वह साम्परायिक कर्म है। सूखी दीवाल के ऊपर लगे हुए लकड़ी के गोले की तरह योग से आकृष्ट जो कर्म कषायोदय न होने से आत्मा के साथ लगकर तुरन्त ही छूट जाता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। ईर्यापथ कर्म की स्थिति केवल एक समय की मानी गई है।

१. 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' का न्याय। जैसे जहाँ ब्राह्मणों की प्रधानता हो या उनकी संख्या अधिक हो वहाँ अन्य वर्ण के लोगों के होने पर भी वह गाँव ब्राह्मणों का कहलाता है।

कषायोदयवाली आत्माएँ काययोग आदि तीन प्रकार के शुभ-अशुभ योग से जो कर्म बाँधती हैं वह साम्परायिक अर्थात् कषाय की तीव्रता या मन्दता के अनुसार अधिक या अल्प स्थितिवाला होता है और यथासम्भव शुभाशुभ विपाक का कारण भी। परन्तु कषायमुक्त आत्माएँ तीनों प्रकार के योग से जो कर्म बाँधती हैं वह कषाय के अभाव के कारण न तो विपाकजनक होता है और न एक समय से अधिक स्थिति ही प्राप्त करता है। एक समय की स्थितिवाले इस कर्म को ईर्यापथिक कहने का कारण यह है कि वह कर्म कषाय के अभाव में केवल ईर्या (गमनागमनादि क्रिया) के पथ द्वारा ही बांधा जाता है। सारांश यह है कि तीनों प्रकार का योग समान होने पर भी कषाय न हो तो उपार्जित कर्म में स्थिति या रस का बन्ध नहीं होता। स्थिति और रस दोनों के बन्ध का कारण कषाय ही है। अतएव कषाय ही संसार की मूल जड़ है। ५।

साम्परायिक कर्मास्रव के भेद

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः। ६।

पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रियारूप भेद हैं जिनकी संख्या क्रमशः पाँच, चार, पाँच और पच्चीस है।

जिन हेतुओं से साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है वे साम्परायिक कर्म के आस्रव हैं। ऐसे आस्रव सकषाय जीवों में ही होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में साम्परायिक कर्मास्रव के भेदों का ही कथन है, क्योंकि वे कषायमूलक हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच अव्रत हैं, जिनका निरूपण सातवें अध्याय के सूत्र ८ से १२ तक में है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, जिनका विशेष स्वरूप अध्याय ८, सूत्र १० में वर्णित है। स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियों का वर्णन अध्याय २, सूत्र २० में हो चुका है। यहाँ इन्द्रिय का अर्थ राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति है, क्योंकि स्वरूप मात्र से कोई इन्द्रिय कर्मबन्ध का कारण नहीं होती और न इन्द्रियों की राग-द्वेषरहित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण होती है।

पच्चीस क्रियाओं के नाम और लक्षण—१. सम्यक्त्वक्रिया—देव, गुरु व शास्त्र की पूजाप्रतिपत्तिरूप होने से सम्यक्त्व पोषक; २. मिथ्यात्वक्रिया—मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म से होनेवाली सराग देव की स्तुति-उपासना आदिरूप, ३. प्रयोगक्रिया—शरीर आदि द्वारा जाने-आने आदि में कषाययुक्त प्रवृत्ति, ४. समादानक्रिया—त्यागी होते हुए भोगवृत्ति की ओर झुकाव, ५. ईर्यापथक्रिया—एक सामयिक कर्म के बन्धन या वेदन की कारणभूत क्रिया।

१. कायिकी क्रिया—दुष्टभाव से युक्त होकर प्रयत्न करना अर्थात् किसी काम के लिए तत्पर होना, २. आधिकरणिकी क्रिया—हिंसाकारी साधनों को ग्रहण करना, ३. प्रादोषिकी क्रिया—क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया, ४. पारितापनिकी क्रिया—प्राणियों को सतानेवाली क्रिया, ५. प्राणातिपातिकी क्रिया—प्राणियों को प्राणों[1] से वियुक्त करने की क्रिया।

१. दर्शन क्रिया—रागवश रमणीय रूप को देखने की वृत्ति, २. स्पर्शन क्रिया—प्रमादवश स्पर्श करने योग्य वस्तुओं के स्पर्शानुभव की वृत्ति, ३. प्रात्ययिकी क्रिया—नये शस्त्रों का निर्माण, ४. समन्तानुपातन क्रिया—स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने-आने की जगह पर मल-मूत्र आदि त्यागना, ५. अनाभोग क्रिया—जिस जगह का अवलोकन और प्रमार्जन नहीं किया गया है वहाँ शरीर आदि रखना।

१. स्वहस्त क्रिया—दूसरे के करने की क्रिया को स्वयं कर लेना, २. निसर्ग क्रिया—पापकारी प्रवृत्ति के लिए अनुमति देना, ३. विदार क्रिया—दूसरे के किये गए पापकार्य को प्रकट करना, ४. आज्ञाव्यापादिकी क्रिया—व्रत पालन करने की शक्ति के अभाव में शास्त्रोक्त आज्ञा के विपरीत प्ररूपणा करना, ५. अनवकांक्ष क्रिया—धूर्तता और आलस्य से शास्त्रोक्त विधि का अनादर करना।

१. आरम्भ क्रिया—काटने-पीटने और घात करने में स्वयं रत रहना और अन्य लोगों में वैसी प्रवृत्ति देखकर प्रसन्न होना, २. पारिग्रहिकी क्रिया—परिग्रह का नाश न होने के लिए की जानेवाली क्रिया, ३. माया क्रिया—ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में दूसरों को ठगना, ४. मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टि के अनुकूल प्रवृत्ति करने-कराने में निरत मनुष्य को 'तू ठीक करता है' इत्यादि रूप में प्रशंसा आदि द्वारा मिथ्यात्व में दृढ़ करना, ५. अप्रत्याख्यान क्रिया—संयमघातिकर्म के प्रभाव के कारण पापव्यापार से निवृत्त न होना।

पाँच-पाँच क्रियाओं के उक्त पाँच पञ्चकों में से केवल ईर्यापथिकी क्रिया साम्परायिक कर्म के आस्रव की कारण नहीं है, शेष सब क्रियाएँ कषायप्रेरित होने के कारण साम्परायिक कर्म के बन्ध की कारण हैं। यहाँ उक्त सब क्रियाओं का निर्देश साम्परायिक कर्मास्रव-बाहुल्य की दृष्टि से किया गया है। यद्यपि अव्रत, इन्द्रियप्रवृत्ति और उक्त क्रियाओं की बन्धकारणता रागद्वेष पर अवलम्बित है, इसलिए वस्तुतः रागद्वेष—कषाय ही साम्परायिक कर्म का बन्धकारण है, तथापि कषाय से अलग अव्रत आदि का बन्धकारणरूप से कथन सूत्र में इसलिए है कि कषायजन्य कौन-

१. पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय ये तीन बल, उच्छ्वासनिःश्वास और आयु ये दस प्राण है।

कौन सी प्रवृत्ति व्यवहार में मुख्यतया दिखाई पड़ती है और संवर के अभिलाषी को कौन-कौन सी प्रवृत्ति रोकने की ओर ध्यान देना चाहिए। ६।

बन्ध का कारण समान होने पर भी परिणामभेद से कर्मबन्ध में विशेषता

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याऽधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः। ७।

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के भेद से उसकी (कर्मबन्ध की) विशेषता होती है।

प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार और सम्यक्त्वक्रिया आदि उक्त आस्रव (बन्ध-कारण) समान होने पर भी तज्जन्य कर्मबन्ध में किस-किस कारण से विशेषता होती है यही इस सूत्र में प्रतिपादित है।

बाह्य बन्धकारण समान होने पर भी परिणाम की तीव्रता और मन्दता के कारण कर्मबन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जैसे एक ही दृश्य के दो दर्शकों में से मंद आसक्तिवाले की अपेक्षा तीव्र आसक्तिवाला कर्म का तीव्र बन्ध ही करता है। इच्छापूर्वक प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है और बिना इच्छा के कृत्य का हो जाना अज्ञातभाव है। ज्ञातभाव और अज्ञातभाव में बाह्य व्यापार समान होने पर भी कर्मबन्ध में अन्तर पड़ता है। जैसे एक व्यक्ति हरिण को हरिण समझकर बाण से बींध डालता है और दूसरा निशाना साधता तो है किसी निर्जीव पदार्थ पर किन्तु भूल से हरिण बिंध जाता है। भूल से मारनेवाले की अपेक्षा समझ-पूर्वक मारनेवाले का कर्मबन्ध उत्कट होता है। वीर्य (शक्तिविशेष) भी कर्म-बन्ध की विचित्रता का कारण होता है। जैसे दान, सेवा आदि शुभ कार्य हो या हिंसा, चोरी आदि अशुभ कार्य, सभी शुभाशुभ कार्य बलवान् मनुष्य जिस सहजता और उत्साह से कर सकता है, निर्बल मनुष्य वही कार्य बड़ी कठिनाई से कर पाता है, इसलिए बलवान् की अपेक्षा निर्बल का शुभाशुभ कर्मबन्ध मन्द होता है।

जीवाजीवरूप अधिकरण के अनेक भेद हैं। उनकी विशेषता से भी कर्मबन्ध में विशेषता आती है। जैसे हत्या, चोरी आदि अशुभ और पर-रक्षण आदि शुभ कार्य करनेवाले दो मनुष्यों में से एक के पास अधिकरण (शस्त्र) उग्र हों और दूसरे के पास साधारण हों तो सामान्य शस्त्रधारी की अपेक्षा उग्र शस्त्रधारी का कर्मबन्ध तीव्र होना सम्भव है, क्योंकि उग्र शस्त्र के सन्निधान से उसमें एक प्रकार का तीव्र आवेश रहता है।

बाह्य आस्रव की समानता होने पर भी कर्मबन्ध में असमानता के कारण-रूप से सूत्र में वीर्य, अधिकरण आदि की विशेषता का कथन किया गया है। फिर

भी कर्मबन्ध की विशेषता का विशेष निमित्त काषायिक परिणाम का तीव्र-मन्द भाव ही है। परन्तु सज्ञानप्रवृत्ति और शक्ति की विशेषता कर्मबन्ध की विशेषता की कारण काषायिक परिणाम की विशेषता के द्वारा ही होती हैं। इसी प्रकार कर्मबन्ध की विशेषता में शस्त्र की विशेषता के निमित्तभाव का कथन भी काषायिक परिणाम की तीव्र-मन्दता के अनुसार ही है। ७।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः। ८।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः। ९।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्। १०।

अधिकरण जीव और अजीवरूप है।

आद्य अर्थात् जीव-अधिकरण क्रमशः संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ के रूप में तीन प्रकार का, योगरूप में तीन प्रकार का, कृत कारित, अनुमत के रूप में तीन प्रकार का और कषाय रूप में चार प्रकार का है।

पर अर्थात् अजीवाधिकरण निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग के अनुक्रम से दो, चार, दो और तीन भेदरूप है।

शुभ-अशुभ सभी कार्य जीव और अजीव से ही सिद्ध होते हैं। अकेला जीव या अकेला अजीव कुछ नहीं कर सकता। इसलिए जीव और अजीव दोनों अधिकरण हैं अर्थात् कर्मबन्ध के साधन, उपकरण या शस्त्र हैं। दोनों अधिकरण द्रव्य-भाव रूप में दो-दो प्रकार के हैं। जीव व्यक्ति या अजीव वस्तु द्रव्याधिकरण है और जीवगत कषाय आदि परिणाम तथा छुरी आदि निर्जीव वस्तु की तीक्ष्णता-रूप शक्ति आदि भावाधिकरण हैं। ८।

संसारी जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करते समय एक सौ आठ अवस्थाओं में से किसी-न-किसी अवस्था में अवश्य रहता है। इसलिए वे अवस्थाएँ भावाधिकरण हैं, जैसे क्रोधकृत कायसंरम्भ, मानकृत कायसंरम्भ, मायाकृत कायसंरम्भ, लोभकृत कायसंरम्भ ये चार। इसी प्रकार कृत पद के स्थान पर कारित तथा अनुमत पद लगाने से क्रोधकारित कायसंरम्भ आदि चार तथा क्रोध-अनुमत कायसंरम्भ आदि चार—कुल बारह भेद होते हैं। इसी प्रकार काय के स्थान पर वचन और मन पद लगाने पर दोनों के बारह-बारह भेद होते हैं, जैसे क्रोधकृत वचनसंरम्भ आदि तथा क्रोधकृत मनःसंरम्भ आदि। तीनों के इन छत्तीस भेदों में

संरम्भ पद के स्थान पर समारम्भ और आरम्भ पद लगाने से छत्तीस-छत्तीस भेद और जुड़ जाते हैं। कुल मिलाकर ये १०८ भेद होते हैं।

हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रमादी जीव का प्रयत्न—आवेश संरम्भ कहलाता है, उसी कार्य के लिए साधन जुटाना समारम्भ और अन्त में कार्य करना आरम्भ अर्थात् कार्य की संकल्पात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसे प्रकट रूप में पूरा कर देने तक तीन अवस्थाएँ अनुक्रम से संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ हैं। योग के तीन प्रकारों का वर्णन पहले हो चुका है। कृत अर्थात् स्वयं करना, कारित अर्थात् दूसरे से कराना और अनुमत अर्थात् किसी के कार्य का अनुमोदन करना। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय प्रसिद्ध हैं।

जब कोई संसारी जीव दान आदि शुभ कार्य अथवा हिंसा आदि अशुभ कार्य से सम्बन्ध रखता है तब वह क्रोध या मान आदि किसी कषाय से प्रेरित होता है। कषायप्रेरित होने पर भी कभी वह स्वयं करता है या दूसरे से करवाता है अथवा दूसरे के काम का अनुमोदन करता है। इसी प्रकार वह कभी उस काम के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक संरम्भ, समारम्भ या आरम्भ से युक्त अवश्य होता है। ९।

परमाणु आदि मूर्त वस्तु द्रव्य-अजीवाधिकरण है। जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी मूर्त द्रव्य जिस अवस्था में वर्तमान होता है वह भाव-अजीवाधिकरण है। यहाँ इस भावाधिकरण के मुख्य चार भेद बतलाए गये हैं। जैसे निर्वर्तना (रचना), निक्षेप (रखना), संयोग (मिलना) और निसर्ग (प्रवर्तन)। निर्वर्तना के दो भेद हैं—मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना। पुद्गल द्रव्य की जो औदारिक आदि शरीररूप रचना अन्तरङ्ग साधनरूप से जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती है वह मूलगुणनिर्वर्तना है तथा पुद्गल द्रव्य की जो लकड़ी, पत्थर आदि रूप परिणति बाह्य साधनरूप में जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती है वह उत्तरगुणनिर्वर्तना है।

निक्षेप के चार भेद हैं—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, दुष्प्रमार्जितनिक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोगनिक्षेप। प्रत्यवेक्षण किये बिना अर्थात् अच्छी तरह देखे बिना ही किसी वस्तु को कहीं रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण करने पर भी ठीक तरह प्रमार्जन किये बिना ही वस्तु को जैसे-तैसे रख देना दुष्प्रमार्जितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही सहसा अर्थात् जल्दी से वस्तु को रख देना सहसानिक्षेप है। उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कहीं रख देना अनाभोगनिक्षेप है।

संयोग के दो भेद हैं—अन्न, जल आदि का संयोजन करना तथा वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का संयोजन करना अनुक्रम से भक्तपान-संयोगाधिकरण और उपकरण-संयोगाधिकरण है।

निसर्ग के तीन प्रकार हैं—शरीर, वचन और मन का प्रवर्तन अनुक्रम से कायनिसर्ग, वचननिसर्ग और मनोनिसर्ग कहलाता है। १०।

आठ प्रकार के साम्परायिक कर्मों में से प्रत्येक के भिन्न-भिन्न बन्धहेतु

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।११।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य । १२।

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य । १३।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । १४।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य । १५।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः । १६।

माया तैर्यग्योनस्य । १७।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य । १८।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् । १९।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य । २०।

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः । २१।

विपरीतं शुभस्य । २२।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य । २३।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य । २४।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य । २५।

विघ्नकरणमन्तरायस्य । २६।

तत्प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन तथा उपघात ये ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के बन्धहेतु (आस्रव) हैं।

स्व-आत्मा में, पर-आत्मा में या दोनों में स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं।

भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं।

केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म एवं देव का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतु हैं।

कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है।

बहु-आरम्भ और बहु-परिग्रह नरकायु के बन्धहेतु हैं।

माया तिर्यंच-आयु का बन्धहेतु है।

अल्प-आरम्भ, अल्प-परिग्रह, स्वभाव में मृदुता और सरलता ये मनुष्य-आयु के बन्धहेतु हैं।

शीलरहितता[1] और व्रतरहितता तथा पूर्वोक्त अल्प आरम्भ आदि सभी आयुओं के बन्धहेतु हैं।

सरागसंयम[2], संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के बन्धहेतु हैं।

योग की वक्रता और विसंवाद अशुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

विपरीत अर्थात् योग की अवक्रता और अविसंवाद शुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अत्यन्त अप्रमाद, ज्ञान में सतत उपयोग तथा सतत संवेग, यथाशक्ति त्याग और तप, संघ और साधु की समाधि और वैयावृत्त्य करना, अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत,

---

१. दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है—निःशीलत्व और निर्व्रतत्व। ये दोनों नारक आदि तीन आयुओं के आस्रव हैं और भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्यों की अपेक्षा से निःशीलत्व और निर्व्रतत्व ये दोनों देवायु के भी आस्रव हैं। इस अर्थ में देवायु के आस्रव का समावेश होता है, जिसका वर्णन भाष्य में नहीं है। परन्तु भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने विचारपूर्वक भाष्य की यह त्रुटि जानकर इस बात की पूर्ति आगमानुसार कर लेने का निर्देश किया है।

२. दिगम्बर परम्परा में देवायु के प्रस्तुत सूत्र में इन आस्रवों के अतिरिक्त एक दूसरा भी आस्रव गिनाया है और उसके लिए इस सूत्र के बाद ही 'सम्यक्त्वं च' सूत्र है। इस परम्परा के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि सम्यक्त्व सौधर्म आदि कल्पवासी देवों की आयु का आस्रव है। भाष्य में यह बात नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने भाष्यवृत्ति में अन्य कई आस्रवों के साथ-साथ सम्यक्त्व को भी गिन लिया है।

तथा प्रवचन की भक्ति, आवश्यक क्रिया को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये सब तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं।

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता ये उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं।

दानादि में विघ्न डालना अन्तरायकर्म का बन्धहेतु है।

सूत्र ११ से अध्याय के अन्त तक प्रत्येक मूल कर्मप्रकृति के बन्धहेतुओं का क्रमशः वर्णन किया गया है। सामान्य रूप से योग और कषाय ही सब कर्म-प्रकृतियों के बन्धहेतु हैं, फिर भी कषायजन्य अनेकविध प्रवृत्तियों में से कौन-कौन-सी प्रवृत्ति किस-किस कर्म के बन्ध का हेतु होती है, यही विभागपूर्वक प्रस्तुत प्रकरण में बतलाया गया है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के बन्धहेतु—१. तत्प्रदोष—ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रति द्वेष करना अथवा रखना अर्थात् तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय मन में तत्त्वज्ञान के प्रति, उसके वक्ता के प्रति अथवा उसके साधनों के प्रति डाह रखना। इसे ज्ञानप्रद्वेष भी कहते हैं। २. ज्ञान-निह्नव—कोई किसी से पूछे या ज्ञान के साधन की माँग करे तब ज्ञान तथा ज्ञान के साधन पास में होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि 'मैं नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं'। ३. ज्ञानमात्सर्य—ज्ञान अभ्यस्त व परिपक्व हो एवं देने योग्य हो तो भी उसके अधिकारी ग्राहक के मिलने पर उसे न देने की कलुषित वृत्ति। ४. ज्ञानान्तराय—कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति में किसी को बाधा पहुँ-चाना। ५. ज्ञानासादन—दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो तब वाणी अथवा शरीर से उसका निषेध करना। ६. उपघात—किसी ने उचित ही कहा हो फिर भी अपनी विपरीत मति के कारण अयुक्त भासित होने से उलटे उसी के दोष निकालना।

पूर्वोक्त प्रदोष, निह्नव आदि जब ज्ञान, ज्ञानी या उसके साधन के साथ सम्बन्ध रखते हों तब वे ज्ञानप्रदोष, ज्ञाननिह्नव आदि कहलाते हैं और दर्शन (सामान्य बोध), दर्शनी अथवा दर्शन के साधन के साथ सम्बन्ध रखते हों तब दर्शनप्रदोष, दर्शननिह्नव आदि कहलाते हैं।

प्रश्न—आसादन और उपघात में क्या अन्तर है?

उत्तर—ज्ञान के होने पर भी उसकी विनय न करना, दूसरे के सामने उसे

प्रकाशित न करना, उसके गुणों को न दरसाना आसादन है और ज्ञान को ही अज्ञान मानकर उसे नष्ट करने का विचार रखना उपघात है। ११।

असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु - १. दुःख--बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा होना। २. शोक--किसी हितैषी का सम्बन्ध टूटने से चिन्ता और खेद होना। ३. ताप--अपमान से मन के कलुषित होने से तीव्र संताप होना। ४. आक्रन्दन--गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ रोना-पीटना। ५. वध--किसी के प्राण लेना। ६. परिदेवन--वियुक्त व्यक्ति के गुणों के स्मरण से होनेवाला करुणाजनक रुदन।

उक्त दुःख आदि छः और ऐसे ही ताड़न-तर्जन आदि अनेक निमित्त अपने में, दूसरे में या दोनों में पैदा करने पर उत्पन्न करनेवाले के असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु बनते हैं।

प्रश्न—यदि दुःख आदि पूर्वोक्त निमित्त अपने में या दूसरे में उत्पन्न करने से असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु होते हैं तो फिर लोच, उपवास, व्रत तथा इस तरह के दूसरे नियम भी दुःखद होने से असातावेदनीय के बन्धहेतु होने चाहिए। यदि ऐसी बात हो तो उन व्रत आदि नियमों का अनुष्ठान करने की अपेक्षा उनका त्याग करना ही क्या उचित नहीं होगा ?

उत्तर—उक्त दुःख आदि निमित्त जब क्रोध आदि आवेश से उत्पन्न होते हैं तभी आस्रव (बन्ध) के हेतु बनते हैं, न कि केवल सामान्य रूप में दुःखद होने से। सच्चे त्यागी या तपस्वी को कठोर व्रत-नियमों का पालन करने पर भी असातावेदनीय कर्म का बन्ध नहीं होता। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि सच्चा त्यागी कठोर व्रतों का पालन करते हुए क्रोध या वैसे ही अन्य किसी दुष्ट भाव से नहीं बल्कि सद्वृत्ति और सद्बुद्धि से प्रेरित होकर ही चाहे जितना दुःख उठाता है। वह कठिन व्रतों को धारण करता है, पर चाहे जितने दुःखद प्रसंग आ जायँ उनमें क्रोध, संताप आदि कषाय का अभाव होने से वे प्रसंग उसके लिए बन्धक नहीं बनते। दूसरा कारण यह है कि कई बार तो वैसे त्यागियों को कठोरतम व्रत तथा नियमों का पालन करने में वास्तविक प्रसन्नता अनुभव होती है और इसीलिए वैसे प्रसंगों में उनको दुःख या शोक आदि का होना सम्भव ही नहीं। यह तो सर्वविदित है कि एक को जिन प्रसंगों में दुःख होता है, उसी प्रसंग में दूसरे को भी दुःख हो यह आवश्यक नहीं है। इसलिए ऐसे नियम-व्रतों का पालन मानसिक रति (रुचि) होने से उनके लिए सुखरूप ही होता है। जैसे कोई दयालु वैद्य चीरफाड़ के द्वारा किसी को दुःख देने का निमित्त बनने पर भी करुणा-वृत्ति से प्रेरित होने से पापभागी नहीं होता वैसे ही सांसारिक दुःख दूर करने

के लिए उसके ही उपायों को प्रसन्नतापूर्वक करता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप का बन्ध नहीं करता।

सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु—१. अनुकम्पा—प्राणि-मात्र के प्रति अनुकम्पा ही भूतानुकम्पा है अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने का भाव। २. व्रत्यनुकम्पा—अल्पांश में व्रतधारी गृहस्थ और सर्वांश में व्रतधारी त्यागी दोनों पर विशेष अनुकम्पा रखना। ३. दान—अपनी वस्तु दूसरों को नम्रभाव से अर्पित करना। ४. सरागसंयमादि योग—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप इन सबमें यथोचित ध्यान देना। संसार की कारणरूप तृष्णा को दूर करने के लिए तत्पर होकर संयम स्वीकार कर लेने पर भी जब मन से राग के संस्कार क्षीण नहीं होते तब वह सरागसंयम कहलाता है। आंशिक संयम का स्वीकार संयमासंयम है। स्वेच्छापूर्वक नहीं किन्तु परतंत्रता से भोगों का त्याग करना अकामनिर्जरा है। बाल अर्थात् यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टिवालों का अग्निप्रवेश, जलपतन, गोबर आदि का भक्षण, अनशन आदि तप बालतप है। ५. क्षान्ति—धर्मदृष्टि से क्रोधादि दोषों का शमन। ६. शौच—लोभवृत्ति और ऐसे ही अन्य दोषों का शमन। १३।

दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतु—१. केवली का अवर्णवाद—दुर्बुद्धिपूर्वक केवली के असत्य दोषों को प्रकट करना, जैसे सर्वज्ञता की संभावना को स्वीकार न करना और कहना कि 'सर्वज्ञ होकर भी उसने मोक्ष के सरल उपाय न बतलाकर जिनका आचरण शक्य नहीं ऐसे दुर्गम उपाय क्यों बतलाए हैं' इत्यादि। २. श्रुत का अवर्णवाद—शास्त्र के मिथ्या दोषों का द्वेषबुद्धि से वर्णन करना, जैसे कहना कि 'यह शास्त्र अनपढ़ लोगों की प्राकृत भाषा में अथवा पण्डितों की जटिल संस्कृत भाषा में होने से तुच्छ है, अथवा इसमें विविध व्रत, नियम तथा प्रायश्चित्त आदि का अर्थहीन एवं कष्टप्रद वर्णन है'। ३. संघ का अवर्णवाद—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ के मिथ्या दोष प्रकट करना, जैसे यह कहना कि 'साधु लोग व्रत-नियम आदि का व्यर्थ क्लेश उठाते हैं, साधुत्व तो संभव ही नहीं तथा उसका कोई अच्छा परिणाम भी नहीं निकलता'। श्रावकों के विषय में कहना कि 'वे स्नान, दान आदि शिष्ट प्रवृत्तियाँ नहीं करते और न पवित्रता ही मानते हैं' इत्यादि। ४. धर्म का अवर्णवाद—अहिंसा आदि महान् धर्मों के मिथ्या दोष बतलाना या यह कहना कि 'धर्म प्रत्यक्ष कहाँ दीखता है और जो प्रत्यक्ष नहीं दीखता उसका अस्तित्व कैसे संभव है' तथा यह कहना कि 'अहिंसा से मनुष्य जाति अथवा राष्ट्र का पतन हुआ है' इत्यादि। ५. देवों का अवर्णवाद—देवों की निन्दा करना, जैसे यह कहना कि 'देव तो हैं ही नहीं, और हों तो भी व्यर्थ हैं, क्योंकि

वे शक्तिशाली होकर भी यहाँ आकर हम लोगों की मदद क्यों नहीं करते तथा सम्बन्धियों का दुःख दूर क्यों नहीं करते' इत्यादि । १४ ।

चारित्रमोहनीय कर्म के बन्धहेतु—१. स्वयं कषाय करना, दूसरों में भी कषाय जगाना तथा कषाय के वशवर्ती होकर अनेक तुच्छ प्रवृत्तियाँ करना ये सब कषायमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । २. सत्य-धर्म का उपहास करना, गरीब या दीन मनुष्य की हँसी उड़ाना आदि हास्य-वृत्तियाँ हास्य-मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । ३. विविध क्रीड़ाओं में रत रहना, व्रत-नियम आदि योग्य अंकुश में अरुचि रखना आदि रतिमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । ४. दूसरों को व्याकुल करना, किसी की शांति में विघ्न डालना, नीच लोगों की संगति करना आदि अरतिमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । ५. स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों की शोक-वृत्ति को उत्तेजित करना आदि शोकमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । ६. स्वयं डरना और दूसरों को डराना भयमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । ७. हितकर क्रिया और हितकर आचरण से घृणा करना आदि जुगुप्सा-मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं । ८-१०. स्त्री-जाति के योग्य, पुरुष-जाति के योग्य तथा नपुंसक-जाति के योग्य संस्कारों का अभ्यास करना क्रमशः स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद के बन्ध के कारण हैं । १५ ।

नरक-आयु कर्म के बन्धहेतु—१. आरम्भ—प्राणियों को दुःख पहुँचे ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति । २. परिग्रह—यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ ऐसा संकल्प । आरम्भ और परिग्रह-वृत्ति बहुत तीव्र होना तथा हिंसा आदि क्रूर कामों में सतत प्रवृत्ति होना, दूसरे के धन का अपहरण करना अथवा भोगों में अत्यन्त आसक्ति रहना नरकायु के बन्ध के कारण हैं । १६ ।

तिर्यञ्च-आयु कर्म के बन्धहेतु—माया अर्थात् छलप्रपञ्च करना अथवा कुटिल भाव रखना । जैसे धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से मिथ्या बातों को मिलाकर उनका स्वार्थ-बुद्धि से प्रचार करना तथा जीवन को शील से दूर रखना आदि सब माया हैं । यही तिर्यंच आयु के बन्ध का कारण है । १७ ।

मनुष्य-आयु कर्म के बन्धहेतु—आरम्भ-वृत्ति तथा परिग्रह-वृत्ति कम रखना, स्वभावतः अर्थात् बिना कहे-सुने मृदुता और सरलता का होना मनुष्य आयु के बन्ध के कारण हैं । १८ ।

उक्त तीनों आयुकर्मों के सामान्य बन्धहेतु—नरक, तिर्यंच और मनुष्य इन तीनों आयुओं के जो भिन्न-भिन्न बन्धहेतु कहे गए हैं उनके अतिरिक्त तीनों

आयुओं के सामान्य बन्धुहेतु भी हैं । प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं का कथन है । वे बन्ध-हेतु ये हैं : निःशीलत्व—शील से रहित होना और निर्व्रतत्व—व्रतों से रहित होना । १. व्रत—अहिंसा, सत्य आदि पाँच मुख्य नियम । २. शील—व्रतों की पुष्टि के लिए अन्य उपव्रतों का पालन, जैसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत । उक्त व्रतों के पालनार्थ क्रोध, लोभ आदि के त्याग को भी शील कहते हैं । व्रत का न होना निर्व्रतत्व एवं शील का न होना निःशीलत्व है । १९ ।

देव-आयु कर्म के बन्धहेतु—१. हिंसा, असत्य, चोरी आदि महान् दोषों से विरतिरूप संयम अंगीकार कर लेने के बाद भी कषायों के कुछ अंश का शेष रहना सरागसंयम है । २. हिंसाविरति आदि व्रतों का अल्पांश में धारण करना संयमासंयम है । ३. पराधीनता के कारण या अनुसरण के लिए अहितकर प्रवृत्ति अथवा आहार आदि का त्याग अकाम निर्जरा है । ४. बालभाव से अर्थात् बिना विवेक के अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वत-प्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन की क्रियाएँ करना बालतप है । २० ।

अशुभ एवं शुभ नामकर्म के बन्धहेतु—१. योगवक्रता—मन, वचन और काय की कुटिलता । कुटिलता का अर्थ है सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ । २. विसंवादन—अन्यथा प्रवृत्ति कराना अथवा दो स्नेहियों के बीच भेद पैदा करना । ये दोनों अशुभ नाम-कर्म के बन्ध के कारण हैं ।

प्रश्न—इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से अन्तर है । अपने ही विषय में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भिन्न पड़े तब योगवक्रता और यदि दूसरे के विषय में ऐसा हो तो वह विसंवादन है । जैसे कोई रास्ते से जा रहा हो तो उसे 'ऐसे नहीं, पर ऐसे' इस प्रकार उलटा समझाकर कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करना ।

इससे विपरीत अर्थात् मन, वचन, काय की सरलता (प्रवृत्ति की एकरूपता) तथा संवादन अर्थात् दो व्यक्तियों के भेद को मिटाकर एकता करा देना अथवा गलत रास्ते पर जानेवाले को सही रास्ते लगा देना दोनों शुभ नाम-कर्म के बन्ध के कारण हैं । २१-२२ ।

तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतु—१. दर्शनविशुद्धि—वीतरागकथित तत्त्वों में निर्मल और दृढ़ रुचि । २. विनयसम्पन्नता—ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति समुचित आदरभाव । ३. शीलव्रतानतिचार—अहिंसा, सत्यादि मूल व्रत तथा उनके पालन में उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियम या शील के पालन में प्रमाद न करना । ४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागरित रहना ।

५. अभीक्ष्ण-संवेग—सांसारिक भोगों से जो वास्तव में सुख के स्थान पर दुःख के ही साधन बनते हैं, डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच में न पड़ना। ६. यथाशक्ति त्याग—अपनी अल्पतम शक्ति को भी बिना छिपाए आहारदान, अभयदान, ज्ञान-दान आदि विवेकपूर्वक करते रहना। ७. यथाशक्ति तप—शक्ति छिपाए बिना विवेकपूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास। ८. संघसाधुसमाधिकरण–चतुर्विध संघ और विशेषकर साधुओं को समाधि पहुँचाना अर्थात् ऐसा करना जिससे कि वे स्वस्थ रहें। ९. वैयावृत्त्यकरण—कोई भी गुणी यदि कठिनाई में पड़ जाय तो उस समय योग्य ढंग से उसकी कठिनाई दूर करने का प्रयत्न करना। १०-१३. चतुःभक्ति—अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र इन चारों में शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना। १४. आवश्यकापरिहाणि—सामायिक आदि षड्-आवश्यकों के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना। १५. मोक्षमार्गप्रभावना--अभि-मान तजकर ज्ञानादि मोक्षमार्ग को जीवन में उतारना तथा दूसरों को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना। १६. प्रवचनवात्सल्य--जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है वैसे ही साधर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना। २३।

नीच गोत्रकर्म के बन्धहेतु--१. परनिन्दा--दूसरों की निन्दा करना। निन्दा का अर्थ है सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धिपूर्वक प्रकट करने की वृत्ति। २. आत्म-प्रशंसा--अपनी बड़ाई करना अर्थात् अपने सच्चे या झूठे गुणों को प्रकट करने की वृत्ति। ३. आच्छादन—दूसरे के गुणों को छिपाना और प्रसंग आने पर भी द्वेष से उन्हें न कहना। ४. उद्भावन--अपने में गुण न होने पर भी उनका प्रदर्शन करना अर्थात् निज के असद्गुणों का उद्भावन। २४।

उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु—१. आत्मनिन्दा--अपने दोषों का अवलोकन। २. परप्रशंसा--दूसरों के गुणों की सराहना। ३. असद्गुणोद्भावन--अपने दुर्गुणों को प्रकट करना। ४. स्वगुणाच्छादन--अपने विद्यमान गुणों को छिपाना। ५. नम्रवृत्ति--पूज्य व्यक्तियों के प्रति विनम्रता। ६. अनुत्सेक--ज्ञान, सम्पत्ति आदि में दूसरे से अधिकता होने पर भी उसके कारण गर्व न करना। २५।

अन्तराय कर्म के बन्धहेतु—किसी को दान देने में या किसी को कुछ लेने में अथवा किसी के भोग एवं उपभोग आदि में बाधा डालना अथवा मन में वैसी वृत्ति पैदा करना विघ्नकरण है। २६।

साम्परायिक कर्मों के आस्रव के विषय में विशेष वक्तव्य--सूत्र ११ से २६ तक साम्परायिक कर्म की प्रत्येक मूल प्रकृति के भिन्न-भिन्न आस्रव या बन्ध-हेतु उपलक्षण मात्र हैं। अर्थात् प्रत्येक मूलप्रकृति के गिनाए गए आस्रवों के अति-रिक्त अन्य भी वैसे ही—उन प्रकृतियों के आस्रव न कहने पर भी समझे जा

सकते हैं। जैसे कि आलस्य, प्रमाद, मिथ्योपदेश आदि ज्ञानावरणीय अथवा दर्शनावरणीय के आस्रव के रूप में नहीं गिनाए गए हैं, फिर भी वे उनके आस्रव हैं। इसी तरह वध, बन्धन, ताड़न आदि तथा अशुभ प्रयोग आदि असातावेदनीय के आस्रवों में नहीं गिनाए गये हैं, फिर भी वे उसके आस्रव हैं।

प्रश्न—प्रत्येक मूलप्रकृति के आस्रव भिन्न-भिन्न दर्शाए गये हैं। इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ज्ञानप्रदोष आदि आस्रव केवल ज्ञानावरणीय आदि कर्म के ही बन्धक हैं अथवा इनके अतिरिक्त अन्य कर्मों के भी बन्धक हैं? एक कर्मप्रकृति के आस्रव यदि अन्य प्रकृति के भी बन्धक हो सकते हैं तो प्रकृति-विभाग से आस्रवों का अलग-अलग वर्णन करना ही व्यर्थ है क्योंकि एक प्रकृति के आस्रव दूसरी प्रकृति के भी तो आस्रव हैं। और यदि यह माना जाय कि किसी एक प्रकृति के आस्रव केवल उसी प्रकृति के आस्रव हैं, दूसरी के नहीं तो शास्त्र-नियम में विरोध आता है। शास्त्र का नियम यह है कि सामान्य रूप से आयु को छोड़कर शेष सातों प्रकृतियों का बन्ध एक साथ होता है। इस नियम के अनुसार जब ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है तब अन्य वेदनीय आदि छहों कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध होता है। आस्रव तो एक समय में एक-एक कर्मप्रकृति का ही होता है, किन्तु बन्ध तो एक समय में एक प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी अविरोधी प्रकृतियों का भी होता है। अर्थात् अमुक आस्रव अमुक प्रकृति का ही बन्धक है, यह मत शास्त्रीय नियम से बाधित हो जाता है। अतः प्रकृतिविभाग से आस्रवों के विभाग करने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर—यहाँ आस्रवों का विभाग अनुभाग अर्थात् रसबन्ध की अपेक्षा से बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी एक कर्मप्रकृति के आस्रव के सेवन के समय उस कर्मप्रकृति के अतिरिक्त अन्य कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध होता है, यह शास्त्रीय नियम केवल प्रदेश-बन्ध के विषय में ही घटित करना चाहिए, न कि अनुभाग-बन्ध के विषय में। सारांश यह है कि आस्रवों का विभाग प्रदेश-बन्ध की अपेक्षा से नहीं, अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। अतः एक साथ अनेक कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध मान लेने के कारण पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम में कठिनाई नहीं आती तथा प्रकृतिविभाग से उल्लिखित आस्रव भी केवल उन-उन प्रकृतियों के अनुभागबन्ध में ही निमित्त बनते हैं। इसलिए यहाँ आस्रवों का जो विभाग निर्दिष्ट है वह भी बाधित नहीं होता।

इस व्यवस्था से पूर्वोक्त शास्त्रीय-नियम और प्रस्तुत आस्रवों का विभाग दोनों अबाधित बने रहते हैं। फिर भी इतनी बात विशेष है कि अनुभागबन्ध को आश्रित करके आस्रव के विभाग का समर्थन भी मुख्य भाव की अपेक्षा से ही

किया गया है। अर्थात् ज्ञानप्रदोष आदि आस्रवों के सेवन के समय ज्ञानावरणीय के अनुभाग का बन्ध मुख्य रूप से होता है और उसी समय बँधनेवाली अन्य कर्म-प्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध गौण रूप से होता है। यह तो माना ही नहीं जा सकता कि एक समय में एक प्रकृति के ही अनुभाग का बन्ध होता है और अन्य कर्मप्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध होता ही नहीं। क्योंकि जिस समय जितनी कर्म-प्रकृतियों का प्रदेशबन्ध योग द्वारा सम्भव है उसी समय कषाय द्वारा उतनी ही प्रकृतियों का अनुभागबन्ध भी सम्भव है। इसलिए मुख्य रूप से अनुभागबन्ध की अपेक्षा को छोड़कर आस्रव के विभाग का समर्थन अन्य प्रकार से ध्यान में नहीं आता। २६।



: ७ :

व्रत

साता-वेदनीय के आस्रवों में व्रती पर अनुकम्पा और दान ये दोनों गिनाए गए हैं। प्रसङ्गवश उन्हीं के विशेष स्पष्टीकरण के लिए जैन परम्परा में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखनेवाले व्रत और दान का विशेष निरूपण इस अध्याय में किया जा रहा है।

व्रत का स्वरूप

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । १ ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से (मन, वचन, काय द्वारा) निवृत्त होना व्रत है।

हिंसा, असत्य आदि दोषों के स्वरूप का वर्णन आगे किया गया है। दोषों को समझकर उनके त्याग की प्रतिज्ञा करने के बाद पुनः उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं।

अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान है अतः उसका स्थान प्रथम है। खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड़ होती है वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं। इसीलिए अहिंसा की प्रधानता मानी गई है।

व्रत के दो पहलू हैं—निवृत्ति और प्रवृत्ति। इन दोनों के होने से ही व्रत पूर्ण होता है। सत्कार्य में प्रवृत्त होने का अर्थ है असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना। यह अपने आप प्राप्त होता है। इसी प्रकार असत्कार्यों से निवृत्त होने का अर्थ है सत्कार्यों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करना। यह भी स्वतः प्राप्त है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट रूप से दोषनिवृत्ति को ही व्रत कहा गया है तथापि उसमें सत्प्रवृत्ति का अंश आ ही जाता है। इसलिए व्रत केवल निष्क्रियता नहीं है।

प्रश्न—'रात्रिभोजनविरमण' नामक व्रत प्रसिद्ध है। सूत्र में उसका निर्देश क्यों नहीं किया गया?

उत्तर—दीर्घकाल से रात्रिभोजनविरमण नामक व्रत प्रसिद्ध है, पर वास्तव में वह मूल व्रत नहीं है, अपितु मूल व्रत से निष्पन्न एक प्रकार का आवश्यक व्रत है। ऐसे अवांतर व्रत कई हैं और उनकी कल्पना भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ तो मूल व्रत का निरूपण इष्ट है। मूल व्रत से निष्पन्न होनेवाले अवान्तर व्रत तो उसके व्यापक निरूपण में आ ही जाते हैं। रात्रिभोजनविरमणव्रत अहिंसाव्रत में से निष्पन्न होनेवाले अनेक व्रतों में से एक है।

प्रश्न—अन्धेरे में दिखाई न देनेवाले जन्तु नाश के कारण और दीपक जलाने से होनेवाले अनेक प्रकार के आरम्भ को दृष्टि में रखकर ही रात्रिभोजनविरमण को अहिंसाव्रत का अंग माना जाता है, पर जहाँ अन्धेरा भी न हो और दीपक से होनेवाले आरम्भ का प्रसंग भी नहीं आता वैसे शीतप्रधान देश में तथा जहाँ बिजली का प्रकाश सुलभ हो वहाँ रात्रिभोजन और दिवा-भोजन में हिंसा की दृष्टि से क्या अन्तर है?

उत्तर—उष्णप्रधान देश तथा पुराने ढंग के दीपक आदि की व्यवस्था में साफ दीखनेवाली हिंसा की दृष्टि से ही रात्रिभोजन को दिवाभोजन की अपेक्षा अधिक हिंसायुक्त कहा गया है। यह बात स्वीकार कर लेने पर और साथ ही किसी विशेष परिस्थिति में दिन की अपेक्षा रात्रि में विशेष हिंसा का प्रसंग न भी आता हो, इस कल्पना को समुचित स्थान देने पर भी साधारण समुदाय की दृष्टि से और विशेषकर त्यागी-जीवन की दृष्टि से रात्रिभोजन की अपेक्षा दिवा-भोजन ही विशेष प्रशंसनीय है इस मान्यता के संक्षेप में निम्न कारण हैं :

१. बिजली या चन्द्रमा आदि का प्रकाश भले ही अच्छा लगता हो, लेकिन वह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वत्रिक, अखण्ड तथा आरोग्यप्रद नहीं होता। इसलिए जहाँ दोनों सम्भव हों वहाँ समुदाय के लिए आरोग्य की दृष्टि से सूर्य-प्रकाश ही अधिक उपयोगी होता है।

२. त्यागधर्म का मूल सन्तोष है, इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन-प्रवृत्ति को भी समाप्त कर लेना तथा संतोषपूर्वक रात्रि के समय जठर को विश्राम देना ही उचित है। इससे ठीक-ठीक निद्रा आती है और ब्रह्मचर्यपालन में सहायता मिलती है। फलस्वरूप आरोग्य की वृद्धि भी होती है।

३. दिवाभोजन और रात्रिभोजन दोनों में से संतोष के विचार से यदि एक का ही चुनाव करना हो तब भी जाग्रत और कुशलबुद्धि का झुकाव दिवाभोजन की ओर ही होगा। आज तक के महान् संतों का जीवन-इतिहास यही बात कहता है। १।

व्रत के भेद

देशसर्वतोऽणुमहती । २ ।

अल्प अंश में विरति अणुव्रत और सर्वांश में विरति महाव्रत है ।

प्रत्येक त्यागाभिलाषी व्यक्ति दोषों से निवृत्त होता है । किन्तु सबका त्याग समान नहीं होता और यह विकास-क्रम की दृष्टि से स्वाभाविक भी है । इसलिए यहाँ हिंसा आदि दोषों की थोड़ी या बहुत सभी निवृत्तियों को व्रत मानकर उनके संक्षेप में दो भेद किए गए हैं—महाव्रत और अणुव्रत ।

१. हिंसा आदि दोषों से मन, वचन, काय द्वारा सब प्रकार से छूट जाना, यह हिंसाविरमण ही महाव्रत है ।

२. चाहे जितना हो, लेकिन किसी भी अंश में कम छूटना—ऐसा हिंसा-विरमण अणुव्रत है ।

व्रतों की भावनाएँ

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च । ३ ।

उन (व्रतों) को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं ।

अत्यन्त सावधानीपूर्वक विशेष-विशेष प्रकार की अनुकूल प्रवृत्तियों का सेवन न किया जाय तो स्वीकार करने मात्र से ही व्रत आत्मा में नहीं उतर जाते । ग्रहण किए हुए व्रत जीवन में गहरे उतरें, इसीलिए प्रत्येक व्रत के अनुकूल थोड़ी-बहुत प्रवृत्तियाँ स्थूल दृष्टि से विशेष रूप में गिनाई गई हैं, जो भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं । यदि इन भावनाओं के अनुसार ठीक-ठीक बर्ताव किया जाय तो अंगीकृत व्रत प्रयत्नशील के लिए उत्तम औषधि के समान सुन्दर परिणामकारक सिद्ध होते हैं । वे भावनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं :

१. ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन—ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ।

२. अनुवीचिभाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, निर्भयता और हास्य-प्रत्याख्यान—ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ।

३. अनुवीचिअवग्रहयाचन, अभीक्ष्णअवग्रहयाचन, अवग्रहावधारण, साधर्मिक से अवग्रहयाचन और अनुज्ञापितपानभोजन—ये अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ।

४. स्त्री, पशु अथवा नपुंसक द्वारा सेवित शयन आदि का वर्जन, रागपूर्वक स्त्रीकथा का वर्जन, स्त्रियों के मनोहर अंगों के अवलोकन का वर्जन, पहले के

रतिविलास के स्मरण का वर्जन और प्रणीतरस-भोजन का वर्जन—ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

५. मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा शब्द पर समभाव रखना—ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

भावनाओं का स्पष्टीकरण—१. स्व-पर को क्लेश न हो, इस प्रकार यत्न-पूर्वक गमन करना ईर्यासमिति है। मन को अशुभ ध्यान से बचाकर शुभ ध्यान में लगाना मनोगुप्ति है। वस्तु का गवेषण, उसका ग्रहण या उपयोग इन तीन एषणाओं में दोष न लगने देने का ध्यान रखना एषणासमिति है। वस्तु को लेते-छोड़ते समय अवलोकन व प्रमार्जन आदि द्वारा उठाना-रखना आदान-निक्षेपण-समिति है। खाने-पीने की वस्तु को भलीभाँति देख-भालकर लेना और बाद में भी देख-भालकर खाना-पीना आलोकितपानभोजन है।

२. विचारपूर्वक बोलना अनुवीचिभाषण है। क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का त्याग करना ये चार भावनाएँ और हैं।

३. सम्यक् विचार करके ही उपयोग के लिए आवश्यक अवग्रह—स्थान की याचना करना अनुवीचिअवग्रहयाचन है। राजा, कुटुम्बपति, शय्यातर—जिसकी भी जगह माँगकर ली गई हो, ऐसे साधर्मिक आदि अनेक प्रकार के स्वामी हो सकते हैं। उनमें से जिस-जिस स्वामी से जो-जो स्थान माँगने में विशेष औचित्य प्रतीत हो उनसे वही स्थान माँगना तथा एक बार देने के बाद मालिक ने वापिस ले लिया हो, फिर भी रोग आदि के कारण विशेष आवश्यक होने पर उसके स्वामी से इस प्रकार बार-बार लेना कि उसको क्लेश न होने पावे—यह अभीक्ष्ण-अवग्रहयाचन है। मालिक से माँगते समय ही अवग्रह का परिमाण निश्चित कर लेना अवग्रहावधारण है। अपने से पहले दूसरे किसी समानधर्मी ने कोई स्थान ले लिया हो और उसी स्थान को उपयोग में लाने का प्रसंग आ जाय तो उस साधर्मिक से ही स्थान माँगना साधर्मिकअवग्रहयाचन है। विधिपूर्वक अन्न-पानादि लाने के बाद गुरु को दिखाकर उनकी अनुज्ञापूर्वक ही उपयोग करना अनुज्ञापितपानभोजन है।

४. ब्रह्मचारी पुरुष या स्त्री का अपने से विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवित शयन व आसन का त्याग करना स्त्रीपशुपण्डकसेवितशयनासन-वर्जन है। ब्रह्मचारी का कामवर्धक बातें न करना रागसंयुक्तस्त्रीकथा-वर्जन है। ब्रह्मचारी का अपने विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगों को न देखना मनोहरेन्द्रियावलोकन-वर्जन है। ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पहले के भोगों का स्मरण न करना पूर्वरतिविलासस्मरण-वर्जन है। कामोद्दीपक रसयुक्त खानपान का त्याग करना प्रणीतरसभोजन-वर्जन है।

५. राग उत्पन्न करनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना और द्वेषोत्पादक हों तो रुष्ट न होना ये क्रमशः मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शसमभाव एवं मनोज्ञामनोज्ञरससमभाव आदि पाँच भावनाएँ हैं।

जैनधर्म त्यागलक्षी है, अतः जैन-संघ में महाव्रतधारी साधु का स्थान ही प्रथम है। यही कारण है कि यहाँ महाव्रत को लक्ष्य में रखकर साधुधर्म के अनुसार ही भावनाओं का वर्णन किया गया है। फिर भी इतना तो है ही कि कोई भी व्रतधारी अपनी भूमिका के अनुसार इनमें संकोचविस्तार कर सके इसलिए देश-काल की परिस्थिति और आन्तरिक योग्यता को ध्यान में रखकर व्रत की स्थिरता के शुद्ध उद्देश्य से ये भावनाएँ संख्या तथा अर्थ में घटाई-बढ़ाई तथा पल्लवित की जा सकती हैं।

कई अन्य भावनाएँ

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् । ४ ।

दुःखमेव वा । ५ ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु । ६ ।

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् । ७ ।

हिंसा आदि पाँच दोषों में ऐहिक आपत्ति और पारलौकिक अनिष्ट का दर्शन करना।

अथवा हिंसा आदि दोषों में दुःख ही है, ऐसी भावना करना।

प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-वृत्ति, गुणिजनों के प्रति प्रमोद-वृत्ति, दुःखी जनों के प्रति करुणा-वृत्ति और अयोग्य पात्रों के प्रति माध्यस्थ्य-वृत्ति रखना।

संवेग तथा वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करना।

जिसका त्याग किया जाता है उसके दोषों का यथार्थ दर्शन होने से ही त्याग टिकता है। यही कारण है कि अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता के लिए हिंसा आदि में उनके दोषों का दर्शन करना आवश्यक माना गया है। यह दोष-दर्शन यहाँ दो प्रकार से बताया गया है। हिंसा, असत्य आदि के सेवन से जो ऐहिक आपत्तियाँ स्वयं को अथवा दूसरों को अनुभव करनी पड़ती हैं उनका भान सदा ताजा रखना ही ऐहिक दोषदर्शन है। इन्हीं हिंसा आदि दोषों से

पारलौकिक अनिष्ट की जो सम्भावना होती है उसका ध्यान रखना पारलौकिक दोषदर्शन है। इन दोनों प्रकार के दोषदर्शन के संस्कारों को बढ़ाते रहना अहिंसा आदि व्रतों की भावनाएँ हैं।

पहले की ही भाँति त्याज्य वृत्तियों में दुःख के दर्शन का अभ्यास किया हो तभी उनका त्याग भलीभाँति टिक सकता है। इसके लिए हिंसा आदि दोषों को दुःखरूप मानने की वृत्ति के अभ्यास (दुःख-भावना) का यहाँ उपदेश दिया गया है। अहिंसादि व्रतों का धारक हिंसा आदि से अपने को होनेवाले दुःख के समान दूसरों को होनेवाले दुःख की कल्पना करे, यही दुःख-भावना है। यह भावना इन व्रतों के स्थिरीकरण में भी उपयोगी है।

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ तो किसी सद्गुण के अभ्यास के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी होने से अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता में विशेष उपयोगी हैं। इसी विचार से यहाँ पर इन चार भावनाओं का उल्लेख किया गया है। इन चार भावनाओं का विषय अमुक अंश में तो अलग-अलग ही है, क्योंकि उस-उस विषय में इन भावनाओं का अभ्यास किया जाय तभी वास्तविक परिणाम आता है। इसीलिए इन भावनाओं के साथ इनका विषय भी अलग-अलग दर्शाया गया है।

१. प्राणिमात्र के साथ मैत्रीवृत्ति हो तभी प्रत्येक प्राणी के प्रति अहिंसक तथा सत्यवादी के रूप में बर्ताव किया जा सकता है। अतः मैत्री का विषय प्राणिमात्र है। मैत्री का अर्थ है दूसरे में अपनेपन की बुद्धि और इसीलिए अपने समान ही दूसरे को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा भावना।

२. कई बार मनुष्य को अपने से आगे बढ़े हुए व्यक्ति को देखकर ईर्ष्या होती है। जब तक इस वृत्ति का नाश नहीं हो जाता तब तक अहिंसा, सत्य आदि व्रत टिकते ही नहीं। इसीलिए ईर्ष्या के विपरीत प्रमोद-गुण की भावना के लिए कहा गया है। प्रमोद अर्थात् अपने से अधिक गुणवान् के प्रति आदर रखना तथा उसके उत्कर्ष को देखकर प्रसन्न होना। इस भावना का विषय अधिक गुणवान् ही है, क्योंकि उसके प्रति ही ईर्ष्या या असूया आदि दुर्वृत्तियाँ सम्भव हैं।

३. किसी को पीड़ित देखकर भी यदि अनुकम्पा का भाव पैदा न हो तो अहिंसा आदि व्रत कभी निभ नहीं सकते, इसलिए करुणा की भावना आवश्यक मानी गई है। इस भावना का विषय केवल क्लेश से पीड़ित दुःखी प्राणी है, क्योंकि दुःखी, दीन व अनाथ को ही अनुग्रह तथा मदद की अपेक्षा रहती है।

४. सर्वदा और सर्वत्र मात्र प्रवृत्तिपरक भावनाएँ ही साधक नहीं होतीं, कई बार अहिंसा आदि व्रतों को स्थिर करने के लिए तटस्थ भाव धारण करना बड़ा

उपयोगी होता है। इसी कारण यहाँ माध्यस्थ्य-भावना का उपदेश किया गया है। माध्यस्थ्य का अर्थ है उपेक्षा या तटस्थता। जब नितांत संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाय और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः शून्य ही दिखाई दे तो ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ भाव रखना ही उचित है। अतः माध्यस्थ्यभावना का विषय अविनेय या अयोग्य पात्र ही है।

संवेग तथा वैराग्य न हों तो अहिंसा आदि व्रतों का पालन सम्भव ही नहीं है। अतः इस व्रत के अभ्यासी में संवेग और वैराग्य का होना पहले आवश्यक है। संवेग अथवा वैराग्य का बीजवपन जगत्स्वभाव एवं शरीरस्वभाव के चिन्तन से होता है, इसीलिए इन दोनों के स्वभाव के चिन्तन का भावनारूप में यहाँ उपदेश किया गया है।

प्राणिमात्र को थोड़े-बहुत दुःख का अनुभव तो निरन्तर होता ही रहता है। जीवन सर्वथा विनश्वर है, अन्य वस्तुएँ भी टिकती नहीं। इस जगत्स्वभाव के चिन्तन से ही संसार का मोह दूर होता है और उससे भय या संवेग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शरीर के अस्थिर, अशुचि और असारता के स्वभावचिन्तन से बाह्याभ्यन्तर विषयों के प्रति अनासक्ति या वैराग्य उत्पन्न होता है। ४-७।

हिंसा का स्वरूप

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। ८।

प्रमत्तयोग से होनेवाला प्राणवध हिंसा है।

अहिंसा आदि जिन पाँच व्रतों का निरूपण पहले किया गया है उनको भली-भाँति समझने और जीवन में उतारने के लिए विरोधी दोषों का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। अतः यहाँ इन पाँच दोषों के निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस सूत्र में प्रथम दोष हिंसा की व्याख्या की गई है।

हिंसा की व्याख्या दो अंशों द्वारा पूरी की गई है। पहला अंश है प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेषयुक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति और दूसरा है प्राणवध। पहला अंश कारण-रूप है और दूसरा कार्य-रूप। इसका फलितार्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

प्रश्न—किसी के प्राण लेना या किसी को दुःख देना हिंसा है। हिंसा का यह अर्थ सबके जानने योग्य है और बहुत प्रसिद्ध भी है। फिर भी इस अर्थ में 'प्रमत्तयोग' अंश जोड़ने का कारण क्या है?

उत्तर—जब तक मानव-समाज के विचार और व्यवहार में उच्च संस्कार का प्रवेश नहीं होता तब तक मानव-समाज तथा अन्य प्राणियों के बीच जीवन-व्यवहार में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। पशु-पक्षी की भाँति असंस्कृत समाज के मनुष्य भी मानसिक वृत्तियों से प्रेरित होकर जाने-अनजाने जीवन की आवश्यकताओं के लिए अथवा बिना आवश्यकताओं के ही दूसरे जीवों के प्राण लेते हैं। मानव-समाज की हिंसा-मय इस प्राथमिक दशा में जब एकाध मनुष्य के विचार में हिंसा के स्वरूप के बारे में जागृति होती है तब वह प्रचलित हिंसा को दोषरूप कहता है और दूसरे के प्राण न लेने की प्रेरणा करता है। एक ओर हिंसा जैसी प्रथा के पुराने संस्कार और दूसरी ओर अहिंसा की नवीन भावना का उदय, इन दोनों के बीच संघर्ष होते समय हिंसकवृत्ति की ओर से हिंसा-निषेधक के समक्ष अनेक प्रश्न अपने-आप खड़े होने लगते हैं और वे उसके सामने रखे जाते हैं। संक्षेप में वे प्रश्न तीन हैं :

१. अहिंसा के समर्थक भी जीवन-धारण तो करते ही हैं और यह जीवन किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा किये बिना निभने योग्य न होने से उनसे जो हिंसा होती है उसे दोष कहा जाय या नहीं ?

२. भूल और अज्ञान का जब तक मानवीय वृत्ति में सर्वथा अभाव सिद्ध न हो जाय तब तक अहिंसा के समर्थकों के हाथों अनजाने या भूल से किसी का प्राण-नाश होना तो सम्भव ही है, अतः ऐसा प्राणनाश हिंसा-दोष में आयेगा या नहीं ?

३. कई बार अहिंसक वृत्ति का मनुष्य किसी को बचाने या उसको सुख-सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करता है, परन्तु परिणाम उलटा हो आता है, अर्थात् जिसको बचाना था उसी के प्राण चले जाते हैं। यह प्राणनाश हिंसा-दोष में आयेगा या नहीं ?

ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर उनके समाधान में हिंसा और अहिंसा के स्वरूप का विचार गम्भीर हो जाता है। फलतः हिंसा और अहिंसा का अर्थ विशाल हो जाता है। किसी के प्राण लेना या बहुत हुआ तो उसके निमित्त किसी को दुःख देना यह जो हिंसा का अर्थ समझा जाता था तथा किसी के प्राण न लेना और उसके निमित्त किसी को दुःख न देना यह जो अहिंसा का अर्थ समझा जाता था उसके स्थान पर अहिंसा के विचारकों ने सूक्ष्मतापूर्वक विचार करके निश्चय किया कि केवल किसी के प्राण लेने या किसी को दुःख देने में हिंसा-दोष है ही, यह नहीं कह सकते, क्योंकि प्राणवध या दुःख देने के साथ ही उसके पीछे वैसा करनेवाले की भावना का विचार करके ही हिंसा की सदोषता या निर्दोषता का

निर्णय किया जा सकता है। वह भावना अर्थात् राग-द्वेष की विविध ऊर्मियाँ तथा असावधानता, जिसको शास्त्रीय परिभाषा में प्रमाद कहते हैं, ऐसी अशुभ अथवा क्षुद्र भावना से हो यदि प्राणनाश हुआ हो या दुःख दिया गया हो तो वह हिंसा है और वही दोष-रूप भी है। ऐसी भावना के बिना यदि प्राणनाश हुआ हो या दुःख दिया गया हो तो वह देखने में भले ही हिंसा हो लेकिन दोषकोटि में नहीं आती। इस प्रकार हिंसक समाज में अहिंसा के संस्कारों के फैलने और उनके कारण विचार का विकास होने से दोषरूप हिंसा की व्याख्या के लिए केवल 'प्राणनाश' अर्थ ही पर्याप्त नहीं हुआ, इसीलिए उसमें 'प्रमत्तयोग' जैसा महत्त्वपूर्ण अंश बढ़ाया गया।

प्रश्न – हिंसा की इस व्याख्या से यह प्रश्न उठता है कि प्रमत्तयोग के बिना ही यदि प्राणवध हो जाय तो उसे हिंसा कहेंगे या नहीं? इसी प्रकार प्राणवध तो न हुआ हो लेकिन प्रमत्तयोग हो तब भी उसे हिंसा मानेंगे या नहीं? यदि इन दोनों स्थलों में हिंसा मानी जाय तो वह हिंसा प्रमत्तयोगजनित प्राणवधरूप हिंसा-कोटि की ही होगी या उससे भिन्न प्रकार की?

उत्तर—केवल प्राणवध स्थूल होने से दृश्य-हिंसा तो है ही, जब कि प्रमत्त-योग सूक्ष्म होने से अदृश्य है। इन दोनों में दृश्यत्व-अदृश्यत्व के अन्तर के अतिरिक्त ध्यान देने योग्य एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दूसरा भी है और उसी पर हिंसा की सदोषता या निर्दोषता निर्भर करती है। प्राणनाश देखने में भले ही हिंसा हो फिर भी वह सर्वथा दोषरूप नहीं है, क्योंकि यह दोषरूपता स्वाधीन नहीं है। हिंसा की सदोषता हिंसक की भावना पर अवलम्बित होती है, अतः वह पराधीन है। भावना स्वयं बुरी हो तभी प्राणवध दोषरूप होगा, भावना बुरी न हो तो वह प्राणवध भी दोषरूप नहीं होगा। इसीलिए शास्त्रीय परिभाषा में ऐसी हिंसा को द्रव्य-हिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा कहा गया है। द्रव्यहिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा का अर्थ यही है कि उसकी दोषरूपता अबाधित नहीं है। इसके विपरीत प्रमत्तयोगरूप जो सूक्ष्म भावना है वह स्वयं ही सदोष है, जिससे उसकी सदोषता स्वाधीन है अर्थात् वह स्थूल प्राणनाश या किसी अन्य बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है। स्थूल प्राणनाश करने या दुःख देने का प्रयत्न होने पर उलटा दूसरे का जीवन बढ़ गया हो या उसको सुख ही पहुँच गया हो, फिर भी यदि उसके पीछे भावना अशुभ रही हो तो वह सब एकान्त दोष-रूप ही समझा जायगा। यही कारण है कि ऐसी अशुभ भावना को शास्त्रीय परिभाषा में भावहिंसा अथवा निश्चय-हिंसा कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि उसकी दोषरूपता स्वाधीन होने से तीनों कालों में अबाधित रहती है। केवल प्रमत्तयोग या केवल प्राणवध

इन दोनों को स्वतन्त्र (अलग-अलग) हिंसा मान लेने और दोनों की दोष-रूपता का पूर्वोक्त रीति से तारतम्य जान लेने के बाद इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों प्रकार की हिंसाएँ प्रमत्तयोग-जनित प्राणवध जैसी हिंसा की कोटि की ही हैं या भिन्न प्रकार की। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भले ही स्थूल आँख न देख सके लेकिन तात्त्विक रूप से तो प्रमत्तयोग ही प्रमत्तयोग-जनित प्राणनाश की कोटि की हिंसा है और केवल प्राणनाश ऐसी हिंसा नहीं है जो उक्त कोटि में आ सके।

प्रश्न—यदि प्रमत्तयोग ही हिंसा की सदोषता का मूल बीज है तब तो हिंसा की व्याख्या इतनी ही पर्याप्त होगी कि 'प्रमत्तयोग हिंसा है।' यदि ऐसा हो तो यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि फिर हिंसा की व्याख्या में 'प्राणनाश' को स्थान देने का क्या कारण है?

उत्तर—तात्त्विक रूप में तो प्रमत्तयोग ही हिंसा है लेकिन समुदाय द्वारा सम्पूर्णतया और बहुत अंशों में उसका त्याग करना सम्भव नहीं। इसके विपरीत स्थूल होने पर भी प्राणवध का त्याग सामुदायिक जीवनहित के लिए वांछनीय है और यह बहुत अंशों में सम्भव भी है। प्रमत्तयोग न भी छूटा हो लेकिन स्थूल प्राणवधवृत्ति के कम हो जाने से भी प्रायः सामुदायिक जीवन में सुख-शान्ति रहती है। अहिंसा के विकास-क्रम के अनुसार भी समुदाय में पहले स्थूल प्राणनाश का त्याग और बाद में धीरे-धीरे प्रमत्तयोग का त्याग सम्भव होता है। इसीलिए आध्यात्मिक विकास में सहायक रूप में प्रमत्तयोगरूप हिंसा का ही त्याग इष्ट होने पर भी सामुदायिक जीवन की दृष्टि से हिंसा के स्वरूप के अन्तर्गत स्थूल प्राणनाश को स्थान दिया गया है तथा उसके त्याग को भी अहिंसा की कोटि में रखा गया है।

प्रश्न—यह तो सही है कि शास्त्रकार ने जिसे हिंसा कहा है उससे निवृत्त होना ही अहिंसा है। पर ऐसे अहिंसाव्रती के लिए जीवन-निर्माण की दृष्टि से क्या-क्या कर्तव्य अनिवार्य हैं?

उत्तर—१. जीवन को सादा बनाना और आवश्यकताओं को कम करना।

२. मानवीय वृत्ति में अज्ञान की चाहे जितनी गुंजाइश हो लेकिन पुरुषार्थ के अनुसार ज्ञान का भी स्थान है ही। इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय, इसका ध्यान रखना और यदि भूल हो जाय तो वह ध्यान से ओझल न हो सके, ऐसी दृष्टि बनाना।

३. आवश्यकताओं को कम करने और सावधान रहने का लक्ष्य रखने पर

भी चित्त के मूल दोष, जैसे स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होनेवाले दूसरे रागद्वेषादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।

प्रश्न—ऊपर हिंसा की जो दोषरूपता बतलाई गई है उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिससे चित्त की कोमलता कम हो और कठोरता बढ़े तथा स्थूल जीवन की तृष्णा बढ़े वही हिंसा की सदोषता है। जिससे कठोरता न बढ़े एवं सहज प्रेममय वृत्ति व अंतर्मुख जीवन में तनिक भी बाधा न पहुँचे, तब भले ही देखने में हिंसा हो, लेकिन वहाँ हिंसा की अदोषता है।

असत्य का स्वरूप

असदभिधानमनृतम्। ९।

असत् बोलना अनृत (असत्य) है।

सूत्र में असत्-कथन को असत्य कहा गया है, फिर भी उसका भाव व्यापक होने से उसमें असत्-चिन्तन, असत्-भाषण और असत्-आचरण इन सबका समावेश है। ये सभी असत्य हैं। जैसे अहिंसा की व्याख्या में 'प्रमत्तयोग' विशेषण लगा है वैसे ही असत्य तथा अदत्तादानादि[1] दोषों की व्याख्या में भी यह विशेषण जोड़ लेना चाहिए। इसलिए प्रमत्तयोगपूर्वक जो असत्-कथन है वह असत्य है, यह असत्य-दोष का फलित अर्थ है।

'असत्' शब्द के मुख्यतः दो अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं :

१. जो वस्तु अस्तित्व में हो उसका सर्वथा निषेध करना अथवा निषेध न करने पर भी जिस रूप में वस्तु हो उसको उस रूप में न कहकर उसका अन्यथा कथन करना असत् है।

२. गर्हित असत् अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीड़ा पहुँचाता हो ऐसा दुर्भावयुक्त कथन असत् है।

पहले अर्थ के अनुसार पास में पूँजी होने पर भी जब लेनदार (साहूकार) माँग करे तब कह देना कि कुछ भी नहीं है, यह असत्य है। इसी प्रकार पास में पूँजी है, यह स्वीकार कर लेने पर भी लेनदार सफल न हो सके इस प्रकार का वक्तव्य देना भी असत्य है।

---

१. अब्रह्म में 'प्रमत्तयोग' विशेषण नहीं लगता, क्योंकि यह दोष अप्रमत्त दशा में सम्भव ही नहीं है। इसीलिए तो ब्रह्मचर्य को निरपवाद कहा गया है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—**'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य'** नामक गुजराती निबन्ध।

दूसरे अर्थ के अनुसार किसी भी अनपढ़ या मूढ़ को नीचा दिखाने के लिए अथवा ऐसे ढंग से कि उसे दुःख पहुँचे, सत्य होने पर भी 'अनपढ़' या 'मूढ़' कहना असत्य है।

असत्य के उक्त अर्थ से सत्यव्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं :

१. प्रमत्तयोग का त्याग करना।

२. मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में एकरूपता रखना।

३. सत्य होने पर भी दुर्भाव से न तो अप्रिय सोचना, न बोलना और न करना। ९।

चोरी का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम्। १०।

बिना दिये लेना स्तेय (चोरी) है।

जिस वस्तु पर किसी दूसरे का स्वामित्व हो, भले ही वह वस्तु तृणवत् या मूल्यरहित हो, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना चौर्य-बुद्धि से ग्रहण करना स्तेय है।

इस व्याख्या से अचौर्यव्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं :

१. किसी भी वस्तु के प्रति लालची वृत्ति दूर करना।

२. जब तक ललचाने की आदत न छूटे तब तक लालच की वस्तु न्याय-पूर्वक अपने आप ही प्राप्त करना और दूसरे की ऐसी वस्तु आज्ञा के बिना लेने का विचार तक न करना। १०।

अब्रह्म का स्वरूप

मैथुनमब्रह्म। ११।

मैथुन-प्रवृत्ति अब्रह्म है।

मैथुन अर्थात् मिथुन की प्रवृत्ति। 'मिथुन' शब्द सामान्य रूप से स्त्री और पुरुष के 'जोड़े' के अर्थ में प्रसिद्ध है। फिर भी इसके अर्थ को कुछ विस्तृत करना आवश्यक है। जोड़ा स्त्री-पुरुष का, पुरुष-पुरुष का या स्त्री-स्त्री का भी हो सकता है। वह सजातीय—मनुष्य आदि एक जाति का अथवा विजातीय—मनुष्य, पशु आदि भिन्न-भिन्न जातियों का भी हो सकता है। ऐसे जोड़े की काम-राग के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक अथवा कायिक कोई भी प्रवृत्ति मैथुन अर्थात् अब्रह्म है।

प्रश्न—जहाँ जोड़ा न हो किन्तु स्त्री या पुरुष में से कोई एक ही व्यक्ति कामराग के आवेश में जड़ वस्तु के आलम्बन से अथवा अपने हस्त आदि अवयवों द्वारा मिथ्या आचार का सेवन करे तो ऐसी चेष्टा को उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार क्या मैथुन कह सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, अवश्य कह सकते हैं। क्योंकि मैथुन का मूल भावार्थ तो कामरागजनित चेष्टा ही है। यह अर्थ तो किसी एक व्यक्ति की वैसी दुश्चेष्टाओं पर भी लागू हो सकता है, अतः उसमें भी मैथुन का दोष है ही।

प्रश्न—मैथुन को अब्रह्म कहने का क्या कारण है ?

उत्तर—जो ब्रह्म न हो वह अब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ है—जिसके पालन और अनुसरण से सद्‌गुणों की वृद्धि हो। जिस ओर जाने से सद्‌गुणों की वृद्धि न हो, बल्कि दोषों का ही पोषण हो वह अब्रह्म है। मैथुन-प्रवृत्ति ऐसी है कि उसमें पड़ते ही सारे दोषों का पोषण और सद्‌गुणों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए मैथुन को अब्रह्म कहा गया है। ११।

परिग्रह का स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः। १२।

मूर्च्छा ही परिग्रह है।

मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति। वस्तु छोटी-बड़ी, जड़-चेतन, बाह्य या आन्तरिक चाहे जो हो या न भी हो तो भी उसमें बँध जाना अर्थात् उसकी लगन में विवेक-शून्य हो जाना परिग्रह है।

प्रश्न—हिंसा से परिग्रह तक के पाँच दोषों का स्वरूप ऊपर-ऊपर से भिन्न प्रतीत होता है, पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर उसमें कोई विशेष भेद नहीं है। वस्तुतः इन पाँचों दोषों की सदोषता का आधार राग, द्वेष और मोह ही है और यही हिंसा आदि वृत्तियों का जहर है। इसी से वे वृत्तियाँ दोषरूप हैं। यदि यह बात सत्य है तब 'राग-द्वेष आदि ही दोष हैं' इतना कहना ही काफी होगा। फिर दोष के हिंसा आदि पाँच या न्यूनाधिक भेदों का वर्णन क्यों किया जाता है ?

उत्तर—निःसन्देह कोई भी प्रवृत्ति राग-द्वेष आदि के कारण ही होती है। अतः मुख्य रूप से राग-द्वेष आदि ही दोष हैं और इन दोषों से विरत होना ही मुख्य व्रत है। फिर भी राग-द्वेषादि तथा ऐसी प्रवृत्तियों के त्याग का उपदेश तभी किया जा सकता है जब कि तज्जन्य प्रवृत्तियों के विषय में समझा दिया गया हो। स्थूल बुद्धिवाले लोगों के लिए दूसरा क्रम अर्थात् सीधे राग-द्वेषादि के त्याग का उपदेश सम्भव नहीं है। रागद्वेषजन्य असंख्य प्रवृत्तियों में से हिंसा, असत्य आदि

मुख्य हैं और वे प्रवृत्तियाँ ही मुख्य रूप से आध्यात्मिक या लौकिक जीवन को कुरेद डालती हैं। इसीलिए हिंसा आदि प्रवृत्तियों को पाँच भागों में बाँटकर पाँच दोषों का वर्णन किया गया है।

दोषों की इस संख्या में समय-समय पर और देश-भेद से परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा, फिर भी संख्या और स्थूल नाम के मोह में न पड़कर इतना जान लेना पर्याप्त है कि इन प्रवृत्तियों के राग, द्वेष व मोह आदि दोषों का त्याग करने की ही बात मुख्य है। अतः हिंसा आदि पाँच दोषों में कौन-सा दोष प्रधान है, किसका पहले या बाद में त्याग करना चाहिए यह प्रश्न ही नहीं रहता। हिंसादोष की व्यापक व्याख्या में असत्य आदि सभी दोष आ जाते हैं। इसी प्रकार असत्य या चोरी आदि किसी भी दोष की व्यापक व्याख्या में शेष सब दोष आ जाते हैं। यही कारण है कि अहिंसा को मुख्य धर्म माननेवाले हिंसादोष में असत्यादि सब दोषों को समाहित कर लेते हैं और केवल हिंसा के त्याग में ही अन्य सभी दोषों का त्याग भी समझते हैं। सत्य को परमधर्म माननेवाले असत्य में शेष सब दोषों को घटित कर केवल असत्य के त्याग में ही सब दोषों का त्याग समझते हैं। इसी प्रकार संतोष, ब्रह्मचर्य आदि को मुख्य धर्म माननेवाले भी समझते हैं। १२।

यथार्थ व्रती की प्राथमिक योग्यता

निःशल्यो व्रती। १३।

शल्यरहित ही व्रती होता है।

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के ग्रहण करने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन जाता। सच्चा व्रती बनने के लिए छोटी-से-छोटी और सबसे पहली शर्त एक ही है कि 'शल्य' का त्याग किया जाय। संक्षेप में शल्य तीन हैं: १. दम्भ–कपट, ढोंग अथवा ठगवृत्ति, २. निदान–भोगों की लालसा, ३. मिथ्यादर्शन—सत्य पर श्रद्धा न रखना अथवा असत्य का आग्रह। ये तीनों दोष मानसिक हैं। ये मन और तन दोनों को कुरेद डालते हैं और आत्मा भी कभी स्वस्थ नहीं रह पाती। शल्ययुक्त आत्मा किसी कारण से व्रत ग्रहण कर भी ले, किंतु वह उनके पालन में एकाग्र नहीं हो पाती। जैसे किसी अंग में काँटा या तीक्ष्ण वस्तु चुभ जाय तो वह शरीर और मन को व्याकुल बना डालती है और आत्मा को भी कार्य में एकाग्र नहीं होने देती, वैसे ही ये मानसिक दोष भी उसी प्रकार की व्यग्रता पैदा करते हैं। इसीलिए व्रती बनने के लिए उनका त्याग प्रथम शर्त के रूप में आवश्यक माना गया है। १३।

व्रती के भेद

अगार्यनगारश्च । १४ ।

व्रती के अगारी (गृहस्थ) और अनगार (त्यागी) ये दो भेद हैं।

प्रत्येक व्रतधारी की योग्यता समान नहीं होती । इसीलिए यहाँ योग्यता के तारतम्य के अनुसार संक्षेप में व्रती के दो भेद किए गए हैं—१. अगारी और २. अनगार । अगार अर्थात् घर । जिसका घर के साथ सम्बन्ध हो वह अगारी अर्थात् गृहस्थ । जिसका घर के साथ सम्बन्ध न हो वह अनगार अर्थात् त्यागी, मुनि ।

अगारी और अनगार इन दोनों शब्दों का सरल अर्थ घर में रहना या न रहना ही है । लेकिन यहाँ इनका यह तात्पर्य अपेक्षित है कि विषयतृष्णा से युक्त अगारी है तथा विषयतृष्णा से मुक्त अनगार । इसका फलितार्थ यह है कि कोई घर में रहता हुआ भी विषयतृष्णा से मुक्त हो तो अनगार ही है तथा कोई घर छोड़कर जंगल में जा बसे लेकिन विषयतृष्णा से मुक्त नहीं है तो वह अगारी ही है । अगारीपन और अनगारपन की एक यही सच्ची एवं प्रमुख कसौटी है तथा इसके आधार पर ही यहाँ व्रती के दो भेद वर्णित हैं ।

प्रश्न—यदि कोई विषयतृष्णा होने के कारण अगारी है तो फिर उसे व्रती कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है । जैसे कोई व्यक्ति अपने घर आदि किसी नियत स्थान में ही रहता है और फिर भी अमुक शहर में रहता है—ऐसा व्यवहार अपेक्षाविशेष से करते हैं, वैसे ही विषयतृष्णा के रहने पर भी अल्पांश में व्रत का सम्बन्ध होने से उसे व्रती कहा जा सकता है । १४ ।

अगारी व्रती

अणुव्रतोऽगारी । १५ ।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च । १६ ।

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता । १७ ।

अणुव्रतधारी अगारी व्रती कहलाता है ।

वह व्रती दिग्विरति, देशविरति अनर्थदण्डविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग—इन व्रतों से भी सम्पन्न होता है ।

वह मारणान्तिक संलेखना का भी आराधक होता है ।

जो अहिंसा आदि व्रतों को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करने में समर्थ नहीं है, फिर भी त्यागवृत्तियुक्त है, वह गार्हस्थिक मर्यादा में रहकर अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार इन व्रतों को अल्पांश में स्वीकार करता है। ऐसा गृहस्थ 'अणुव्रतधारी श्रावक' कहा जाता है।

सम्पूर्णरूप से स्वीकार किये जानेवाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं। उनके स्वीकरण की प्रतिज्ञा में सम्पूर्णता के कारण तारतम्य नहीं रखा जाता। जब व्रतों को अल्पांश में स्वीकार किया जाता है, तब अल्पता की विविधता के कारण प्रतिज्ञा भी अनेक प्रकार से अलग-अलग ली जाती है। फिर भी एक-एक अणुव्रत की विविधता में न जाकर सूत्रकार ने सामान्यतः गृहस्थ के अहिंसा आदि व्रतों का एक-एक अणुव्रत के रूप में वर्णन किया है। ये अणुव्रत पाँच हैं, जो मूलभूत हैं अर्थात् त्याग के प्रथम स्तम्भ होने से मूलगुण या मूलव्रत कहलाते हैं। इनकी रक्षा, पुष्टि अथवा शुद्धि के निमित्त गृहस्थ अन्य भी अनेक व्रत स्वीकार करता है, जो उत्तरगुण[1] या उत्तरव्रत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तरव्रत संक्षेप में सात हैं तथा गृहस्थ व्रती जीवन के अन्तिम समय में जिस एक व्रत को लेने के लिए प्रेरित होता है, उसे संलेखना कहा जाता है। यहाँ उसका भी निर्देश है। इन सभी व्रतों का स्वरूप यहाँ संक्षेप में बतलाया जा रहा है।

पाँच अणुव्रत—१. छोटे-बड़े प्रत्येक जीव की मानसिक, वाचिक, कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग सम्भव न होने के कारण अपनी निश्चित की हुई गृहस्थ-मर्यादा, जितनी अल्प-हिंसा से निभ सके उससे अधिक हिंसा का त्याग करना

१. सामान्यतः भ० महावीर की समग्र परम्परा में अणुव्रतों की पाँच संख्या, उनके नाम तथा क्रम में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, दिगम्बर परम्परा में कुछ आचार्यों ने रात्रि-भोजन के त्याग को छठे अणुव्रत के रूप में गिना है। परन्तु उत्तरगुण के रूप में माने हुए श्रावक के व्रतों के विषय में प्राचीन व नवीन अनेक परम्पराएँ हैं। तत्त्वार्थसूत्र में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत के स्थान पर देशविरमणव्रत को रखा गया है, जब कि आगमों में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है तथा देशविरमणव्रत को सामायिकव्रत के बाद गिना है। ऐसे क्रम-भेद के बावजूद जो तीन व्रत गुण-व्रत के रूप में और चार व्रत शिक्षाव्रत के रूप में माने जाते हैं उनमें कोई अन्तर नहीं है। उत्तरगुणों के विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय में छः विभिन्न परम्पराएँ देखने में आती हैं। कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, स्वामी कार्तिकेय, जिनसेन और वसुनन्दी इन आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। इस मतभेद में कहीं नाम का, कहीं क्रम का, कहीं संख्या का और कहीं अर्थविकास का अन्तर है। यह सब स्पष्टरूप से जानने के लिए देखें—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार की **जैनाचार्यों का शासन-भेद** नामक पुस्तक, पृ० २१ से आगे।

अहिंसाणुव्रत है। इसी प्रकार असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित रूप में त्याग करना—२. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

तीन गुणव्रत—६. अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व व पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करके उस सीमा के बाहर सब प्रकार के अधर्म-कार्यों से निवृत्त होना दिग्विरतिव्रत है। ७. सर्वदा के लिए दिशा का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद भी उसमें से प्रयोजन के अनुसार समय-समय पर क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर अधर्म-कार्य से सर्वथा निवृत्त होना देशविरति-व्रत है। ८. अपने भोगरूप प्रयोजन के लिए होनेवाले अधर्म-व्यापार के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण अधर्म-व्यापार से निवृत्त होना अर्थात् कोई निरर्थक प्रवृत्ति न करना अनर्थदण्डविरतिव्रत है।

चार शिक्षाव्रत—९. काल का अभिग्रह लेकर अर्थात् अमुक समय तक अधर्म-प्रवृत्ति का त्याग करके धर्मप्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। १०. अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा या किसी दूसरी तिथि में उपवास करके और सब प्रकार की शरीर-विभूषा का त्याग करके धर्म-जागरण में तत्पर रहना पौषधोपवास-व्रत है। ११. अधिक अधर्म की संभावनावाले खान-पान, आभूषण, वस्त्र, बर्तन आदि का त्याग करके अल्प अधर्मवाली वस्तुओं की भी भोग के लिए मर्यादा बाँधना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है। १२. न्याय से उपार्जित और खपनेवाली खान-पान आदि के योग्य वस्तुओं का शुद्ध भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को इस प्रकार दान देना कि उससे उभय पक्ष का हित हो—अतिथिसंविभागव्रत है।

संलेखना—कषायों को नष्ट करने के लिए उनके निर्वाहक और पोषक कारणों को कम करते हुए कषायों को मन्द करना संलेखनाव्रत है। यह व्रत वर्तमान शरीर का अन्त होने तक के लिए लिया जाता है। इसको मारणान्तिक संलेखना कहते हैं। गृहस्थ भी श्रद्धापूर्वक संलेखनाव्रत स्वीकार करके उसका सम्पूर्णतया पालन करते हैं, इसीलिए उन्हें इस व्रत का आराधक कहा गया है।

प्रश्न—संलेखनाव्रत धारण करनेवाला मनुष्य अनशन आदि द्वारा शरीर का अन्त करता है। यह तो आत्महत्या है और यह स्वहिंसा ही है। फिर इसको व्रत मानकर त्यागधर्म में स्थान देना कहाँ तक उचित है?

उत्तर—यह भले ही दुःख या प्राणनाश दिखाई दे, पर इतने मात्र से यह व्रत हिंसा की कोटि में नहीं आता। वास्तविक हिंसा का स्वरूप तो राग, द्वेष एवं मोह की वृत्ति से ही बनती है। संलेखनाव्रत में प्राणनाश है, पर वह राग, द्वेष एवं मोह के न होने से हिंसा की कोटि में नहीं आता, अपितु निर्मो-

हृत्व और वीतरागत्व साधने की भावना में से ही यह व्रत उत्पन्न होता है और इस भावना की सिद्धि के प्रयत्न के कारण ही यह व्रत पूर्ण बनता है। इसलिए यह हिंसा नहीं है, अपितु शुभध्यान अथवा शुद्धध्यान की कोटि का होने से इसको त्यागधर्म में स्थान प्राप्त है।

प्रश्न—जैनेतर पन्थों में प्राणनाश करने की और धर्म मानने की कमलपूजा, भैरवजप, जलसमाधि आदि अनेक प्रथाएँ प्रचलित थीं एवं हैं; उनमें और संलेखना में क्या अन्तर है ?

उत्तर—प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से भले ही ये समान दिखाई दें, किन्तु भेद तो उनमें निहित भावना में ही होता है। कमलपूजा आदि के पीछे कोई भौतिक आशा या दूसरा प्रलोभन न हो और केवल भक्ति का आवेश या अर्पण की वृत्ति हो, ऐसी स्थिति में तथा आवेश या प्रलोभन से रहित संलेखना की स्थिति में अगर कोई अन्तर कहा जा सकता है तो वह भिन्न-भिन्न तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित भिन्न-भिन्न उपासनाओं में निहित भावनाओं का ही है। जैन-उपासना का ध्येय उसके तत्त्वज्ञान के अनुसार परार्पण या परप्रसन्नता नहीं है, अपितु आत्म-शोधन मात्र है। पुराने समय से चली आई धर्म्य प्राणनाश की विविध प्रथाओं का उसी ध्येय की दृष्टि से संशोधित रूप जो कि जैन संप्रदाय में प्रचलित है, संलेखनाव्रत है। इसीलिए संलेखनाव्रत का विधान विशिष्ट संयोगों में किया गया है।

जब जीवन का अन्त निश्चित रूप से समीप दिखाई दे, धर्म एवं आवश्यक कर्तव्यों का नाश हो रहा हो तथा किसी तरह का दुर्ध्यान न हो उसी स्थिति में यह व्रत विधेय माना गया है। १५–१७।

सम्यग्दर्शन के अतिचार

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः। १८।

शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा तथा अन्यदृष्टिसंस्तव ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

ऐसे स्खलन अतिचार कहलाते हैं जिनसे कोई भी स्वीकार किया हुआ गुण मलिन हो जाता है और धीरे-धीरे ह्रास होते-होते नष्ट हो जाता है।

सम्यक्त्व ही चारित्रधर्म का मूल आधार है। उसकी शुद्धि पर ही चारित्र-शुद्धि अवलम्बित है। इसलिए जिनसे सम्यक्त्व की शुद्धि में विघ्न पहुँचने की

सम्भावना है ऐसे अतिचारों का यहाँ पाँच भागों में वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं :

१. शङ्कातिचार—आर्हत्-प्रवचन की दृष्टि स्वीकार करने के बाद उसमें वर्णित अनेक सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों (जो केवल केवलज्ञानगम्य तथा आगमगम्य हों) के विषय में शङ्का करना कि 'वे ऐसे होंगे या नहीं ?' संशय और तत्पूर्वक परीक्षा का जैन तत्त्वज्ञान में पूर्ण स्थान होने पर भी यहाँ शङ्का को अतिचार कहने का अभिप्राय इतना ही है कि तर्कवाद से परे के पदार्थों को तर्कदृष्टि से कसने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए। क्योंकि साधक श्रद्धागम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य नहीं कर सकता, जिससे अन्त में वह बुद्धिगम्य प्रदेश को भी छोड़ देता है। अतः जिससे साधना के विकास में बाधा आती हो वैसी शङ्का अतिचार के रूप में त्याज्य है।

२. कांक्षातिचार—ऐहिक और पारलौकिक विषयों की अभिलाषा करना। यदि ऐसी कांक्षा होगी तो साधक गुणदोष का विचार किए बिना ही चाहे जब अपना सिद्धान्त छोड़ देगा, इसीलिए उसे अतिचार कहा गया है।

३. विचिकित्सातिचार—जहाँ भी मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित हो वहाँ अपने-आप कोई निर्णय न करके केवल मतिमन्दता या अस्थिर-बुद्धि के कारण यह सोचना कि 'यह बात भी ठीक है और वह बात भी ठीक हो सकती है'। बुद्धि की यह अस्थिरता साधक को किसी एक तत्त्व पर कभी स्थिर नहीं रहने देती, इसीलिए इसे अतिचार कहा गया है।

४-५. मिथ्यादृष्टिप्रशंसा व मिथ्यादृष्टिसंस्तव अतिचार—जिसकी दृष्टि मिथ्या हो उसकी प्रशंसा करना या उससे परिचय करना। भ्रान्तदृष्टि से युक्त व्यक्तियों में भी कई बार विचार, त्याग आदि गुण मिलते हैं। गुण और दोष का भेद किए बिना उन गुणों से आकृष्ट होकर वैसे व्यक्ति की प्रशंसा करने अथवा उससे परिचय करने से अविवेकी साधक के सिद्धान्त से स्खलित होने का डर रहता है। इसीलिए अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव को अतिचार माना गया है। मध्यस्थता और विवेकपूर्वक गुण को गुण और दोष को दोष समझनेवाले साधक के लिए भी उक्त प्रकार के प्रशंसा और संस्तव सर्वथा हानिकारक होते हैं, ऐसी बात नहीं है।

उक्त पाँचों अतिचार व्रती श्रावक और साधु के लिए समान हैं, क्योंकि दोनों के लिए सम्यक्त्व साधारण धर्म है। १८।

व्रत व शील के अतिचारों की संख्या तथा नाम-निर्देश

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् । १९ ।
बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः । २० ।
मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्र-भेदाः । २१ ।
स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः । २२ ।
परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्र-कामाभिनिवेशाः । २३ ।
क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः । २४ ।
ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि । २५ ।
आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । २६ ।
कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-भोगाधिकत्वानि । २७ ।
योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । २८ ।
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्य-नुपस्थापनानि । २९ ।
सचित्तसम्बद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः । ३० ।
सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः । ३१ ।
जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि । ३२ ।

व्रतों और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं :

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार का लादना और अन्न-पान का निरोध ये पाँच अतिचार प्रथम अहिंसा अणुव्रत के हैं।

मिथ्योपदेश, रहस्याभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्रभेद ये पाँच अतिचार दूसरे सत्य अणुव्रत के हैं।

स्तेनप्रयोग, स्तेनाहृतादान, विरोधी राज्य का अतिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अतिचार तीसरे अचौर्य अणुव्रत के हैं।

परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश ये पाँच अतिचार चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रत के हैं।

क्षेत्र और वास्तु, हिरण्य और सुवर्ण, धन और धान्य, दासी और दास एवं कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम ये पाँच अतिचार पाँचवें परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान ये पाँच अतिचार छठे दिग्विरति व्रत के हैं।

आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप ये पाँच अतिचार सातवें देशविरति व्रत के हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्य-अधिकरण और उपभोग का आधिक्य ये पाँच अतिचार आठवें अनर्थदण्डविरमण व्रत के हैं।

कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिक व्रत के हैं।

अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदान-निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार पौषध व्रत के हैं।

सचित्त आहार, सचित्तसम्बद्ध आहार, सचित्तसंमिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्व आहार ये पाँच अतिचार भोगोपभोग व्रत के हैं।

सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार अतिथिसंविभाग व्रत के हैं।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदानकरण ये पाँच अतिचार मारणान्तिक संलेखना के हैं।

श्रद्धा और ज्ञान-पूर्वक स्वीकार किए जानेवाले नियम को व्रत कहते हैं। इसके अनुसार श्रावक के बारह व्रत 'व्रत' शब्द में आ जाते हैं। फिर भी यहाँ व्रत और शील इन दो शब्दों के प्रयोग द्वारा यह निर्देश किया गया है कि चारित्र-धर्म के मूल नियम अहिंसा-सत्य आदि पाँच हैं, दिग्विरमण आदि शेष नियम इन मूल नियमों की पुष्टि के लिए ही हैं। प्रत्येक व्रत और शील के पाँच-पाँच अतिचार मध्यमदृष्टि से ही गिनाए गए हैं, क्योंकि संक्षेपदृष्टि से तो कम भी सोचे जा सकते हैं एवं विस्तारदृष्टि से पाँच से अधिक भी हो सकते हैं।

चारित्र का अर्थ है रागद्वेष आदि विकारों का अभाव साधकर समभाव का परिशीलन करना। चारित्र के इस मूल स्वरूप को सिद्ध करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि जो नियम व्यावहारिक जीवन में उतारे जाते हैं वे सभी चारित्र

कहलाते हैं। व्यावहारिक जीवन देश, काल आदि की परिस्थिति तथा मानव-बुद्धि की संस्कारिता के अनुसार बनता है, अतः उक्त परिस्थिति और संस्कारिता के परिवर्तन के साथ ही जीवन-व्यवहार भी बदलता रहता है। यही कारण है कि चारित्र का मूल स्वरूप एक होने पर भी उसके पोषक रूप में स्वीकार किए जानेवाले नियमों की संख्या तथा स्वरूप में परिवर्तन अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्रों में श्रावक के व्रत व नियम भी अनेक प्रकार से विभिन्न रूप में मिलते हैं और भविष्य में भी इनमें परिवर्तन होता रहेगा। फिर भी यहाँ ग्रन्थकार ने श्रावक-धर्म के तेरह भेद मानकर प्रत्येक भेद के अतिचारों का कथन किया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं :

अहिंसाव्रत के अतिचार—१. बन्ध—किसी भी प्राणी को उसके इष्टस्थान पर जाते हुए रोकना या बाँधना। २. वध—लाठी या चाबुक आदि से प्रहार करना। ३. छविच्छेद—कान, नाक, चमड़ी आदि अवयवों का भेदन या छेदन करना। ४. अतिभारारोपण—मनुष्य या पशु आदि पर शक्ति से ज्यादा भार लादना। ५. अन्नपाननिरोध—किसी के खाने-पीने में रुकावट डालना। उत्सर्ग मार्ग यह है कि किसी भी प्रयोजन के बिना व्रतधारी गृहस्थ इन दोषों का कदापि सेवन न करे, परन्तु घर-गृहस्थी का कार्य आ पड़ने पर विशेष प्रयोजन के कारण यदि इनका सेवन करना ही पड़े तब भी कोमलभाव से ही काम लेना चाहिए। १९-२०।

सत्यव्रत के अतिचार—१. मिथ्योपदेश—सही-गलत समझाकर किसी को विपरीत मार्ग में डालना। २. रहस्याभ्याख्यान—रागवश विनोद के लिए किसी पति-पत्नी को अथवा अन्य स्नेही जनों को एक-दूसरे से अलग कर देना अथवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना। ३. कूटलेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का आदि चलाना। ४. न्यासापहार—कोई धरोहर रखकर भूल जाय तो उसका लाभ उठाकर थोड़ी या पूरी धरोहर दबा जाना। ५. साकारमंत्रभेद—किन्हीं की आपसी प्रीति तोड़ने के विचार से एक-दूसरे की चुगली करना या किसी की गुप्त बात प्रकट कर देना। २१।

अस्तेयव्रत के अतिचार—१. स्तेनप्रयोग—किसी को चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरित करना या दूसरे के द्वारा प्रेरणा दिलाना अथवा वैसे कार्य में सहमत होना। २. स्तेन-आहृतादान—प्रेरणा या सम्मति के बिना चोरी करके लाई गई चीज ले लेना। ३. विरुद्धराज्यातिक्रम—वस्तुओं के आयात-निर्यात पर राज्य की ओर से कुछ बन्धन लगे होते हैं अथवा कर आदि की व्यवस्था रहती है, राज्य के इन नियमों का उल्लंघन करना। ४. हीनाधिक मानोन्मान—न्यूनाधिक माप, बाट

या तराजू आदि से लेन-देन करना। ५. प्रतिरूपकव्यवहार--असली के बदले नकली वस्तु चलाना। २२।

ब्रह्मचर्यव्रत[1] **के अतिचार**--१. परविवाहकरण--निजी संतति के उपरांत कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह-सम्बन्ध से दूसरे की संतति का विवाह करना। २. इत्वरपरिगृहीतागमन--किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री का उसी कालावधि में भोग करना। ३. अपरिगृहीतागमन--वेश्या का, जिसका पति विदेश चला गया है उस वियोगिनी स्त्री का अथवा किसी अनाथ या किसी पुरुष के कब्जे में न रहनेवाली स्त्री का उपभोग करना। ४. अनंगक्रीड़ा--अस्वाभाविक अर्थात् सृष्टिविरुद्ध काम का सेवन। ५. तीव्रकामाभिलाष--बार-बार उद्दीपन करके विविध प्रकार से कामक्रीड़ा करना। २३।

अपरिग्रहव्रत के अतिचार--१. क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम--जो जमीन खेती-बाड़ी के योग्य हो वह क्षेत्र और जो रहने योग्य हो वह वास्तु, इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभवश मर्यादा का अतिक्रमण करना। २. हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम--गढ़े हुए या बिना गढ़े हुए चाँदी और स्वर्ण दोनों के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना। ३. धनधान्य-प्रमाणातिक्रम--गाय, भैंस आदि पशुधन और गेहूँ, बाजरा आदि धान्य के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना। ४. दासीदास-प्रमाणातिक्रम--नौकर, चाकर आदि कर्मचारियों के प्रमाण का अतिक्रमण करना। ५. कुप्यप्रमाणातिक्रम--बर्तनों और वस्त्रों के प्रमाण का अतिक्रमण करना। २४।

दिग्विरमणव्रत के अतिचार--१. ऊर्ध्वव्यतिक्रम--वृक्ष, पर्वत आदि पर चढ़ने की ऊँचाई के स्वीकृत प्रमाण का लोभ आदि विकार के कारण भंग करना। २-३. अधो तथा तिर्यग्व्यतिक्रम--इसी प्रकार नीचे तथा तिरछे जाने के प्रमाण का मोहवश भङ्ग करना। ४. क्षेत्रवृद्धि--भिन्न-भिन्न दिशाओं का भिन्न-भिन्न प्रमाण स्वीकार करने के बाद कम प्रमाणवाली दिशा में मुख्य प्रसंग आ पड़ने पर दूसरी दिशा के स्वीकृत प्रमाण में से अमुक भाग घटाकर इष्ट दिशा के प्रमाण में वृद्धि करना। ५. स्मृत्यन्तर्धान--प्रत्येक नियम के पालन का आधार स्मृति है, यह जानकर भी प्रमाद या मोह के कारण नियम के स्वरूप या उसकी मर्यादा को भूल जाना। २५।

---

१. इसकी विशेष व्याख्या के लिए देखें--**'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य'** नामक गुजराती निबन्ध।

देशावकाशिकव्रत के अतिचार—१. आनयनप्रयोग—जितने प्रदेश का नियम लिया हो, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जाकर संदेश आदि द्वारा दूसरे से उसके बाहर की वस्तु मँगवा लेना। २. प्रेष्यप्रयोग— स्थान सम्बन्धी स्वीकृत मर्यादा के बाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना और न दूसरे से ही उस वस्तु को मँगवाना किन्तु नौकर आदि से आज्ञापूर्वक वहीं बैठे-बिठाए काम करा लेना। ३. शब्दानुपात—स्वीकृत मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को बुलाकर काम कराने के लिए खाँसी आदि द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना। ४. रूपानुपात—किसी तरह का शब्द न कर आकृति आदि बतलाकर दूसरे को अपने पास आने के लिए सावधान करना। ५. पुद्गलक्षेप—कंकड़, ढेला आदि फेंककर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना। २६।

अनर्थदंडविरमणव्रत के अतिचार—१. कन्दर्प—रागवश असभ्य भाषण तथा परिहास आदि करना। २. कौत्कुच्य—परिहास व अनिष्ट भाषण के अतिरिक्त नट-भाँड जैसी शारीरिक कुचेष्टाएँ करना। ३. मौखर्य—निर्लज्जता से सम्बन्धरहित एवं अधिक बकवाद करना। ४. असमीक्ष्याधिकरण—अपनी आवश्यकता का बिना विचार किए अनेक प्रकार के सावद्य उपकरण दूसरे को उसके काम के लिए देते रहना। ५. उपभोगाधिक्य—आवश्यकता से अधिक वस्त्र, आभूषण, तेल, चन्दन आदि रखना। २७।

सामायिकव्रत के अतिचार—१. कायदुष्प्रणिधान—हाथ, पैर आदि अंगों को व्यर्थ और बुरी तरह से चलाते रहना। २. वचनदुष्प्रणिधान—संस्कार-रहित तथा अर्थ-रहित एवं हानिकारक भाषा बोलना। ३. मनोदुष्प्रणिधान—क्रोध, द्रोह आदि विकारों के वश होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करना। ४. अनादर—सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्त न होना अथवा ज्यों-त्यों प्रवृत्ति करना। ५. स्मृति-अनुपस्थापन—एकाग्रता का अभाव अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना। २८।

पौषधव्रत के अतिचार—१. अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में उत्सर्ग—आँखों से बिना देखे ही कि कोई जीव है या नहीं, एवं कोमल उपकरण से प्रमार्जन किए बिना ही जहाँ-तहाँ मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का त्याग करना। २. अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदाननिक्षेप—इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किए बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना। ३. अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम—प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किए बिना ही बिछौना करना या आसन बिछाना। ४. अनादर—पौषध में उत्साहरहित ज्यों-त्यों करके

स्मृति करना । ५. स्मृत्यनुपस्थापन—पौषध कब और कैसे करना या न करना एवं किया है या नहीं इत्यादि का स्मरण न रहना । २९ ।

भोगोपभोगव्रत के अतिचार—१. सचित्त-आहार—किसी भी वनस्पति आदि सचेतन पदार्थ का आहार करना । २. सचित्तसम्बद्ध आहार—कड़े बीज या गुठली आदि सचेतन पदार्थ से युक्त बेर या आम आदि पके फलों को खाना । ३. सचित्त-संमिश्र आहार—तिल, खसखस आदि सचित्त वस्तु से मिश्रित लड्डू आदि का भोजन अथवा चींटी, कुन्थु आदि से मिश्रित वस्तु का सेवन करना । ४. अभिषव-आहार—किसी भी प्रकार के एक मादक द्रव्य का सेवन करना अथवा विविध द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मद्य आदि रस का सेवन करना । ५. दुष्पक्व-आहार—अधपके या ठीक से न पके हुए पदार्थ को खाना । ३० ।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार—१. सचित्तनिक्षेप—खाने-पीने की देने योग्य वस्तु को काम में न आने जैसी बना देने की बुद्धि से किसी सचेतन वस्तु में रख देना । २. सचित्तपिधान—इसी प्रकार देय वस्तु को सचेतन वस्तु से ढँक देना । ३. परव्यपदेश—अपनी देय वस्तु को दूसरे की बताकर उसके दान से अपने को चतुराईपूर्वक बचा लेना । ४. मात्सर्य—दान देते हुए भी आदर न रखना अथवा दूसरे के दानगुण की ईर्ष्या से दान देने के लिए तत्पर होना । ५. कालातिक्रम—किसी को कुछ देना न पड़े इस आशय से भिक्षा का समय न होने पर भी खा-पी लेना । ३१ ।

संलेखनाव्रत के अतिचार—१. जीविताशंसा—पूजा, सत्कार आदि विभूति देखकर लालचवश जीवन की अभिलाषा । २. मरणाशंसा—सेवा, सत्कार आदि करने के लिए किसी को पास आते न देखकर उद्वेग के कारण मृत्यु को चाहना । ३. मित्रानुराग—मित्रों पर या मित्रतुल्य पुत्रादि पर स्नेह-बन्धन रखना । ४. सुखानुबन्ध—अनुभूत सुखों का स्मरण करके उन्हें ताजा बनाना । ५. निदानकरण—तप व त्याग का बदला किसी भी तरह के भोग के रूप में चाहना ।

ऊपर वर्णित अतिचारों का यदि जानबूझकर अथवा वक्रतापूर्वक सेवन किया जाय तब तो वे व्रत के खण्डनरूप होकर अनाचार कहलाएँगे और भूल से असावधानीपूर्वक सेवन किए जाने पर अतिचार कहे जाएँगे । ३२ ।

दान तथा उसकी विशेषता

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् । ३३ ।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः । ३४ ।

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है ।

विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से दान की विशेषता है।

दानधर्म समस्त सद्गुणों का मूल है, अतः पारमार्थिक दृष्टि से उसका विकास अन्य सद्गुणों के उत्कर्ष का आधार है और व्यवहार-दृष्टि से मानवीय व्यवस्था के सामंजस्य का आधार है।

दान का अर्थ है न्यायपूर्वक प्राप्त वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण। यह अर्पण करनेवाले तथा स्वीकार करनेवाले दोनों का उपकारक होना चाहिए। इसमें अर्पण-कर्ता का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हटे और इस प्रकार उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकारकर्ता का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसे अपनी जीवनयात्रा में मदद मिले और परिणामस्वरूप उसके सद्गुणों का विकास हो।

दानरूप में सभी दान समान होने पर भी उनके फल में तरतमभाव रहता है। यह तरतमभाव दानधर्म की विशेषता के कारण होता है। यह विशेषता मुख्यतया दानधर्म के चार अङ्गों की विशेषता के अनुसार होती है। इन चार अङ्गों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—१. विधि—विधि की विशेषता में देश, काल का औचित्य और प्राप्तकर्ता के सिद्धान्त को बाधा न पहुँचे ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण इत्यादि बातों का समावेश है। २. द्रव्य—द्रव्य की विशेषता में देय वस्तु के गुणों का समावेश होता है। जिस वस्तु का दान किया जाय वह प्राप्त-कर्ता पात्र की जीवनयात्रा में पोषक तथा परिणामतः उसके निजी गुणविकास में निमित्त बननेवाली हो। ३. दाता—दाता की विशेषता में पात्र के प्रति श्रद्धा का होना, उसके प्रति तिरस्कार या असूया का न होना तथा दान देते समय या बाद में विषाद न करना इत्यादि दाता के गुणों का समावेश है। ४. पात्र—सत्पुरुषार्थ के लिए जागरूक रहना दान लेनेवाले पात्र की विशेषता है। ३३-३४।

●

: ८ :

बन्ध

आस्रव के विवेचन के प्रसंग से व्रत और दान का वर्णन करने के पश्चात् अब इस आठवें अध्याय में बन्धतत्त्व का वर्णन किया जाता है।

बन्धहेतुओं का निर्देश

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । १ ।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच बन्ध के हेतु हैं।

बन्ध के स्वरूप का वर्णन आगे सूत्र २ में आया है। यहाँ उसके हेतुओं का निर्देश है। बन्ध के हेतुओं की संख्या के विषय में तीन परम्पराएँ दिखाई देती हैं। एक परम्परा के अनुसार कषाय और योग ये दो ही बन्धहेतु हैं। दूसरी परम्परा में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बन्धहेतु माने गए हैं। तीसरी परम्परा में उक्त चार हेतुओं में प्रमाद को बढ़ाकर पाँच बन्धहेतुओं का वर्णन है। संख्या और उसके कारण नामों में भेद दिखाई देने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओं में कोई अन्तर नहीं है। प्रमाद एक तरह का असंयम ही है, अतः वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही है। इसी दृष्टि से कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में चार बन्धहेतु कहे गए हैं। मिथ्यात्व और असंयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं पड़ते, अतः कषाय और योग को ही बन्धहेतु कहा गया है।

प्रश्न—सचमुच यदि ऐसी ही बात है तब प्रश्न होता है कि उक्त संख्याभेद की विभिन्न परम्पराओं का आधार क्या है ?

उत्तर—कोई भी कर्मबन्ध हो, उस समय उसमें अधिक-से-अधिक जिन चार अंशों का निर्माण होता है, कषाय और योग ये दोनों ही उनके अलग-अलग कारण हैं, क्योंकि प्रकृति एवं प्रदेश अंशों का निर्माण योग से होता है एवं स्थिति तथा अनुभागरूप अंशों का निर्माण कषाय से। इस प्रकार एक ही कर्म में उत्पन्न होनेवाले उक्त चार अंशों के कारणों का विश्लेषण करने के विचार से शास्त्र में

कषाय और योग इन दो बन्धहेतुओं का कथन है तथा आध्यात्मिक विकास की चढ़ाव-उतारवाली भूमिकास्वरूप गुणस्थानों में बँधनेवाली कर्मप्रकृतियों के तरतम-भाव के कारण को दर्शाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओं का कथन है। जिस गुणस्थान में जितने अधिक बन्धहेतु होंगे उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा और जहाँ ये बन्धहेतु कम होंगे वहाँ कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। इस प्रकार मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं के कथन की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानों में तर-तमभाव को प्राप्त होनेवाले कर्मबन्ध के कारण के स्पष्टीकरण के लिए है और कषाय एवं योग इन दो हेतुओं के कथन की परम्परा किसी एक ही कर्म में सम्भावित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करने के लिए है। पाँच बन्धहेतुओं की परम्परा का आशय चार बन्धहेतुओं की परम्परा से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है और यदि है भी तो केवल इतना ही कि जिज्ञासु शिष्यों को बन्धहेतुओं का विस्तार से ज्ञान हो जाय।

बन्धहेतुओं की व्याख्या

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो सम्यग्दर्शन से विपरीत होता है। सम्यग्दर्शन वस्तु का तात्त्विक श्रद्धान होने से विपरीतदर्शन दो तरह का फलित होता है—१. वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और २. वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे में इतना ही अन्तर है कि पहला बिलकुल मूढ़दशा में भी हो सकता है, जब कि दूसरा विचारदशा में ही होता है। अभिनिवेश के कारण विचारशक्ति का विकास होने पर भी जब किसी एक ही दृष्टि को पकड़ लिया जाता है तब अतत्त्व में पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्या-दर्शन कहलाती है जो उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कही जाती है। जब विचार-दशा जाग्रत न हुई हो तब अनादिकालीन आवरण के कारण केवल मूढ़ता होती है। उस समय तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता तो अतत्त्व का भी श्रद्धान नहीं होता। इस दशा में मात्र मूढ़ता होने से उसे तत्त्व का अश्रद्धान कह सकते हैं। वह नैसर्गिक या उपदेशनिरपेक्ष होने से अनभिगृहीत कहा जाता है। दृष्टि या पन्थ सम्बन्धी सभी ऐकान्तिक कदाग्रह अभिगृहीत मिथ्यादर्शन हैं जो मनुष्य जैसी विकसित जाति में हो सकते हैं। दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कीट, पतंग आदि मूर्च्छित चेतना-वाली जातियों में ही सम्भव है।

अविरति, प्रमाद—अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना। प्रमाद अर्थात् आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में अनादर, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति में असावधानी।

कषाय, योग—कषाय अर्थात् समभाव की मर्यादा तोड़ना। योग का अर्थ है मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति।

छठे अध्याय में वर्णित तत्प्रदोष आदि बन्धहेतुओं और यहाँ पर निर्दिष्ट मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओं में इतना ही अन्तर है कि तत्प्रदोषादि प्रत्येक कर्म के विशिष्ट बन्धहेतु होने से विशेष हैं, जब कि मिथ्यात्व आदि समस्त कर्मों के समान बन्धहेतु होने से सामान्य हैं। मिथ्यात्व से लेकर योग तक पाँचों हेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्धहेतु होंगे वहाँ बाद के भी सभी होंगे यह नियम है, जैसे मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि चार और अविरति के होने पर प्रमाद आदि शेष तीन अवश्य होंगे। परन्तु जब उत्तर बन्धहेतु होगा तब पूर्व बन्धहेतु हो और न भी हो, जैसे अविरति के होने पर पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता। इसी प्रकार दूसरे हेतुओं के विषय में भी समझना चाहिए। १।

बन्ध का स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। २।

स बन्धः। ३।

कषाय के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है। वह बन्ध है।

पुद्गल की अनेक वर्गणाएँ (प्रकार) हैं। उनमें से जो वर्गणाएँ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं उन्हीं को जीव ग्रहण करके अपने आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप से जोड़ देता है, अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्मसम्बन्धवाला होने से मूर्तवत् हो जाता है। अतः वह मूर्त कर्मपुद्गलों का ग्रहण करता है। जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला में परिणत कर लेता है वैसे ही जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप में परिणत कर लेता है। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। ऐसे बन्ध में मिथ्यात्व आदि अनेक निमित्त होते हैं, फिर भी यहाँ कषाय के सम्बन्ध से पुद्गलों का ग्रहण होने की बात अन्य हेतुओं की अपेक्षा कषाय की प्रधानता प्रदर्शित करने के लिए ही कही गई है। २-३।

बन्ध के प्रकार

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः। ४।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश ये चार उसके (बन्ध के) प्रकार हैं।

कर्मपुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किए जाने पर कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ यही है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है और वे अंश ही बन्ध के प्रकार हैं। उदाहरणार्थ बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाई हुई घास आदि चीजें जब दूध के रूप में परिणत होती हैं तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है; वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप में बना रह सके ऐसी कालमर्यादा उसमें निर्मित होती है; इस मधुरता में तीव्रता, मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं और साथ ही इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी बनता है। इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण होकर उसके प्रदेशों में संश्लेष को प्राप्त कर्म-पुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश हैं।

१. कर्मपुद्गलों में ज्ञान को आवरित करने, दर्शन को रोकने, सुख-दुःख देने आदि का जो स्वभाव बनता है वह स्वभावनिर्माण ही प्रकृतिबन्ध है। २. स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक काल तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्गलों में निर्मित होती है, यह कालमर्यादा का निर्माण ही स्थिति-बन्ध है। ३. स्वभावनिर्माण के साथ ही उसमें तीव्रता, मन्दता आदि रूप में फलानुभव करानेवाली विशेषताएँ बँधती हैं, यही अनुभावबन्ध है। ४. ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होनेवाली कर्मपुद्गलराशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिमाण में बँट जाती है, यह परिमाणविभाग ही प्रदेशबन्ध है।

बन्ध के इन चार प्रकारों में से पहला और अन्तिम दोनों योग के आश्रित हैं, क्योंकि योग के तरतमभाव पर ही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तरतमभाव अवलम्बित है। दूसरा और तीसरा प्रकार कषाय के आश्रित है, क्योंकि कषाय की तीव्रता-मन्दता पर ही स्थिति और अनुभाव बन्ध की अल्पाधिकता अव-लम्बित है। ४।

मूलप्रकृति-भेदों का नामनिर्देश

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः। ५।

प्रथम अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है।

अध्यवसाय-विशेष से जीव द्वारा एक ही बार में गृहीत कर्मपुद्गलराशि में एक साथ आध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभाव निर्मित होते हैं। वे स्वभाव अदृश्य होते हैं, फिर भी उनका परिगणन उनके कार्य प्रभाव—को देखकर किया जा सकता है। एक या अनेक जीवों पर होनेवाले कर्म के

असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं। वास्तव में इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी असंख्यात हैं। फिर भी संक्षेप में वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागों में बाँट दिया गया है। यही मूलप्रकृतिबन्ध है। इन्हीं आठ मूलप्रकृति-भेदों का नाम-निर्देश यहाँ किया गया है। वे हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तराय।

१. ज्ञानावरण—जिसके द्वारा ज्ञान (विशेषबोध) का आवरण हो। २. दर्शनावरण—जिसके द्वारा दर्शन (सामान्यबोध) का आवरण हो। ३. वेदनीय—जिससे सुख या दुःख का अनुभव हो। ४. मोहनीय—जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो। ५. आयुष्क—जिससे भव धारण हो। ६. नाम—जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति हो। ७. गोत्र—जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले। ८. अन्तराय—जिससे दान के देने-लेने तथा भोगादि में विघ्न पड़े।

कर्म के विविध स्वभावों के संक्षेप में आठ भाग हैं, फिर भी विस्तृतरुचि के जिज्ञासुओं के लिए मध्यममार्ग का अवलंबन करके उन आठ का पुनः दूसरे प्रकार से वर्णन किया गया है, जो उत्तरप्रकृतिभेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तर-प्रकृति-भेद ९७ हैं। वे मूलप्रकृति के क्रम से आगे बतलाए गए हैं। ५।

उत्तरप्रकृति-भेदों की संख्या और नामनिर्देश

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्। ६।

मत्यादीनाम्। ७।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च। ८।

सदसद्वेद्ये। ९।

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः। १०।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। ११।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च। १२।

उच्चैर्नीचैश्च। १३।

दानादीनाम्। १४।

आठ मूलप्रकृतियों के क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो तथा पाँच भेद हैं।

मति आदि पाँच ज्ञानों के आवरण पाँच ज्ञानावरण हैं।

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि-रूप पाँच वेदनीय—ये नौ दर्शनावरणीय हैं।

प्रशस्त (सुखवेदनीय) और अप्रशस्त (दुःखवेदनीय)—ये दो वेदनीय हैं।

दर्शनमोह, चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन चारों के क्रमशः तीन, दो, सोलह और नौ भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, तदुभय (सम्यक्त्वमिथ्यात्व) ये तीन दर्शनमोहनीय के भेद हैं। कषाय और नोकषाय ये दो चारित्रमोहनीय के भेद हैं। इनमें से क्रोध, मान, माया और लोभ ये प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के रूप में चार-चार प्रकार के होने से कषायचारित्रमोहनीय के सोलह भेद बनते हैं तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषायचारित्रमोहनीय के भेद हैं।

नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार आयु के भेद हैं।

गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति तथा साधारण और प्रत्येक, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश और यश एवं तीर्थंकरत्व—ये बयालीस नामकर्म के प्रकार हैं।

उच्च और नीच—ये दो गोत्रकर्म के प्रकार हैं।

दान आदि के पाँच अन्तराय हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की प्रकृतियाँ—१. मति आदि पाँच ज्ञान और चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनों का वर्णन पहले हो चुका है।[1] उनमें से प्रत्येक का आवरण करनेवाले स्वभाव से युक्त कर्म क्रमशः मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण,

१. देखें—अ० १, सूत्र ९ से ३३; अ० २, सू० ९।

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पांच ज्ञानावरण हैं, तथा चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण हैं। उक्त चार के अतिरिक्त अन्य पांच दर्शनावरण इस प्रकार हैं—१. जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आये कि सुखपूर्वक जागा जा सके वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण है। २. जिस कर्म के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त कठिन हो वह निद्रानिद्रा-वेदनीय दर्शनावरण है। ३. जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही नींद आ जाय वह प्रचलावेदनीय दर्शनावरण है। ४. जिस कर्म के उदय से चलते-चलते ही नींद आ जाय वह प्रचलाप्रचलावेदनीय दर्शनावरण है। ५. जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट हो जाय वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण है; इस निद्रा में सहज बल से अनेकगुना अधिक बल प्रकट होता है। ७-८।

वेदनीय कर्म की प्रकृतियाँ—१. जिस कर्म के उदय से प्राणी को सुख का अनुभव हो वह सातावेदनीय और २. जिस कर्म के उदय से प्राणी को दुःख का अनुभव हो वह असातावेदनीय है। ९।

दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ—१. जिस कर्म के उदय से तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप में रुचि न हो वह मिथ्यात्वमोहनीय है। २. जिस कर्म के उदय-समय में यथार्थता की रुचि या अरुचि न होकर डाँवाडोल स्थिति रहे वह मिश्रमोहनीय है। ३. जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक-भाववाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है वह सम्यक्त्वमोहनीय है।

चारित्रमोहनीय कर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ

सोलह कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के मुख्य चार भेद हैं। तीव्रता के तरतमभाव की दृष्टि से प्रत्येक के चार-चार प्रकार हैं। जो कर्म क्रोध आदि चार कषायों को इतना अधिक तीव्र बना दे कि जिसके कारण जीव को अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़े वह कर्म अनुक्रम से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ है। जिन कर्मों के उदय से आविर्भाव को प्राप्त कषाय केवल इतने ही तीव्र हों कि विरति का ही प्रतिबन्ध कर सकें वे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनका विपाक देशविरति का प्रतिबन्ध न करके केवल सर्वविरति का ही प्रतिबन्ध करे वे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनके विपाक की तीव्रता सर्वविरति का प्रतिबन्ध तो न करे लेकिन उसमें स्खलन और मालिन्य उत्पन्न करे वे संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

नौ नोकषाय—१. हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्यमोहनीय है। २-३. कहीं प्रीति और कहीं अप्रीति के उत्पादक कर्म अनुक्रम से रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय हैं। ४. भयशीलता का जनक भयमोहनीय है। ५. शोकशीलता का जनक शोकमोहनीय है। ६. घृणाशीलता का जनक जुगुप्सामोहनीय है। ७. स्त्रैण-भाव-विकार का उत्पादक कर्म स्त्रीवेद है। ८. पौरुषभाव-विकार का उत्पादक कर्म पुरुषवेद है। ९. नपुंसकभाव-विकार का उत्पादक कर्म नपुंसकवेद है। ये नौ मुख्य कषाय के सहचारी एवं उद्दीपक होने से नोकषाय हैं। १०।

आयुष्कर्म के चार प्रकार—जिन कर्मों के उदय से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति मिलती है वे क्रमशः देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के आयुष्य हैं। ११।

नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ

चौदह पिण्डप्रकृतियाँ—१. सुख-दुःख भोगने के योग्य पर्यायविशेषरूप देवादि चार गतियों को प्राप्त करानेवाला कर्म गति है। २. एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचे-न्द्रियत्व तक समान परिणाम को अनुभव करानेवाला कर्म जाति है। ३. औदा-रिक आदि शरीर प्राप्त करानेवाला कर्म शरीर है। ४. शरीरगत अङ्गों और उपाङ्गों का निमित्तभूत कर्म अङ्गोपाङ्ग है। ५-६. प्रथम गृहीत औदारिक आदि पुद्गलों के साथ ग्रहण किए जानेवाले नवीन पुद्गलों का सम्बन्ध जो कर्म कराता है वह बन्धन है और बद्धपुद्गलों को शरीर के नानाविध आकारों में व्यवस्थित करनेवाला कर्म संघात है। ७-८. अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचनारूप संहनन और शरीर की विविध आकृतियों का निमित्त कर्म संस्थान है। ९-१२. शरीरगत श्वेत आदि पाँच वर्ण, सुरभि आदि दो गन्ध, तिक्त आदि पाँच रस, शीत आदि आठ स्पर्श—इनके नियामक कर्म अनुक्रम से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हैं। १३. विग्रह द्वारा जन्मान्तर-गमन के समय जीव को आकाश-प्रदेश की श्रेणी के अनुसार गमन करानेवाला कर्म आनुपूर्वी है। १४. प्रशस्त और अप्रशस्त गमन का नियामक कर्म विहायोगति है। ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ कहलाती हैं। इनके अवान्तर भेद भी हैं, इसीलिए यह नामकरण है।

त्रसदशक और स्थावरदशक—१-२. जिस कर्म के उदय से स्वतन्त्रभाव से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो वह त्रस और इसके विपरीत जिसके उदय से वैसी शक्ति प्राप्त न हो वह स्थावर है। ३-४. जिस कर्म के उदय से जीवों को चर्मचक्षु-गोचर बादर शरीर की प्राप्ति हो वह बादर, इसके विपरीत जिससे चर्म-चक्षु के अगोचर सूक्ष्मशरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म है। ५-६. जिस कर्म के उदय

से प्राणी स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे वह पर्याप्त, इसके विपरीत जिसके उदय से स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न कर सके वह अपर्याप्त है। ७-८. जिस कर्म के उदय से जीव को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो वह प्रत्येक और जिसके उदय से अनन्त जीवों का एक ही साधारण शरीर हो वह साधारण है। ९-१०. जिस कर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हों वह स्थिर और जिसके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हों वह अस्थिर है। ११-१२. जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हों वह शुभ और जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अप्रशस्त हों वह अशुभ है। १३-१४. जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोता में प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वर और जिस कर्म के उदय से श्रोता में अप्रीति उत्पन्न हो वह दुःस्वर है। १५-१६. जिस कर्म के उदय से कोई उपकार न करने पर भी जो सबको प्रिय लगे वह सुभग और जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी सबको प्रिय न लगे वह दुर्भग है। १७-१८. जिस कर्म के उदय से वचन बहुमान्य हो वह आदेय और जिस कर्म के उदय से वैसा न हो वह अनादेय है। १९-२०. जिस कर्म के उदय से दुनिया में यश व कीर्ति प्राप्त हो वह यशःकीर्ति और जिस कर्म के उदय से यश व कीर्ति प्राप्त न हो वह अयशःकीर्ति है।

आठ प्रत्येकप्रकृतियाँ—१. जिस कर्म के उदय से शरीर गुरु या लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु के रूप में परिणत होता है वह अगुरुलघु है। २. प्रतिजिह्वा, चोरदन्त, रसौली आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त करानेवाला कर्म उपघात है। ३. दर्शन या वाणी से दूसरे को निष्प्रभ कर देनेवाली दशा प्राप्त करानेवाला कर्म पराघात है। ४. श्वास लेने व छोड़ने की शक्ति का नियामक कर्म श्वासोच्छ्वास है। ५-६. अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म आतप और शीत प्रकाश का नियामक कर्म उद्योत है। ७. शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्गों को यथोचित स्थान में व्यवस्थित करनेवाला कर्म निर्माण है। ८. धर्म व तीर्थ प्रवर्तन करने की शक्ति देनेवाला कर्म तीर्थंकर है। १२।

गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियाँ—१. प्रतिष्ठा प्राप्त करानेवाले कुल में जन्म दिलानेवाला कर्म उच्चगोत्र और २. शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल में जन्म दिलानेवाला कर्म नीचगोत्र है। १३।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ—जो कर्म कुछ भी देने, लेने, एक बार या बार-बार भोगने और सामर्थ्य में अन्तराय (विघ्न) पैदा कर देते हैं वे क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म हैं। १४।

स्थितिबन्ध

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः । १५ ।

सप्ततिर्मोहनीयस्य । १६ ।

नामगोत्रयोर्विंशतिः । १७ ।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य । १८ ।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य । १९ ।

नामगोत्रयोरष्टौ । २० ।

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् । २१ ।

प्रथम तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चार कर्म-प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम है।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम है।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम है।

आयुष्क की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम है।

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

शेष पाँच अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के अधिकारी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं, जघन्य स्थिति के अधिकारी भिन्न-भिन्न जीव होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छहों की जघन्य स्थिति सूक्ष्म-सम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में सम्भव है। मोहनीय की जघन्य स्थिति नवें अनिवृत्तिबादरसम्पराय नामक गुणस्थान में सम्भव है। आयुष्य की जघन्य स्थिति संख्यातवर्षजीवी तिर्यंच और मनुष्य में सम्भव है। मध्यम स्थिति के असंख्यात प्रकार हैं और उनके अधिकारी भी काषायिक परिणाम की तरतमता के अनुसार असंख्यात हैं। १५-२१।

अनुभावबन्ध

विपाकोऽनुभावः । २२ ।

स यथानाम । २३ ।

ततश्च निर्जरा । २४ ।

विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति ही अनुभाव है।

अनुभाव का वेदन भिन्न-भिन्न कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव के अनुसार किया जाता है।

उससे अर्थात् वेदन से निर्जरा होती है।

अनुभाव और उसका बन्ध—बन्धनकाल में उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र-मन्द भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। फल देने का यह सामर्थ्य ही अनुभाव है और उसका निर्माण ही अनुभावबन्ध है।

अनुभाव का फल—अनुभाव समय आने पर ही फल देता है, परन्तु इस विषय में इतना ज्ञातव्य है कि प्रत्येक अनुभाव (फलप्रद)—शक्ति स्वयं जिस कर्म में निष्ठ हो उस कर्म के स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार ही फल देती है, अन्य कर्म के स्वभावानुसार नहीं। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण कर्म का अनुभाव उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल देता है—वह ज्ञान को ही आवृत करता है, दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नहीं देता। सारांश यह है कि वह न तो दर्शनशक्ति को आवृत करता है और न सुख-दुःख के अनुभाव आदि कार्य को ही उत्पन्न करता है। इसी प्रकार दर्शनावरण का अनुभाव दर्शन-शक्ति को तीव्र या मन्द रूप से आवृत करता है, ज्ञान के आच्छादन आदि अन्य कर्मों के कार्यों को नहीं करता।

कर्म के स्वभावानुसार विपाक के अनुभावबन्ध का नियम भी मूलप्रकृतियों पर ही लागू होता है, उत्तरप्रकृतियों पर नहीं। क्योंकि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद में अध्यवसाय के बल से उसी कर्म की अन्य उत्तरप्रकृति के रूप में बदल जाती है, जिससे पहली का अनुभाव परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मन्द फल देता है। जैसे मतिज्ञानावरण जब श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तरप्रकृति के रूप में संक्रमण करता है तब मतिज्ञानावरण का अनुभाव भी श्रुतज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान या अवधि आदि ज्ञान को आवृत करने का काम करता है। लेकिन उत्तरप्रकृतियों में कितनी ही ऐसी हैं जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नहीं करतीं। जैसे दर्शनमोह और चारित्रमोह में से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता। इसी प्रकार नारकआयुष्क तिर्यंचआयुष्क के रूप में अथवा अन्य किसी आयुष्क के रूप में संक्रमण नहीं करता।

प्रकृतिसंक्रमण की भाँति ही बन्धकालीन रस और स्थिति में भी बाद में अध्यवसाय के कारण परिवर्तन हो सकता है, तीव्ररस मन्द और मन्दरस तीव्र हो सकता है। इसी प्रकार स्थिति भी उत्कृष्ट से जघन्य और जघन्य से उत्कृष्ट हो सकती है।

फलोदय के बाद मुक्त कर्म की दशा—अनुभावानुसार कर्म के तीव्र-मन्द फल का वेदन हो जाने पर वह कर्म आत्मप्रदेशों से अलग हो जाता है अर्थात् फिर संलग्न नहीं रहता। यही कर्मनिवृत्ति—निर्जरा है। जैसे कर्म की निर्जरा उसके फल-वेदन से होती है वैसे ही प्रायः तप से भी होती है। तप के बल से अनुभावानुसार फलोदय के पहले ही कर्म आत्मप्रदेशों से अलग हो सकते हैं। यह बात सूत्र में 'च' शब्द द्वारा व्यक्त की गई है। २२-२४।

प्रदेशबन्ध

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। २५।

कर्म (प्रकृति) के कारणभूत सूक्ष्म, एकक्षेत्र को अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल योगविशेष से सभी ओर से सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध को प्राप्त होते हैं।

प्रदेशबन्ध एक प्रकार का सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध के दो आधार हैं—कर्मस्कन्ध और आत्मा। इनके विषय में जो आठ प्रश्न उत्पन्न होते हैं उन्हीं का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। प्रश्न इस प्रकार हैं :

१. जब कर्मस्कन्धों का बन्ध होता है तब उनमें क्या निर्माण होता है? २. इन स्कन्धों का ऊँचे, नीचे या तिरछे किन आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण होता है? ३. सभी जीवों का कर्मबन्ध समान होता है या असमान? यदि असमान होता है तो क्यों? ४. वे कर्मस्कन्ध स्थूल होते हैं या सूक्ष्म? ५. जीव-प्रदेशवाले क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धों का ही जीवप्रदेश के साथ बन्ध होता है या उससे भिन्न क्षेत्र में रहे हुए का भी होता है? ६. वे बन्ध के समय गतिशील होते हैं या स्थितिशील? ७. उन कर्मस्कन्धों का सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों में बन्ध होता है या कुछ ही आत्मप्रदेशों में? ८. वे कर्मस्कन्ध संख्यात, असंख्यात, अनन्त या अनन्तानन्त में से कितने प्रदेशवाले होते हैं?

इन आठों प्रश्नों के सूत्रगत उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं :

१. आत्मप्रदेशों के साथ बँधनेवाले पुद्गलस्कन्धों में कर्मभाव अर्थात् ज्ञानावरणत्व आदि प्रकृतियाँ बनती हैं। सारांश यह है कि वैसे स्कन्धों से उन प्रकृतियों

का निर्माण होता है। इसीलिए उन स्कन्धों को सभी प्रकृतियों का कारण कहा गया है। २. ऊँची, नीची और तिरछी सभी दिशाओं में रहे हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा कर्मस्कन्धों का ग्रहण होता है, किसी एक ही दिशा के आत्मप्रदेशों द्वारा नहीं। ३. सभी जीवों के कर्मबन्ध के असमान होने का कारण यह है कि सभी के मानसिक, वाचिक और कायिक योग (व्यापार) समान नहीं होते। यही कारण है कि योग के तरतमभाव के अनुसार प्रदेशबन्ध में भी तरतमभाव आ जाता है। ४. कर्मयोग्य पुद्गलस्कन्ध स्थूल (बादर) नहीं होते, सूक्ष्म ही होते हैं, वैसे सूक्ष्मस्कन्धों का ही कर्मवर्गणा में से ग्रहण होता है। ५. जीवप्रदेश के क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धों का ही बन्ध होता है, उसके बाहर के क्षेत्र के कर्मस्कन्धों का नहीं। ६. केवल स्थिर होने से ही बन्ध होता है, क्योंकि गतिशील स्कन्ध अस्थिर होने से बन्ध को प्राप्त नहीं होते। ७. प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्धों का सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध होता है। ८. बँधनेवाले समस्त कर्मयोग्य स्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओं के ही बने होते हैं, कोई भी संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं का बना हुआ नहीं होता। २५।

पुण्य और पाप प्रकृतियाँ

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्। २६।

सातावेदनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं (शेष सभी प्रकृतियाँ पापरूप हैं)।

जिन कर्मों का बन्ध होता है उनका विपाक केवल शुभ या अशुभ ही नहीं होता अपितु अध्यवसायरूप कारण की शुभाशुभता के निमित्त से वे शुभाशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। शुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक शुभ (इष्ट) होता है और अशुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक अशुभ (अनिष्ट) होता है। जिस परिणाम में संक्लेश जितना कम होगा वह परिणाम उतना ही अधिक शुभ और जिस परिणाम में संक्लेश जितना अधिक होगा वह परिणाम उतना ही अशुभ होगा। कोई भी एक परिणाम ऐसा नहीं है जिसे केवल शुभ या केवल अशुभ कहा जा सके। प्रत्येक परिणाम शुभ-अशुभ अथवा उभयरूप होने पर भी उसमें शुभत्व-अशुभत्व का व्यवहार गौणमुख्यभाव की अपेक्षा से किया जाता है, इसीलिए जिस शुभ परिणाम से पुण्य-प्रकृतियों में शुभ अनुभाग बँधता है उसी परिणाम से पाप-प्रकृतियों में अशुभ अनुभाग भी बँधता है। इसके विपरीत जिस परिणाम से अशुभ अनुभाग बँधता है उसी परिणाम से पुण्य-प्रकृतियों में शुभ अनुभाग

भी बँधता है। इतना ही अन्तर है कि जैसे प्रकृष्ट शुभ परिणाम से होनेवाला शुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट होता है वैसे ही प्रकृष्ट अशुभ परिणाम से बँधनेवाला अशुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है।

पुण्यरूप में प्रसिद्ध ४२ प्रकृतियाँ[1]—सातावेदनीय, मनुष्यायुष्क, देवायुष्क, तिर्यंच-आयुष्क, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति; औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँच शरीर; औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग, आहारक-अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रर्षभनाराच-संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श; मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माणनाम, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र।

पापरूप में प्रसिद्ध ८२ प्रकृतियाँ—पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, नारकायुष्क, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, प्रथम संहनन को छोड़ शेष पाँच संहनन—अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त; प्रथम संस्थान को छोड़ शेष पाँच संस्थान—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुंड; अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श; नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और पाँच अन्तराय। २६। ●

१. ये ४२ पुण्य-प्रकृतियाँ **कर्मप्रकृति व नवतत्त्व** आदि अनेक ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में भी ये ही प्रकृतियाँ पुण्यरूप में प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्र में पुण्य-रूप में निर्दिष्ट सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चार प्रकृतियों का अन्य किसी ग्रन्थ में पुण्यरूप से वर्णन नहीं है।

इन चार प्रकृतियों को पुण्यरूप माननेवाला मतविशेष बहुत प्राचीन है, ऐसा ज्ञात होता है; क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उपलब्ध इनके उल्लेख के उपरांत भाष्यवृत्तिकार ने भी मतभेद को दरसानेवाली कारिकाएँ दी हैं और लिखा है कि इस मंतव्य का रहस्य सम्प्रदाय-विच्छेद के कारण हमें मालूम नहीं होता। हाँ, चतुर्दशपूर्वधारी जानते होंगे।

: ९ :

संवर-निर्जरा

बन्ध के वर्णन के बाद अब इस नवें अध्याय में संवर एवं निर्जरा तत्त्व का निरूपण किया जाता है।

संवर का स्वरूप

आस्रवनिरोधः संवरः । १ ।

आस्रव का निरोध संवर है।

जिस निमित्त से कर्म का बन्ध होता है वह आस्रव है। आस्रव की व्याख्या पहले की जा चुकी है। आस्रव का निरोध अर्थात् प्रतिबन्ध करना ही संवर है। आस्रव के ४२ भेद पहले बतलाए जा चुके हैं। उनका जितने-जितने अंश में निरोध होगा उतने-उतने अंश में संवर कहा जाएगा। आध्यात्मिक विकास का क्रम ही आस्रव-निरोध के विकास पर आश्रित है। अतः जैसे-जैसे आस्रव-निरोध बढ़ता जाता है वैसे-वैसे गुणस्थान[1] की भी वृद्धि होती है।

संवर के उपाय

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । २ ।

तपसा निर्जरा च । ३ ।

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

तप से संवर और निर्जरा होती है।

१. जिस गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति आदि चार हेतुओं में से जो-जो हेतु सम्भव हों और उनके कारण जिन-जिन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सम्भव हो उन हेतुओं और तज्जन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद ही उस गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान का संवर है अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान के आस्रव या तज्जन्य बन्ध का अभाव ही उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थान का संवर है। इसके लिए देखें—दूसरे **कर्मग्रन्थ** में बन्धप्रकरण और चौथा **कर्मग्रन्थ** (गाथा ५१-५८) तथा प्रस्तुत सूत्र की **सर्वार्थसिद्धि** टीका।

सामान्यतः संवर का एक ही स्वरूप है, फिर भी प्रकारान्तर से उसके अनेक भेद कहे गए हैं। संक्षेप में से इसके ७ और विस्तार में ६९ उपाय बताए गए हैं। यह संख्या धार्मिक आचारों के विधानों पर अवलम्बित है।

जैसे तप संवर का उपाय है वैसे ही वह निर्जरा का भी प्रमुख कारण है। सामान्यतया तप अभ्युदय (लौकिक सुख) की प्राप्ति का साधन माना जाता है, फिर भी वह निःश्रेयस (आध्यात्मिक सुख) का भी साधन है, क्योंकि तप एक होने पर भी उसके पीछे की भावना के भेद के कारण वह सकाम और निष्काम दो प्रकार का हो जाता है। सकाम तप अभ्युदय का साधक है और निष्काम तप निःश्रेयस का। २-३।

गुप्ति का स्वरूप

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। ४।

योगों का भलीभाँति निग्रह करना गुप्ति है।

कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया अर्थात् योग का सभी प्रकार से निग्रह करना गुप्ति नहीं है, किन्तु प्रशस्त निग्रह ही गुप्ति होकर संवर का उपाय बनता है। प्रशस्त निग्रह का अर्थ है सोचसमझकर तथा श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया अर्थात् बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन, वचन और काय को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना। योग के संक्षेप में तीन भेद हैं, अतः निग्रहरूप गुप्ति के भी तीन भेद होते हैं :

१. किसी भी वस्तु के लेने व रखने में अथवा बैठने-उठने व चलने-फिरने में कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक हो, इस प्रकार शारीरिक व्यापार का नियमन करना ही कायगुप्ति है। २. बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर या तो वचन का नियमन करना या मौन धारण करना वचनगुप्ति है। ३. दुष्ट संकल्प एवं अच्छे-बुरे मिश्रित संकल्प का त्याग करना और अच्छे संकल्प का सेवन करना मनोगुप्ति है।

समिति के भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः। ५।

सम्यग्ईर्या, सम्यग्भाषा, सम्यग्एषणा, सम्यग्आदान-निक्षेप और सम्यग्उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

सभी समितियाँ विवेकयुक्त प्रवृत्तिरूप होने से संवर का उपाय बनती हैं। पाँचों समितियाँ इस प्रकार हैं :

१. ईर्यासमिति—किसी भी जन्तु (प्राणी) को क्लेश न हो, इसलिए सावधानीपूर्वक चलना । २. भाषासमिति—सत्य, हितकारी, परिमित और संदेहरहित बोलना । ३. एषणासमिति—जीवन-यात्रा में आवश्यक निर्दोष साधनों को जुटाने के लिए सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना । ४. आदाननिक्षेपसमिति—वस्तुमात्र को भलीभाँति देखकर एवं प्रमार्जित करके लेना या रखना । ५. उत्सर्गसमिति—जीव-रहित प्रदेश में देखभालकर एवं प्रमार्जित करके ही अनुपयोगी वस्तुओं का विसर्जन करना ।

प्रश्न—गुप्ति और समिति में क्या अन्तर है ?

उत्तर—गुप्ति में असत्क्रिया के निषेध की मुख्यता है और समिति में सत्क्रिया के प्रवर्तन की मुख्यता है । ५ ।

धर्म के भेद

उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः । ६ ।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस उत्तम धर्म हैं ।

क्षमा आदि गुणों को जीवन में उतारने से ही क्रोध आदि दोषों का अभाव होता है, इसीलिए इन गुणों को संवर का उपाय कहा गया है । क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म जब अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों तथा स्थान, आहार-शुद्धि आदि उत्तरगुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है तभी यतिधर्म बनता है, अन्यथा नहीं । अभिप्राय यह है कि अहिंसा आदि मूलगुणों या उत्तरगुणों के प्रकर्ष से रहित क्षमा आदि गुण भले ही सामान्य धर्म कहलाएँ पर यतिधर्म की कोटि में नहीं आ सकते । ये दस धर्म इस प्रकार हैं—

१. क्षमा—सहनशील रहना अर्थात् क्रोध पैदा न होने देना और उत्पन्न क्रोध को विवेक तथा नम्रता से निष्फल कर डालना । क्षमा की साधना के पाँच उपाय हैं : अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना, क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना, बालस्वभाव का विचार करना, अपने किए हुए कर्म के परिणाम का विचार करना और क्षमा के गुणों का चिन्तन करना ।

(क) कोई क्रोध करे तब उसके कारण को अपने में ढूंढना । यदि दूसरे के क्रोध का कारण अपने में दृष्टिगोचर हो तो ऐसा विचार करना कि भूल तो मेरी अपनी ही है, दूसरे की बात तो सच है । कदाचित् अपने में दूसरे के क्रोध का

कारण दिखाई न पड़े तो सोचना चाहिए कि यह बेचारा अज्ञान से मेरी भूल निकालता है। यही अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन है।

(ख) जिसे क्रोध आता है वह विभ्रममतियुक्त होने से आवेश में आकर दूसरे के साथ शत्रुता बाँधता है, फिर उसे मारता या हानि पहुँचाता है और इस तरह अपने अहिंसाव्रत को नष्ट करता है। इस प्रकार के अनर्थ का चिन्तन ही क्रोधवृत्ति के दोषों का चिन्तन कहलाता है।

(ग) कोई पीठपीछे निन्दा करे तो ऐसा चिन्तन करना कि बाल (नासमझ) लोगों का यह स्वभाव ही है, इसमें बात ही क्या है ? उलटा लाभ है जो बेचारा पीठपीछे गाली देता है, सामने तो नहीं आता। यही प्रसन्नता की बात है। जब कोई सामने आकर गाली दे तब ऐसा सोचना कि यह तो बालजनों की ही बात है, जो अपने स्वभाव के अनुसार ऐसा करते हैं, इससे अधिक तो कुछ करते नहीं। सामने आकर गाली ही देते हैं, प्रहार तो नहीं करते, यह भी लाभ ही है। इसी प्रकार यदि कोई प्रहार करे तो उपकार मानना कि वह प्राणमुक्त तो नहीं करता और यदि कोई प्राणमुक्त करे तब धर्मभ्रष्ट न कर सकने का लाभ मानकर अपने प्रति उसकी दया का चिन्तन करना। इस प्रकार जैसे-जैसे अधिक कठिनाइयाँ आयें वैसे-वैसे अपने में विशेष उदारता और विवेक का विकास करके उपस्थित कठिनाइयों को सरल बनाना ही बालस्वभाव का चिन्तन है।

(घ) कोई क्रोध करे तब यह सोचना कि इस अवसर पर दूसरा तो निमित्तमात्र है, वास्तव में यह प्रसंग मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है। यही अपने कृत कर्मों का चिन्तन है।

(ङ) कोई क्रोध करे तब यह सोचना कि 'क्षमा धारण करने से चित्त स्वस्थ रहता है, बदला लेने या प्रतिकार करने में व्यय होनेवाली शक्ति का उपयोग सन्मार्ग में किया जा सकता है'। यही क्षमा के गुणों का चिन्तन है।

२. **मार्दव**—चित्त में मृदुता और व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव गुण है। इसकी सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान (बुद्धि), श्रुत (शास्त्र), लाभ (प्राप्ति), वीर्य (शक्ति) के विषय में अपने को बड़ा या ऊँचा मानकर गर्वित न होना और इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके अभिमान के काँटे को निकाल फेंकना।

३. **आर्जव**—भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और व्यवहार की एकता ही आर्जव गुण है। इसकी प्राप्ति के लिए कुटिलता या मायाचारी के दोषों के परिणाम का विचार करना।

४. **शौच**—धर्म के साधनों तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना—ऐसी निर्लोभता शौच है।

५. **सत्य**—सत्पुरुषों के लिए हितकारी व यथार्थ वचन बोलना ही सत्य है। भाषासमिति और सत्य में अन्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ बोलचाल में विवेक रखना भाषासमिति है और अपने समशील साधु पुरुषों के साथ सम्भाषण-व्यवहार में हित, मित और यथार्थ वचन का उपयोग करना सत्य नामक यति-धर्म है।

६. **संयम**—मन, वचन और काय का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि में यतना (सावधानी) का अभ्यास करना संयम है।[1]

७. **तप**—मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के निमित्त अपेक्षित शक्ति की साधना के लिए किया जानेवाला आत्मदमन तप है।[2]

८. **त्याग**—पात्र को ज्ञानादि सद्गुण प्रदान करना त्याग है।

९. **आकिंचन्य**—किसी भी वस्तु में ममत्वबुद्धि न रखना आकिंचन्य है।

१०. **ब्रह्मचर्य**—त्रुटियों को दूर करने के लिए ज्ञानादि सद्गुणों का अभ्यास करना एवं गुरु[3] की अधीनता के सेवन के लिए ब्रह्म (गुरुकुल) में चर्य (बसना) ब्रह्मचर्य है। इसके परिपालनार्थ अतिशय उपकारक अनेक गुण हैं, जैसे आकर्षक

---

१. संयम के सत्रह प्रकार हैं, जो भिन्न-भिन्न रूप में हैं : पाँच इंद्रियों का निग्रह, पाँच अव्रतों का त्याग, चार कषायों का जय तथा मन, वचन और काय की विरति। इसी प्रकार पाँच स्थावर और चार त्रस ये नौ संयम तथा प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्य-संयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम और उपकरणसंयम इस तरह कुल सत्रह प्रकार का संयम है।

२. इसका वर्णन इसी अध्याय के सूत्र १९-२० में है। इसके उपरांत अनेक तपस्वियों द्वारा आचरित अलग-अलग प्रकार के तप जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। जैसे यवमध्य और वज्रमध्य ये दो; चान्द्रायण; कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली ये तीन; क्षुल्लक और महा ये दो सिंहविक्रीड़ित; सप्तसप्तमिका, अष्टअष्टमिका, नवनवमिका, दशदशमिका ये चार प्रतिमाएँ; क्षुद्र और महा ये दो सर्वतोभद्र; भद्रोत्तर आचाम्ल; वर्धमान एवं बारह भिक्षुप्रतिमाएँ इत्यादि। इनके विशेष वर्णन के लिए देखें—आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित **तपोरत्नमहोदधि** नामक ग्रन्थ।

३. गुरु (आचार्य) पाँच प्रकार के हैं—प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा, आम्नायार्थवाचक। जो प्रव्रज्या देता है वह प्रव्राजक, जो वस्तुमात्र की अनुज्ञा प्रदान करे वह दिगाचार्य, जो आगम का प्रथम पाठ पढ़ाए वह श्रुतोद्देष्टा, जो स्थिर परिचय कराने के लिए आगम का विशेष प्रवचन करे वह श्रुतसमुद्देष्टा और जो आम्नाय के उत्सर्ग और अपवाद का रहस्य बतलाए वह आम्नायार्थवाचक कहलाता है।

स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द और शरीर-संस्कार आदि में न उलझना। इसी प्रकार अध्याय ७ के सूत्र ३ में वर्णित चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनाओं का विशेष रूप से अभ्यास करना। ६।

अनुप्रेक्षा के भेद

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। ७।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व और धर्मस्वाख्याततत्व—इनका अनुचिन्तन ही अनुप्रेक्षाएँ हैं।

अनुप्रेक्षा अर्थात् गहन चिन्तन। तात्त्विक और गहरे चिन्तन द्वारा रागद्वेष आदि वृत्तियाँ रुक जाती हैं; इसीलिए ऐसे चिन्तन को संवर का उपाय कहा गया है।

जीवनशुद्धि में विशेष उपयोगी बारह विषयों को चुनकर उनके चिन्तन को बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में गिनाया गया है। अनुप्रेक्षा को भावना भी कहते हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१. **अनित्यानुप्रेक्षा**—किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख न हो इसलिए उन सभी वस्तुओं में आसक्ति कम करना आवश्यक है। इसके लिए ही शरीर और घरबार आदि वस्तुएँ एवं उनके सम्बन्ध नित्य और स्थिर नहीं हैं, ऐसा चिन्तन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।

२. **अशरणानुप्रेक्षा**—एकमात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए अन्य सभी वस्तुओं से ममत्व हटाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसा चिन्तन करना कि जैसे सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरन का कोई शरण नहीं वैसे ही आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शारीरिक रोग) और उपाधि से ग्रस्त मैं भी सर्वदा के लिए अशरण हूँ। यह अशरणानुप्रेक्षा है।

३. **संसारानुप्रेक्षा**—संसारतृष्णा का त्याग करने के लिए सांसारिक वस्तुओं में निर्वेद (उदासीनता) की साधना आवश्यक है। इसीलिए ऐसी वस्तुओं से मन को हटाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि इस अनादि जन्म-मरण-संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन, क्योंकि प्रत्येक के साथ तरह-तरह के सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर में हुए हैं। इसी प्रकार राग, द्वेष और मोह से संतप्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण एक-दूसरे को हड़पने की नीति से असह्य दुःखों का

अनुभव करते हैं। यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का स्थान है और सचमुच कष्टमय है। इस प्रकार का चिन्तन संसारानुप्रेक्षा है।

४. **एकत्वानुप्रेक्षा**—मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से रागद्वेष के प्रसंगों में निर्लेपता की साधना आवश्यक है। अतः स्वजन-विषयक राग तथा परजन-विषयक द्वेष को दूर करने के लिए ऐसा विचार करना कि 'मैं अकेला ही जन्मता-मरता हूँ, अकेला ही अपने बोये हुए कर्मबीजों के सुख-दुःखादि फलों का अनुभव करता हूँ, वास्तव में मेरे सुख-दुःख का कोई कर्ता-हर्ता नहीं है'। यह एकत्वानुप्रेक्षा है।

५. **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—मनुष्य मोहावेश से शरीर और अन्य वस्तुओं की ह्रास-वृद्धि में अपनी ह्रास-वृद्धि को मानने की भूल करके मूल कर्तव्य को भूल जाता है। इस स्थिति के निरासार्थ शरीर आदि अन्य वस्तुओं में अपनी आदत को दूर करना आवश्यक है। इसीलिए इन दोनों के गुण-धर्मों की भिन्नता का चिन्तन करना कि शरीर तो जड़, स्थूल तथा आदि-अन्त युक्त है और मैं तो चेतन, सूक्ष्म-आदि; अन्तरहित हूँ। यह अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

६. **अशुचित्वानुप्रेक्षा**—सबसे अधिक घृणास्पद शरीर ही है, अतः उस पर से मूर्च्छा घटाने के लिए ऐसा सोचना कि शरीर स्वयं अशुचि है, अशुचि से ही पैदा हुआ है, अशुचि वस्तुओं से इसका पोषण हुआ है, अशुचि का स्थान है और अशुचि-परम्परा का कारण है। यह अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

७. **आस्रवानुप्रेक्षा**—इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति कम करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के भोगसम्बन्धी राग से उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

८. **संवरानुप्रेक्षा**—दुर्वृत्ति के द्वारों को बन्द करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

९. **निर्जरानुप्रेक्षा**—कर्म-बन्धन को नष्ट करने की वृत्ति दृढ़ करने के लिए विविध कर्म-विपाकों का चिन्तन करना कि दुःख के प्रसंग दो प्रकार के होते हैं—एक तो इच्छा और सज्ञान प्रयत्न के बिना प्राप्त हुआ, जैसे पशु, पक्षी और बहरे, गूँगे आदि दुःखप्रधान जन्म तथा उत्तराधिकार में प्राप्त गरीबी; दूसरा सदुद्देश्य से सज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया हुआ, जैसे तप और त्याग के कारण प्राप्त गरीबी और शारीरिक कृशता आदि। पहले में वृत्ति का समाधान न होने से वह अरुचि का कारण होकर अकुशल परिणामदायक बनता है और दूसरा सद्वृत्ति-जनित होने से उसका परिणाम कुशल ही होता है। अतः अचानक प्राप्त हुए कटुक विपाकों में समाधान-वृत्ति साधना तथा जहाँ सम्भव हो वहाँ तप और

त्याग द्वारा कुशल परिणाम की प्राप्ति हो इस प्रकार संचित कर्मों को भोगना श्रेयस्कर है। यह निर्जरानुप्रेक्षा है।

१०. लोकानुप्रेक्षा—तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।

११. बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा—प्राप्त हुए मोक्षमार्ग में अप्रमत्तभाव की साधना के लिए ऐसा विचार करना कि 'अनादिप्रपंच-जाल में, विविध दुःखों के प्रवाह में तथा मोह आदि कर्मों के तीव्र आघातों को सहन करते हुए जीव को शुद्ध दृष्टि और शुद्ध चारित्र प्राप्त होना दुर्लभ है'। यह बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।

१२. धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा—धर्ममार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिंतन करना कि 'यह कितना बड़ा सौभाग्य है कि जिससे समस्त प्राणियों का कल्याण होता है ऐसे सर्वगुणसम्पन्न धर्म का सत्पुरुषों ने उपदेश किया है'। यह धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। ७।

परीषह

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः[1] परीषहाः। ८।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि। ९।

सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। १०।

एकादश जिने। ११।

बादरसम्पराये सर्वे। १२।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। १३।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ। १४।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः।१५।

वेदनीये शेषाः। १६।

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः। १७।

मार्ग से च्युत न होने एवं कर्मों के क्षय के लिए जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं।

१. श्वेताम्बर व दिगम्बर सभी पुस्तकों में 'ष' छपा हुआ मिलता है, परन्तु यह परीषह शब्द के 'ष' के साम्य के कारण व्याकरणविषयक भ्रान्ति-मात्र है। वस्तुतः व्याकरण के अनुसार 'परिसोढव्याः' ही शुद्ध रूप है। जैसे देखें—**सिद्धहेम व्याकरण**, २.३.४८ तथा **पाणिनीय व्याकरण**, ८.३. ११५

क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन—ये बाईस परीषह हैं।

सूक्ष्मसम्पराय व छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषह सम्भव हैं।

जिन भगवान् में ग्यारह परीषह सम्भव हैं।

बादरसम्पराय में बाईसों परीषह सम्भव हैं।

ज्ञानावरणरूप निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

दर्शनमोह से अदर्शन और अन्तराय कर्म से अलाभ परीषह होते हैं।

चारित्रमोह से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं।

वेदनीय से शेष सभी परीषह होते हैं।

एक साथ एक आत्मा में १ से १९ तक परीषह विकल्प से सम्भव हैं।

संवर के उपाय के रूप में सूत्रकार ने परीषहों के पाँच अंगों का निरूपण किया है—१. परीषहों का लक्षण, २. उनकी संख्या, ३. अधिकारी भेद से उनका विभाग, ४. उनके कारणों का निर्देश और ५. एक साथ एक जीव में सम्भाव्य परीषह। यहाँ प्रत्येक अंग का विशेष विचार किया जाता है।

१. **लक्षण**—अङ्गीकृत धर्ममार्ग में स्थिर रहने और कर्मबन्धन के विनाश के लिए जो स्थिति समभावपूर्वक सहन करने योग्य है उसे परीषह कहते हैं। ८।

२. **संख्या**—यद्यपि परीषहों की संख्या संक्षेप में कम और विस्तार में अधिक भी कल्पित की जा सकती है तथापि त्याग के विकास के लिए विशेषरूप में बाईस परीषह शास्त्र में बतलाए गए हैं। वे ये हैं—१-२. क्षुधा और पिपासा—भूख और प्यास की चाहे जैसी वेदना हो, फिर भी अङ्गीकृत मर्यादा के विपरीत आहार-जल न लेते हुए समभावपूर्वक इन वेदनाओं को सहना। ३-४. शीत व उष्ण– ठंड और गरमी से चाहे जितना कष्ट होता हो, फिर भी उसके निवारणार्थ किसी भी अकल्प्य वस्तु का सेवन न करके समभावपूर्वक उन वेदनाओं को सहना। ५. दंशमशक—डाँस, मच्छर आदि जन्तुओं के उपद्रव को खिन्न न होते हुए समभावपूर्वक सहन करना। ६. नग्नता[1]—नग्नता को समभावपूर्वक सहन

१. इस परीषह के विषय में श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में विशेष मतभेद है और इसी के कारण श्वेताम्बर–दिगम्बर नाम पड़े हैं। श्वेताम्बर शास्त्र विशिष्ट साधकों के

करना। ७. अरति—अंगीकृत मार्ग में अनेक कठिनाइयों के कारण अरुचि का प्रसंग आने पर उस समय अरुचि न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना। ८. स्त्री—पुरुष या स्त्री साधक का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण के प्रति न ललचाना। ९. चर्या—स्वीकृत धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार करना और किसी भी एक स्थान में नियतवास स्वीकार न करना। १०. निषद्या—साधना के अनुकूल एकान्त स्थान में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए साधक के ऊपर यदि भय का प्रसंग आ जाय तो उसे अकम्पितभाव से जीतना अथवा आसन से च्युत न होना। ११. शय्या—कोमल या कठोर, ऊँची या नीची, जैसी भी जगह सहजभाव से मिले वहाँ सम-भावपूर्वक शयन करना। १२. आक्रोश—कोई पास आकर कठोर या अप्रिय वचन कहे तब भी उसे सत्कार समझना। १३. वध—किसी के द्वारा ताड़न-तर्जन किये जाने पर भी उसे सेवा ही मानना। १४. याचना—दीनता या अभि-मान न रखते हुए सहज धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचकवृत्ति स्वीकार करना। १५. अलाभ—याचना करने पर भी यदि अभीष्ट वस्तु न मिले तो प्राप्ति के बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर संतोष रखना। १६. रोग—व्याकुल न होकर समभावपूर्वक किसी भी रोग को सहन करना। १७. तृणस्पर्श—संथारे में या अन्यत्र तृण आदि की तीक्ष्णता अथवा कठोरता अनुभव हो तो मृदुशय्या के सेवन जैसी प्रसन्नता रखना। १८. मल—शारीरिक मैल चाहे जितना हो, फिर भी उससे उद्विग्न न होना और स्नान आदि संस्कारों की इच्छा न करना। १९. सत्कार-पुरस्कार—चाहे जितना सत्कार मिले पर उससे प्रसन्न न होना और सत्कार न मिलने पर खिन्न न होना। २०. प्रज्ञा—प्रज्ञा अर्थात् चमत्कारिणी बुद्धि होने पर उसका गर्व न करना और वैसी बुद्धि न होने पर खेद न करना। २१. अज्ञान—विशिष्ट शास्त्रज्ञान से गर्वित न होना और उसके अभाव में आत्मा-वमानना न रखना। २२. अदर्शन—सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन न होने से स्वीकृत त्याग निष्फल प्रतीत होने पर विवेकपूर्वक श्रद्धा रखना और प्रसन्न रहना। ९।

लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार करके भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्र-पात्र की आज्ञा देते हैं और तदनुसार अमूर्छित भाव से वस्त्रपात्र रखनेवाले को भी वे साधु मानते हैं, जब कि दिगम्बर शास्त्र मुनिनामधारक सभी साधकों के लिए समानरूप से ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेलक परीषह भी कहते हैं। आधुनिक शोधक विद्वान् वस्त्रपात्र धारण करनेवाली श्वेतांबर परंपरा में भगवान् पार्श्वनाथ की सवस्त्र परम्परा का मूल देखते हैं और सर्वथा नग्नत्ववाली दिगंबर परंपरा में भ० महावीर की अवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं।

३. अधिकारी-भेद— जिसमें सम्पराय (लोभकषाय) की बहुत कम सम्भावना हो उस सूक्ष्मसम्पराय नामक गुणस्थान में तथा उपशान्तमोह व क्षीणमोह नामक गुणस्थानों में चौदह परीषह ही सम्भव हैं। वे ये हैं–क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। शेष आठ सम्भव नहीं हैं, क्योंकि वे मोहजन्य हैं, एवं ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में मोहोदय का अभाव है। यद्यपि दसवें गुणस्थान में मोह होता है पर वह इतना अल्प होता है कि न होने जैसा ही कह सकते हैं। इसीलिए इस गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषहों की शक्यता का उल्लेख न करके केवल चौदह की शक्यता का उल्लेख किया गया है।

तेरहवें और चौदहवें[1] गुणस्थानों में केवल ग्यारह ही परीषह सम्भव हैं। वे हैं–क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। शेष ग्यारह घातिकर्मजन्य होते हैं और इन गुणस्थानों में घातिकर्मों का अभाव होने से वे सम्भव नहीं हैं।

जिसमें सम्पराय (कषाय) की बादरता अर्थात् विशेष रूप में सम्भावना हो उस बादरसम्पराय[2] नामक नवें गुणस्थान में बाईस परीषह होते हैं, क्योंकि परीषहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं। नवें गुणस्थान में बाईस परीषहों की सम्भावना का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानों में उतने ही परीषह सम्भव हैं, यह स्वतः फलित हो जाता है। १०–१२।

४. कारण-निर्देश—कुल चार कर्म परीषहों के कारण माने गये हैं।

१. इन दो गुणस्थानों में परीषहों के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों में मतभेद है, जो सर्वज्ञ में कवलाहार मानने और न मानने के कारण है। इसीलिए दिगम्बर व्याख्याग्रन्थ 'एकादश जिने' सूत्र को मानते हुए भी इसकी व्याख्या तोड़-मरोड़ कर करते प्रतीत होते हैं। व्याख्या एक नहीं बल्कि दो की गई हैं और वे तीव्र साम्प्रदायिक मतभेद के बाद की ही हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। पहली व्याख्या के अनुसार ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिन (सर्वज्ञ) में क्षुधा आदि ग्यारह परीषह (वेदनीय कर्म-जन्य) हैं, लेकिन मोह न होने से वे क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से द्रव्य परीषह हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'न' शब्द का अध्याहार करके यह अर्थ किया जाता है कि जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ग्यारह परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा-रूप न होने से हैं ही नहीं।

२. दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थ यहाँ बादरसम्पराय शब्द को संज्ञा न मानकर विशेषण मानते हैं, जिस पर से वे छठे आदि चार गुणस्थानों का अर्थ घटित करते हैं।

ज्ञानावरण प्रज्ञा[1] व अज्ञान परीषहों का कारण है; अन्तरायकर्म अलाभपरीषह का कारण है; मोहनीय में से दर्शनमोहनीय अदर्शन का और चारित्रमोहनीय नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार इन सात परीषहों का कारण है; वेदनीय कर्म ऊपर निर्दिष्ट सर्वज्ञ में सम्भाव्य ग्यारह परीषहों का कारण है। १३–१६।

५. एक साथ एक जीव में संभाव्य परीषह—बाईस परीषहों में अनेक परीषह परस्परविरोधी हैं, जैसे शीत, उष्ण, चर्या, शय्या और निषद्या। इनमें से पहले दो और बाद के तीन एक साथ सम्भव ही नहीं हैं। शीत परीषह के होने पर उष्ण और उष्ण के होने पर शीत सम्भव नहीं। इसी प्रकार चर्या, शय्या और निषद्या इन तीनों में से भी एक समय में एक ही परीषह सम्भव है। इसीलिए उक्त पाँचों में से एक समय में किन्हीं भी दो को सम्भव और तीन को असम्भव मानकर एक आत्मा में एक साथ अधिक-से-अधिक १९ परीषह सम्भव माने गये हैं। १७।

चारित्र के भेद

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातानि चारित्रम्। १८।

सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात—यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

आत्मिक शुद्धदशा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना चारित्र है। परिणाम-शुद्धि के तरतमभाव की अपेक्षा से चारित्र के सामायिक आदि पाँच भेद हैं। वे इस प्रकार हैं :

१. सामायिकचारित्र—समभाव में स्थित रहने के लिए समस्त अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिकचारित्र है। छेदोपस्थापन आदि शेष चार चारित्र सामायिकरूप तो हैं ही, फिर भी आचार और गुण की कुछ विशेषताओं के कारण इन चारों का सामायिक से पृथक् रूप में वर्णन किया गया है। इत्वरिक अर्थात् कुछ समय के लिए अथवा यावत्कथिक अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिए जो पहले-पहल मुनि-दीक्षा ली जाती है वह सामायिक है।

२. छेदोपस्थापनचारित्र—प्रथम दीक्षा के पश्चात् विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर लेने पर विशेष शुद्धि के लिए जीवनपर्यंत पुनः जो दीक्षा ली जाती है, एवं

---

१. चमत्कारिणी बुद्धि कितनी ही क्यों न हो, परिमित होने के कारण ज्ञानावरण के आश्रित ही होती है, अतः प्रज्ञापरीषह ज्ञानावरणजन्य ही है।

प्रथम दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है, वह छेदोपस्थापनचारित्र है। इनमें पहला निरतिचार और दूसरा सातिचार छेदोपस्थापनचारित्र है।

३. **परिहारविशुद्धिचारित्र**—जिसमें विशिष्ट प्रकार के तपःप्रधान आचार का पालन किया जाता है वह परिहारविशुद्धिचारित्र है।[1]

४. **सूक्ष्मसंपरायचारित्र**— जिसमें क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, केवल लोभ का अंश अतिसूक्ष्मरूप में रहता है, वह सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र है।

५. **यथाख्यातचारित्र**—जिसमें किसी भी कषाय का बिलकुल उदय नहीं रहता वह यथाख्यात अर्थात् वीतरागचारित्र है।[2]

तप

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः । १९ ।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । २० ।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश—ये बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान—ये आभ्यन्तर तप हैं।

वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वे सभी तप कहे जाते हैं। तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। बाह्य तप वह है जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा-सहित होने से दूसरों को दिखाई दे। आभ्यन्तर तप वह है जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो मुख्यरूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से रहित होने से दूसरों को दिखाई न भी दे। स्थूल तथा लोगों द्वारा ज्ञात होने पर भी बाह्य तप का आभ्यन्तर तप की पुष्टि में उपयोगी होने से ही महत्त्व माना गया है। बाह्य और आभ्यन्तर तप के वर्गीकरण में समग्र स्थूल और सूक्ष्म धार्मिक नियमों का समावेश हो जाता है।

१. देखें—हिन्दी **चौथा कर्मग्रन्थ**, पृ० ५९-६१।

२. इसके अथाख्यात और तथाख्यात नाम भी मिलते हैं।

बाह्य तप—बाह्य तप के छः प्रकार ये हैं—१. अनशन—विशिष्ट अवधि तक या आजीवन सब प्रकार के आहार का त्याग करना। इनमें पहला इत्वरिक और दूसरा यावत्कथिक है। २. अवमौदर्य या ऊनोदरी—जितनी भूख हो उससे कम आहार करना। ३. वृत्तिपरिसंख्यान—विविध वस्तुओं की लालसा कम करना। ४. रसपरित्याग—घी, दूध आदि तथा मद्य, मधु, मक्खन आदि विकारवर्धक रसों का त्याग करना। ५. विविक्त शय्यासन—बाधारहित एकान्त स्थान में रहना। ६. कायक्लेश—ठंड, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना।

आभ्यन्तर तप—आभ्यन्तर तप के छः प्रकार ये हैं—१. प्रायश्चित्त—धारण किए हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों का शोधन करना। २. विनय—ज्ञान आदि सद्‌गुणों में आदरभाव। ३. वैयावृत्त्य—योग्य साधनों को जुटाकर अथवा अपने आपको काम में लगाकर सेवाशुश्रूषा करना। विनय और वैयावृत्त्य में यही अन्तर है कि विनय मानसिक धर्म है और वैयावृत्त्य शारीरिक धर्म है। ४. स्वाध्याय—ज्ञानप्राप्ति के लिए विविध प्रकार का अध्ययन करना। ५. व्युत्सर्ग—अहंता और ममता का त्याग करना। ६. ध्यान—चित्त के विक्षेपों का त्याग करना। १९-२०।

प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तपों के भेद

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्। २१।

ध्यान के पूर्ववर्ती आभ्यन्तर तपों के क्रमशः नौ, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं।

ध्यान का विचार विस्तृत होने से उसे अन्त में रखकर उसके पहले के प्रायश्चित्त आदि पाँच आभ्यन्तर तपों के भेदों की संख्या ही यहाँ निर्दिष्ट की गई है। २१।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि। २२।

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन—ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

दोष अर्थात् भूल के शोधन के अनेक प्रकार हैं और वे सभी प्रायश्चित्त हैं। संक्षेप में वे नौ हैं—१. गुरु के समक्ष शुद्धभाव से अपनी भूल प्रकट करना आलोचन है। २. हुई भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और आगे भूल न हो इसके

लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण है। ३. उक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों साथ करना तदुभय अर्थात् मिश्र है। ४. खाने-पीने आदि की यदि अकल्पनीय वस्तु आ जाय और बाद में पता चले तो उसका त्याग करना विवेक है। ५. एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों को छोड़ना व्युत्सर्ग है। ६. अनशन आदि बाह्य तप करना तप है। ७. दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या कम करना छेद है। ८. दोषपात्र व्यक्ति से दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी प्रकार का संसर्ग न रखकर उसे दूर से परिहरना परिहार है। ९. अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों का भंग होने पर पुनः शुरू से उन महाव्रतों का आरोपण करना उपस्थापन है।[1] २२।

विनय के भेद

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। २३।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार—ये विनय के चार भेद हैं।

विनय वस्तुतः गुणरूप में एक ही है, फिर भी उसके ये भेद विषय की दृष्टि से ही वर्णित हैं। विनय के विषय को मुख्यतः यहाँ चार भागों में विभाजित किया गया है, जैसे—१. ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास जारी रखना और भूलना नहीं—यह ज्ञान का विनय है। २. तत्त्व की यथार्थ प्रतीतिस्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उसके प्रति उत्पन्न होनेवाली शङ्काओं का निवारण करके निःशंकभाव की साधना करना दर्शनविनय है। ३. सामायिक आदि चारित्रों में चित्त का समाधान रखना चारित्रविनय है। ४. जो अपने से सद्गुणों में श्रेष्ठ हो उसके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे उसके सम्मुख जाना, उसके आने पर खड़े होना, आसन देना, वन्दन करना इत्यादि उपचारविनय है। २३।

वैयावृत्त्य के भेद

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम्। २४।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ—यह दस प्रकार का वैयावृत्त्य है।

वैयावृत्त्य सेवारूप है। अतः दस प्रकार के सेव्य (सेवायोग्य पात्रों) के होने

---

१. परिहार और उपस्थापन इन दोनों के स्थान पर मूल, अनवस्थाप्य व पारांचिक इन तीन प्रायश्चित्तों के होने से कई ग्रन्थों में दस प्रायश्चित्तों का वर्णन है। प्रत्येक प्रायश्चित्त किन-किन और कैसे-कैसे दोषों पर लागू होता है इसका विशेष स्पष्टीकरण **व्यवहार, जीतकल्पसूत्र** आदि प्रायश्चित्त-प्रधान ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

से वैयावृत्य के भी दस प्रकार हैं—१. मुख्यरूप से जिसका कार्य व्रत और आचार ग्रहण कराना हो वह आचार्य है। २. मुख्यरूप से जिसका कार्य श्रुताभ्यास कराना हो वह उपाध्याय है। ३. महान् और उग्र तप करनेवाला तपस्वी है। ४. नव-दीक्षित होकर शिक्षण प्राप्त करने का उम्मीदवार शैक्ष है। ५. रोग आदि से क्षीण ग्लान है। ६. भिन्न-भिन्न आचार्यों के शिष्यरूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होने से समान वाचनावाले हों तो उनका समुदाय गण है। ७. एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य-परिवार कुल है। ८. धर्म का अनुयायी समुदाय संघ है जो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप में चार प्रकार का है। ९. प्रव्रज्याधारी को साधु कहते हैं। १०. ज्ञान आदि गुणों में समान समनोज्ञ या समानशील कहलाता है। २४।

स्वाध्याय के भेद

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः। २५।

वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश—ये स्वाध्याय के पाँच भेद हैं।

ज्ञान प्राप्त करने, उसे सन्देहरहित, विशद और परिपक्व बनाने एवं उसका प्रचार करने का प्रयत्न—ये सभी स्वाध्याय में आते हैं, अतः उसके यहाँ पाँच भेद अभ्यासशैली के क्रमानुसार कहे गए हैं: १. शब्द या अर्थ का पहला पाठ लेना वाचना है। २. शंका दूर करने अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना प्रच्छना है। ३. शब्द, पाठ या उसके अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। ४. सीखी हुई वस्तु का शुद्धिपूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण करना आम्नाय अर्थात् पुनरावर्तन है। ५. जानी हुई वस्तु का रहस्य समझाना अथवा धर्म का कथन करना धर्मोपदेश है। २५।

व्युत्सर्ग के भेद

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः। २६।

बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग—ये व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं।

वास्तव में अहंता-ममता की निवृत्ति के रूप में त्याग एक ही है, फिर भी त्याज्य वस्तु बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में दो प्रकार की होती है, इसीलिए व्युत्सर्ग या त्याग के भी दो प्रकार कहे गए हैं—१. धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्योपधि-व्युत्सर्ग है और २. शरीर की ममता का त्याग करना एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यन्तरोपधि-व्युत्सर्ग है। २६।

ध्यान

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । २७ ।

आमुहूर्तात् । २८ ।

उत्तम संहननवाले का एक विषय[1] में अन्तःकरण की वृत्ति का स्थापन ध्यान है।

वह मुहूर्त तक अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है।

यहाँ ध्यान से सम्बन्धित अधिकारी, स्वरूप और काल का परिमाण ये तीन बातें वर्णित हैं।

१. **अधिकारी**—छः प्रकार के संहननों[2] (शारीरिक संघटनों) में वज्रर्षभनाराच[3], अर्धवज्रर्षभनाराच और नाराच ये तीन उत्तम माने जाते हैं। उत्तम संहननवाला ही ध्यान का अधिकारी होता है, क्योंकि ध्यान करने में आवश्यक मानसिक बल के लिए जितना शारीरिक बल आवश्यक है वह उक्त तीन संहननवाले शरीर में सम्भव है, शेष तीन संहननवाले में नहीं। मानसिक बल का एक प्रमुख आधार शरीर है और शरीरबल शारीरिक संघटन पर निर्भर करता है; अतः उत्तम संहननवाले के अतिरिक्त दूसरा कोई ध्यान का अधिकारी नहीं है। शारीरिक संघटन जितना कम होगा उतना ही मानसिक बल भी कम होगा और मानसिक बल जितना कम होगा उतनी ही चित्त की स्थिरता भी कम होगी। इसलिए कमजोर शारीरिक संघटन या अनुत्तम संहननवाला किसी भी प्रशस्त विषय में जितनी एकाग्रता साध सकता है वह इतनी कम होती है कि ध्यान में उसकी गणना ही नहीं हो सकती।

१. भाष्य के अनुसार इस सूत्र में दो प्रकार के ध्यान कहे गए हैं—१. एकाग्रचिन्ता और २. निरोध। किन्तु ऐसा लगता है कि किसी अन्य टीकाकार की दृष्टि में यह बात नहीं आई। अतः हमने भी यहाँ पर पुराने टीकाकारों का ही अनुसरण किया है। वस्तुतः यही दो प्रकार सूत्रकार द्वारा यहाँ निर्दिष्ट हैं। देखें—प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित **दशवैकालिक** की अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि, पृ० १६ तथा पं० दलसुख मालवणिया का लेख, गुजरात युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित पत्रिका **विद्या**, भाग १५, अंक २, अगस्त १९७२, पृ० ६१।

२. दिगम्बर ग्रन्थों में तीन उत्तम संहननवाले को ही ध्यान का अधिकारी माना गया है लेकिन भाष्य और उसकी वृत्ति में प्रथम दो संहननवाले को ध्यान का अधिकारी माना गया है।

३. इसकी जानकारी के लिए देखें—अ० ८, सू० १२।

२. **स्वरूप**—सामान्यतः क्षण में एक, क्षण में दूसरे, क्षण में तीसरे ऐसे अनेक विषयों को अवलंबन करके प्रवृत्त ज्ञानधारा भिन्न-भिन्न दिशाओं से बहती हुई हवा में स्थित दीपशिखा की भाँति अर्थात् अस्थिर होती है। ऐसी ज्ञानधारा—चिन्ता को विशेष प्रयत्नपूर्वक शेष विषयों से हटाकर किसी एक ही इष्ट विषय में स्थिर रखना अर्थात् ज्ञानधारा को अनेक विषयगामिनी न बनने देकर एक विषय-गामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप असर्वज्ञ (छद्मस्थ) में ही सम्भव है। इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में भी ध्यान स्वीकार तो अवश्य किया गया है, पर उसका स्वरूप भिन्न है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मानसिक, वाचिक और कायिक योग-व्यापार के निरोध का क्रम प्रारम्भ होता है तब स्थूल कायिक व्यापार के निरोध के बाद सूक्ष्म कायिक व्यापार के अस्तित्व के समय में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान माना गया है और चौदहवें गुणस्थान की सम्पूर्ण अयोगिपन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक चौथा शुक्लध्यान माना गया है। ये दोनों ध्यान उक्त दशाओं में चित्त-व्यापार न होने से छद्मस्थ की भाँति एकाग्रचिन्तानिरोधरूप तो हैं ही नहीं, अतः उक्त दशाओं में ध्यान को घटाने के लिए सूत्रगत प्रसिद्ध अर्थ के उपरान्त 'ध्यान' शब्द का अर्थ विशेष विशद किया गया है कि केवल कायिक स्थूल व्यापार के निरोध का प्रयत्न भी ध्यान है और आत्मप्रदेशों की निष्प्रकम्पता भी ध्यान है।

फिर भी ध्यान के विषय में एक प्रश्न रहता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ से योगनिरोध का क्रम शुरू होता है, तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो जाने के बाद की स्थिति में क्या कोई ध्यान होता है ? यदि होता है तो कौन-सा ? इसका उत्तर दो प्रकार से मिलता है : १. विहरमाण सर्वज्ञ की दशा में ध्यानान्तरिका कहकर उसमें अध्यानित्व ही मानकर कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है। २. सर्वज्ञदशा में मन, वचन और शरीर के व्यापारसम्बन्धी सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान के रूप में मान लिया गया है।

३. **काल का परिमाण**—उपर्युक्त एक ध्यान अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही टिकता है, बाद में उसे टिकाना कठिन है, अतः उसका कालपरिमाण अन्तर्मुहूर्त है।

कई लोग श्वास-उच्छ्वास रोक रखने को ही ध्यान मानते हैं तथा अन्य

कुछ लोग मात्रा से काल की गणना[1] करने को ही ध्यान मानते हैं। परन्तु जैन-परम्परा में यह कथन स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि यदि सम्पूर्णतया श्वास-उच्छ्वास क्रिया रोक दी जाय तो शरीर ही नहीं टिकेगा। इसलिए मन्द या मन्दतम श्वास का संचार तो ध्यानावस्था में रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल को गिनेगा तब तो गिनती के काम में अनेक क्रियाएँ करने में लग जाने से उसके मन को एकाग्र के स्थान पर व्यग्र ही मानना पड़ेगा। यही कारण है कि दिवस, मास और उससे अधिक समय तक ध्यान के टिकने की लोकमान्यता भी जैन-परम्परा को ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह है कि लम्बे समय तक ध्यान साधने से इन्द्रियों का उपघात सम्भव है, अतः ध्यान को अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक बढ़ाना कठिन है। 'एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा उससे अधिक समय तक ध्यान किया'—इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलता रहा। किसी भी एक आलंबन का एक बार ध्यान करके पुनः उसी आलम्बन का कुछ रूपान्तर से या दूसरे ही आलम्बन का ध्यान किया जाता है और पुनः इसी प्रकार आगे भी ध्यान किया जाता है तो वह ध्यानप्रवाह बढ़ जाता है। यह अन्तर्मुहूर्त का कालपरिमाण छद्मस्थ के ध्यान का है। सर्वज्ञ के ध्यान का कालपरिमाण तो अधिक भी हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ मन, वचन और शरीर के प्रवृत्तिविषयक सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक भी बढ़ा सकता है।

जिस आलम्बन पर ध्यान चलता है वह आलम्बन सम्पूर्ण द्रव्यरूप न होकर उसका एकदेश (एक पर्याय) होता है, क्योंकि द्रव्य का चिन्तन उसके किसी-न-किसी पर्याय द्वारा ही सम्भव होता है। २७–२८।

ध्यान के भेद और उनका फल

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। २९।

परे मोक्षहेतू। ३०।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—ये ध्यान के चार प्रकार हैं।

अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

उक्त चार में से आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण होने से दुर्ध्यान हैं और हेय (त्याज्य) हैं। धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के कारण होने से सुध्यान हैं और उपादेय (ग्राह्य) हैं। २९–३०।

---

१. 'अ, इ' आदि एक-एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे एक मात्रा कहते हैं। स्वरहीन व्यञ्जन के उच्चारण में अर्धमात्रा जितना समय लगता है। मात्रा या अर्धमात्रा परिमित समय को जानने का अभ्यास करके उसी के अनुसार अन्य क्रियाओं के समय की गणना करना कि अमुक काम में इतनी मात्राएँ हुईं—मात्रा द्वारा काल की गणना कहलाती है।

चारों ध्यानों के भेद और अधिकारी

आर्तध्यान

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः । ३१ ।

वेदनायाश्च । ३२ ।

विपरीतं मनोज्ञानाम् । ३३ ।

निदानं च । ३४ ।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । ३५ ।

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना पहला आर्तध्यान है।

दुःख आ पड़ने पर उसके निवारण की सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।

प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है।

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत चिन्ता करना चौथा आर्तध्यान है।

वह (आर्तध्यान) अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत—इन गुणस्थानों में ही सम्भव है।

यहाँ आर्तध्यान के भेद और उसके अधिकारी का निरूपण किया गया है। अर्ति का अर्थ है पीड़ा या दुःख, उसमें से जो उत्पन्न हो वह आर्त। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य कारण चार हैं—१. अनिष्ट वस्तु का संयोग, २. इष्ट वस्तु का वियोग, ३. प्रतिकूल वेदना और ४. भोग की लालसा। इन्हीं के आधार पर आर्तध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं। १. अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर तद्भव दुःख से व्याकुल आत्मा उसे दूर करने के लिए जो सतत चिन्ता करता रहता है वही अनिष्टसंयोग-आर्तध्यान है। २. इसी प्रकार किसी इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना इष्टवियोग-आर्तध्यान है। ३. शारीरिक या मानसिक पीड़ा होने पर उसके निवारण की व्याकुलतापूर्वक चिन्ता करना रोगचिन्ता-आर्तध्यान है। ४. भोगों की लालसा की उत्कटता के कारण अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का तीव्र संकल्प निदान-आर्तध्यान है।

प्रथम के चार तथा देशविरत व प्रमत्तसंयत इन छः गुणस्थानों में उक्त आर्तध्यान सम्भव है। इनमें भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान में निदान को छोड़कर तीन ही आर्तध्यान सम्भव हैं। ३१-३५।

रौद्रध्यान

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः। ३६।

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना रौद्रध्यान है, जो अविरत और देशविरत में सम्भव है।

प्रस्तुत सूत्र में रौद्रध्यान के भेद और उसके अधिकारियों का वर्णन है। रौद्रध्यान के चार भेद उसके कारणों के आधार पर आर्तध्यान की भाँति ही बतलाए गए हैं। जिसका चित्त क्रूर व कठोर होता है वह रुद्र कहलाता है और ऐसी आत्मा द्वारा किया जानेवाला ध्यान रौद्र है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों के संरक्षण की वृत्ति से क्रूरता व कठोरता उत्पन्न होती है। इन्हीं के कारण जो सतत चिन्ता होती है वह क्रमशः हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इस ध्यान के स्वामी या अधिकारी पहले पाँच गुणस्थानवाले होते हैं। ३६।

धर्मध्यान

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। ३७।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च। ३८।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा के लिए मनोवृत्ति को एकाग्र करना धर्मध्यान है, जो अप्रमत्तसंयत में सम्भव है।

वह धर्मध्यान उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में भी सम्भव है।

यहाँ धर्मध्यान के भेद और उसके अधिकारियों का निर्देश है।

भेद—१. वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की आज्ञा क्या है और वह कैसी होनी चाहिए? इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग लगाना आज्ञाविचय-धर्मध्यान है। २. दोषों के स्वरूप और उनसे छुटकारा पाने के विचारार्थ मनोयोग लगाना अपायविचय-धर्मध्यान है। ३. अनुभव में आनेवाले विपाकों में से कौन-कौन-सा विपाक किस-किस कर्म का आभारी है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक सम्भव है इसके विचारार्थ मनोयोग लगाना विपाकविचय-

धर्मध्यान है। ४. लोकस्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना संस्थान-विचय-धर्मध्यान है।

स्वामी—धर्मध्यान के स्वामियों (अधिकारियों) के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार उक्त दो सूत्रों में निर्दिष्ट सातवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में तथा इस कथन से सूचित आठवें आदि बीच के तीन गुणस्थानों में अर्थात् सातवें से बारहवें तक के छहों गुणस्थानों में धर्मध्यान सम्भव है। दिगम्बर परम्परा में चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानों में ही धर्मध्यान की सम्भावना मान्य है। उसका तर्क यह है कि श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही सम्यग्दृष्टि में धर्मध्यान सम्भव है और श्रेणी का आरम्भ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह ध्यान किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। ३७–३८।

शुक्लध्यान

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[1] । ३९ ।

परे केवलिनः । ४० ।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि । ४१ ।

तत्र्येककाययोगायोगानाम् । ४२ ।

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे । ४३ ।

अविचारं[2] **द्वितीयम् । ४४ ।**

वितर्कः श्रुतम् । ४५ ।

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः । ४६ ।

उपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। ये दो शुक्लध्यान पूर्वधर को होते हैं।

बाद के दो केवली को होते हैं।

---

१. 'पूर्वविदः' अंश प्रस्तुत सूत्र का ही है और इतना सूत्र अलग नहीं है, यह भाष्य के टीकाकार का कथन है। दिगंबर परंपरा में भी इस अंश को सूत्र के रूप में अलग स्थान नहीं दिया गया है। अतः यहाँ भी वैसे ही रखा गया है। फिर भी भाष्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'पूर्वविदः' स्वतंत्र सूत्र है।

२. प्रस्तुत सूत्र में अधिकतर 'अवीचार' रूप ही देखने में आता है, फिर भी यहाँ सूत्र व विवेचन में ह्रस्व 'वि' के प्रयोग द्वारा एकता रखी गई है।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति—ये चार शुक्लध्यान हैं।

वह (शुक्लध्यान) अनुक्रम से तीन योगवाले, किसी एक योगवाले, काययोगवाले और योगरहित को होता है।

पहले के दो एकाश्रित एवं सवितर्क होते हैं।

इनमें से पहला सविचार है, दूसरा अविचार है।

वितर्क अर्थात् श्रुत।

विचार अर्थात् अर्थ, व्यञ्जन एव योग को संक्रान्ति।

यहाँ शुक्लध्यान से सम्बन्धित स्वामी, भेद और स्वरूप ये तीन बातें वर्णित हैं।

स्वामी—स्वामी-विषयक कथन यहाँ दो प्रकार से किया गया है—पहला गुणस्थान की दृष्टि से और दूसरा योग की दृष्टि से।

गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेदों में से पहले दो भेदों के स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवाले ही होते हैं जो कि पूर्वधर भी हों। 'पूर्वधर' विशेषण से सामान्यतः यह अभिप्राय है कि जो पूर्वधर न हो पर ग्यारह आदि अङ्गों का धारक हो उसके ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान न होकर धर्मध्यान ही होगा। इस सामान्य विधान का एक अपवाद यह है कि जो पूर्वधर न हों उन माषतुष, मरुदेवी आदि जैसी आत्माओं में भी शुक्लध्यान सम्भव है। शुक्लध्यान के शेष दो भेदों के स्वामो केवली अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवाले ही हैं।

योग की दृष्टि से तीन योगवाला ही चार में से पहले शुक्लध्यान का स्वामो होता है। मन, वचन और काय में से किसी भी एक योगवाला शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इस ध्यान के तीसरे भेद का स्वामी केवल काययोगवाला और चौथे भेद का स्वामी एकमात्र अयोगी होता है।

भेद—शुक्लध्यान के भी अन्य ध्यानों की भाँति चार भेद हैं, जो इसके चार पाये भी कहलाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २. एकत्ववितर्क-निर्विचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, ४. व्युपरतक्रिया-निवृत्ति (समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति)।

पहले दो शुक्लध्यानों का आश्रय एक है अर्थात् उन दोनों का आरम्भ पूर्वज्ञानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसीलिए ये दोनों ध्यान वितर्क—श्रुतज्ञान

सहित हैं। दोनों में वितर्क का साम्य होने पर भी यह वैषम्य है कि पहले में पृथक्त्व (भेद) है, जब कि दूसरे में एकत्व (अभेद) है। इसी प्रकार पहले में विचार (संक्रम) है, जब कि दूसरे में विचार नहीं है। इसी कारण इन दोनों ध्यानों के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्क-सविचार और एकत्ववितर्क-निर्विचार हैं।

पृथक्त्ववितर्क-सविचार—जब ध्यान करनेवाला पूर्वधर हो तब वह पूर्वगत श्रुत के आधार पर और जब पूर्वधर न हो तब अपने में सम्भावित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ में या आत्मरूप चेतन में—एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है और यथासम्भव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्यरूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्यरूप अर्थ पर या एक द्रव्यरूप अर्थ पर से पर्यायरूप अन्य अर्थ पर अथवा एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य पर्यायरूप अर्थ पर या एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य द्रव्यरूप अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य योग का अवलम्बन लेता है, तब वह ध्यान पृथक्त्व-वितर्क-सविचार कहलाता है। कारण यह है कि इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का अवलम्बन लेकर किसी भी एक द्रव्य में उसके पर्यायों के भेद (पृथक्त्व) का विविध दृष्टियों से चिन्तन किया जाता है और श्रुतज्ञान को अवलम्बित करके एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, अर्थ पर से शब्द पर, शब्द पर से अर्थ पर तथा एक योग से दूसरे योग पर संक्रम (संचार) करना पड़ता है।

एकत्ववितर्क-निर्विचार—उक्त कथन के विपरीत जब ध्यान करनेवाला अपने में सम्भाव्य श्रुत के आधार पर किसी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व (अभेदप्रधान) चिन्तन करता है और मन आदि तीन योगों में से किसी एक ही योग पर अटल रहकर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न-भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नहीं करता, तब वह ध्यान एकत्ववितर्क-निर्विचार कहलाता है, क्योंकि इसमें वितर्क (श्रुतज्ञान) का अवलम्बन होने पर भी एकत्व (अभेद) का चिन्तन प्रधान रहता है और अर्थ, शब्द अथवा योगों का परिवर्तन नहीं होता।

उक्त दोनों में से पहले भेदप्रधान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद ही दूसरे अभेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समग्र शरीर में व्याप्त सर्पादि के जहर को मन्त्र आदि उपचारों से डंक की जगह लाकर स्थापित किया जाता है

वैसे ही सम्पूर्ण जगत् में भिन्न-भिन्न विषयों में अस्थिर रूप में भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक विषय पर केन्द्रित करके स्थिर किया जाता है। स्थिरता दृढ़ हो जाने पर जैसे बहुत-सा ईंधन निकाल लेने और बचे हुए थोड़े से ईंधन को सुलगा देने से अथवा पूरे ईंधन को हटा देने से आग बुझ जाती है वैसे ही उपर्युक्त क्रम से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही मन भी सर्वथा शान्त हो जाता है अर्थात् चंचलता मिट जाने से निष्प्रकम्प बन जाता है। परिणामतः ज्ञान के सकल आवरणों का विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती—जब सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध के क्रम में[1] अन्ततः सूक्ष्मशरीर योग का आश्रय लेकर शेष योगों को रोक देते हैं तब वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती ध्यान कहलाता है, क्योंकि उसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है और उससे पतन भी सम्भव नहीं है।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है, क्योंकि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया नहीं होती और वह स्थिति बाद में नष्ट भी नहीं होती। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से समस्त आस्रव और बन्ध के निरोधपूर्वक शेष कर्मों के क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी भी प्रकार के श्रुतज्ञान का आलंबन नहीं होता, अतः वे दोनों अनालंबन भी कहलाते हैं। ३९-४६।

सम्यग्दृष्टियों की कर्मनिर्जरा का तरतमभाव

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः। ४७।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन—ये दस क्रमशः असंख्येयगुण निर्जरावाले होते हैं।

१. यह क्रम यों है—स्थूल काययोग के आश्रय से वचन और मन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, उसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके शरीर के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। फिर शरीर के सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है और अन्त में सूक्ष्मशरीरयोग का भी निरोध किया जाता है।

सर्व कर्मबन्धनों का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है और कर्मों का अंशतः क्षय निर्जरा है। दोनों के लक्षणों पर विचार करने से स्पष्ट है कि निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अंग है। प्रस्तुत शास्त्र में मोक्षतत्त्व का प्रतिपादन मुख्य है, अतः उसकी नितान्त अंगभूत निर्जरा का विचार करना भी यहाँ उपयुक्त है। इसलिए यद्यपि सकल संसारी आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम जारी रहता है तथापि यहाँ विशिष्ट आत्माओं की ही कर्मनिर्जरा के क्रम का विचार किया गया है। वे विशिष्ट अर्थात् मोक्षाभिमुख आत्माएँ हैं। यथार्थ मोक्षाभिमुखता सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से ही प्रारम्भ हो जाती है और वह जिन (सर्वज्ञ) अवस्था में पूरी होती है। स्थूलदृष्टि की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञदशा तक मोक्षाभिमुखता के दस विभाग किए गए हैं, जिनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर विभाग में परिणाम की विशुद्धि सविशेष होती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी अधिक होगी, कर्मनिर्जरा भी उतनी ही विशेष होगी। अतः प्रथम-प्रथम अवस्था में जितनी कर्मनिर्जरा होती है उसकी अपेक्षा आगे-आगे की अवस्था में परिणामविशुद्धि की विशेषता के कारण कर्मनिर्जरा भी असंख्यातगुनी बढ़ती जाती है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अन्त में सर्वज्ञ-अवस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। कर्मनिर्जरा के इस तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि की और सबसे अधिक निर्जरा सर्वज्ञ की होती है। इन दस अवस्थाओं का स्वरूप इस प्रकार है :

१. सम्यग्दृष्टि—जिस अवस्था में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। २. श्रावक—जिसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से अल्पांश में विरति (त्याग) प्रकट होती है। ३. विरत—जिसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सर्वांश में विरति प्रकट होती है। ४. अनन्तवियोजक—जिसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है। ५. दर्शनमोहक्षपक—जिसमें दर्शनमोह का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है। ६. उपशमक—जिस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियों का उपशम जारी हो। ७. उपशान्तमोह—जिसमें उपशम पूर्ण हो चुका हो। ८. क्षपक—जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय जारी हो। ९. क्षीणमोह—जिसमें मोह का क्षय पूर्ण सिद्ध हो चुका हो। १०. जिन—जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो। ४७।

निर्ग्रन्थ के भेद

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः। ४८।

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—ये निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार हैं।

निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक (निश्चयनयसिद्ध) अर्थ भिन्न है और व्यावहारिक (साम्प्रदायिक) अर्थ भिन्न है। दोनों अर्थों के एकीकरण को ही यहां निर्ग्रन्थ-सामान्य मानकर उसी के पांच भेद कहे गए हैं। निर्ग्रन्थ वह है जिसमें रागद्वेष की गांठ बिलकुल न रहे। निर्ग्रन्थ शब्द का यही तात्त्विक अर्थ है। अपूर्ण होने पर भी तात्त्विक निर्ग्रन्थता का अभिलाषी हो—भविष्य में यह स्थिति प्राप्त करना चाहता हो—वह व्यावहारिक निर्ग्रन्थ है। पांच भेदों में से प्रथम तीन व्यावहारिक हैं और शेष दो तात्त्विक। इन पांच भेदों का स्वरूप इस प्रकार है :

१. पुलाक—मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते हुए भी वीतराग-प्रणीत आगम से कभी विचलित न होनेवाला निर्ग्रन्थ। २. बकुश—शरीर और उपकरण के संस्कारों का अनुसरण करनेवाला, सिद्धि तथा कीर्ति का अभिलाषी, सुखशील, अविविक्त (ससंग), परिवारवाला तथा छेद (चारित्र) पर्याय की हानि तथा शबल अतिचार दोषों से युक्त निर्ग्रन्थ। ३. कुशील—इसके दो प्रकार हैं। इन्द्रियों का वशवर्ती होने से उत्तरगुणों की विराधनामूलक प्रवृत्ति करनेवाला प्रतिसेवना-कुशील है और कभी भी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् मन्द कषाय के वशीभूत हो जानेवाला कषाय-कुशील है। ४. निर्ग्रन्थ—सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें रागद्वेष का अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होनेवाली हो। ५. स्नातक—जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो। ४८।

निर्ग्रन्थों की विशेषता-द्योतक आठ बातें

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः । ४९ ।

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपात और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों की विशेषताएँ सिद्ध होती हैं।

ऊपर जिन पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का वर्णन हुआ है उनका विशेष स्वरूप जानने के लिए यहां यह विचार किया गया है कि संयम आदि आठ बातों का प्रत्येक निर्ग्रन्थ से कितना सम्बन्ध है।

१. संयम—सामायिक आदि पांच संयमों में से सामायिक और छेदोपस्थाप-नीय इन दो संयमों में पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन निर्ग्रन्थ होते हैं; कषायकुशील उक्त दो एवं परिहारविशुद्धि व सूक्ष्मसम्पराय इन चार संयमों में होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक एकमात्र यथाख्यातसंयमवाले होते हैं।

२. श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन तीनों का उत्कृष्ट श्रुत पूर्ण दशपूर्व और कषायकुशील एवं निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट श्रुत चतुर्दश पूर्व होता है;

जघन्य श्रुत पुलाक का आचारवस्तु[1] होता है; बकुश, कुशील एवं निर्ग्रन्थ का अष्ट प्रवचनमाता (पांच समिति और तीन गुप्ति) प्रमाण होता है। स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत से परे ही होता है।

३. प्रतिसेवना (विराधना)—पुलाक पांच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण इन छहों में से किसी भी व्रत का दूसरे के दबाव या बलात्कार के कारण खंडन करता है। कुछ आचार्यों के मत से पुलाक चतुर्थ व्रत का विराधक होता है। बकुश दो प्रकार के होते हैं—उपकरणबकुश और शरीरबकुश। उपकरण में आसक्त बकुश नाना प्रकार के मूल्यवान् और अनेक विशेषताओं से युक्त उपकरण चाहता है, संग्रह करता है और नित्य उनका संस्कार करता है। शरीर में आसक्त बकुश शरीर-शोभा के लिए शरीर का संस्कार करता रहता है। प्रतिसेवनाकुशील मूल-गुणों की विराधना तो नहीं करता पर उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के द्वारा विराधना होती ही नहीं।

४. तीर्थ (शासन)—पांचों प्रकार के निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों के शासन में होते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन तीर्थ में नित्य होते हैं और शेष कषायकुशील आदि तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ में भी होते हैं।

५. लिङ्ग—लिङ्ग (चिह्न) दो प्रकार का होता है—द्रव्य और भाव। चारित्रगुण भावलिङ्ग है और विशिष्ट वेश आदि बाह्य स्वरूप द्रव्यलिङ्ग है। पांचों प्रकार के निर्ग्रन्थों में भावलिङ्ग अवश्य होता है, परन्तु द्रव्यलिङ्ग सबमें होता भी है और नहीं भी होता।

६. लेश्या—पुलाक में तेज, पद्म और शुक्ल ये अंतिम तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील में छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील यदि परिहारविशुद्धि चारित्रवाला हो तब तो तेज आदि तीन[2] लेश्याएँ होती हैं और यदि सूक्ष्मसम्पराय चारित्रवाला हो तब एक शुक्ल लेश्या ही होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक में शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगी स्नातक अलेश्य ही होता है।

७. उपपात (उत्पत्तिस्थान)—पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उपपात सौधर्म कल्प में पल्योपमपृथक्त्व[3] स्थितिवाले देवों में होता है, पुलाक का उत्कृष्ट उपपात सहस्रार कल्प में बीस सागरोपम की स्थिति में होता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील का उत्कृष्ट उपपात आरण और अच्युत कल्प में बाईस

१. इस नाम का नवें पूर्व का तीसरा प्रकरण।
२. दिगम्बर ग्रन्थों में चार लेश्याओं का कथन है।
३. दिगम्बर ग्रन्थों में दो सागरोपम की स्थिति का उल्लेख है।

सागरोपम की स्थिति में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपात सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की स्थिति में होता है। स्नातक का निर्वाण ही होता है।

८. स्थान (संयम के स्थान—प्रकार)—कषाय तथा योग का निग्रह ही संयम है। संयम सभी का सर्वदा समान नहीं होता, कषाय और योग के निग्रह के तारतम्य के अनुसार ही संयम में भी तरतमता होती है। जो निग्रह कम-से-कम संयमकोटि में गिना जाता है वहाँ से संपूर्ण निग्रहरूप संयम तक निग्रह की तीव्रता-मन्दता की विविधता के कारण संयम के असंख्यात प्रकार हैं। वे सभी प्रकार (भेद) संयमस्थान कहलाते हैं। इनमें जहाँ तक कषाय का लेशमात्र भी सम्बन्ध हो वहाँ तक के संयमस्थान कषायनिमित्तक और उसके बाद के योगनिमित्तक हैं। योग का सर्वथा निरोध हो जाने पर प्राप्त स्थिति अन्तिम संयमस्थान है। जैसे-जैसे पूर्व-पूर्ववर्ती संयमस्थान होगा वैसे-वैसे काषायिक परिणति-विशेष होगी और जैसे-जैसे ऊँचा संयमस्थान होगा वैसे-वैसे काषायिक भाव भी कम होगा, इसीलिए ऊपर-ऊपर के संयमस्थानों को अधिक-से-अधिक विशुद्धिवाले स्थान जानना चाहिए। योगनिमित्तक संयमस्थानों में निष्कषायत्वरूप विशुद्धि समान होने पर भी जैसे-जैसे योगनिरोध न्यूनाधिक होता है वैसे-वैसे स्थिरता भी न्यूनाधिक होती है, योगनिरोध की विविधता के कारण स्थिरता भी विविध प्रकार की होती है अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान भी असंख्यात प्रकार के होते हैं। अन्तिम संयम-स्थान तो एक ही हो सकता है जिसमें परम प्रकृष्ट विशुद्धि और परम प्रकृष्ट स्थिरता होती है।

उक्त प्रकार के संयमस्थानों में से सबसे जघन्य स्थान पुलाक और कषायकुशील के हैं। ये दोनों असंख्यात संयमस्थानों तक साथ ही बढ़ते जाते हैं। उसके बाद पुलाक रुक जाता है, परन्तु कषायकुशील अकेला ही बाद में भी असंख्यात स्थानों तक चढ़ता जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात संयमस्थानों तक कषायकुशील, प्रति-सेवनाकुशील और बकुश एक साथ बढ़ते जाते हैं। उसके बाद बकुश रुक जाता है, प्रतिसेवनाकुशील भी उसके असंख्यात स्थानों तक चढ़कर रुक जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात स्थानों तक चढ़कर कषायकुशील रुक जाता है। तदनन्तर अकषाय अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान आते हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है और वह भी उसी प्रकार असंख्यात स्थानों तक जाकर रुक जाता है। सबके बाद एक मात्र अन्तिम, सर्वोपरि, विशुद्ध और स्थिर संयम आता है, जिसका सेवन करके स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। उक्त स्थान असंख्यात होने पर भी उनमें से प्रत्येक में पूर्व की अपेक्षा उत्तरस्थान की शुद्धि अनन्तानन्तगुनी मानी गई है। ४९। ●

: १० :

मोक्ष

नवें अध्याय में संवर और निर्जरा का निरूपण किया गया। अब इस दसवें और अन्तिम अध्याय में मोक्षतत्त्व का निरूपण किया जा रहा है।

कैवल्य की उत्पत्ति के हेतु

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । १ ।

मोह के क्षय से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है।

मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैनशासन में अनिवार्य मानी गई है। इसीलिए मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते समय केवल-उपयोग किन कारणों से होता है, यह पहले ही बतला दिया गया है। प्रतिबन्धक कर्म का नाश हो जाने से सहज चेतना निरावरण हो जाती है और इससे केवल-उपयोग का आविर्भाव होता है। चार प्रतिबन्धक कर्मों में से पहले मोह ही क्षीण होता है और फिर अन्तर्मुहूर्त के बाद ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों का भी क्षय हो जाता है। मोह सबसे अधिक बलवान् है, अतः उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश सम्भव है। केवल-उपयोग अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध। यही स्थिति सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की है। १ ।

कर्म के आत्यन्तिक क्षय के कारण और मोक्ष का स्वरूप

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । २ ।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । ३ ।

बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है।

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।

एक बार बँधे हुए कर्म का कभी-न-कभी तो क्षय होता ही है, पर वैसे कर्म का बन्धन पुनः सम्भव हो अथवा वैसा कोई कर्म अभी शेष हो तो ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म का आत्यन्तिक क्षय हो गया है। आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्म तथा नवीन कर्म के बाँधने की योग्यता का अभाव। मोक्ष की स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना कदापि सम्भव नहीं, इसीलिए यहाँ आत्यन्तिक कर्म के क्षय के कारण वर्णित हैं। वे दो हैं : १. बन्धहेतुओं का अभाव और २. निर्जरा। बन्धहेतुओं का अभाव हो जाने से नवीन कर्म बँधते नहीं और पहले बँधे हुए कर्मों का अभाव निर्जरा से होता है। बन्धहेतु मिथ्या-दर्शन आदि पाँच हैं जिनका कथन पहले हो चुका है। उनका अभाव समुचित संवर द्वारा होता है और तप, ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी होती है।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट होती है, फिर भी वेदनीय आदि चार कर्म अत्यन्त विरल रूप में शेष रहते हैं जिनके कारण मोक्ष नहीं होता। इसीलिए इन शेष विरल कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। इसके बाद ही सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने से जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। यही मोक्ष है। २-३।

अन्य कारण

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शन-सिद्धत्वेभ्यः। ४।

क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और सिद्धत्व के अति-रिक्त औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है।

पौद्गलिक कर्म के आत्यन्तिक नाश की भाँति उस कर्म के साथ कितने ही सापेक्ष भावों का नाश भी मोक्षप्राप्ति के पूर्व आवश्यक है। इसीलिए यहाँ वैसे भावों के नाश का मोक्ष के कारणरूप से कथन किया गया है। ऐसे मुख्य भाव चार हैं—१. औपशमिक, २. क्षायोपशमिक, ३. औदयिक और ४. पारिणामिक। औपशमिक आदि पहले तीन प्रकार के भाव तो सर्वथा नष्ट होते ही हैं, पर पारिणामिक भाव के बारे में यह बात नहीं है। पारिणामिक भावों में से मात्र भव्यत्व का ही नाश होता है, अन्य का नहीं, क्योंकि जीवत्व, अस्तित्व आदि दूसरे सभी पारिणामिक भाव मोक्ष-अवस्था में भी रहते हैं। क्षायिकभाव कर्म-सापेक्ष अवश्य है, फिर भी उसका अभाव मोक्ष में नहीं होता। इसीलिए सूत्र में क्षायिकसम्यक्त्व आदि भावों के अतिरिक्त अन्य भावों के नाश को मोक्ष का

कारण कहा गया है। यद्यपि सूत्र में क्षायिकवीर्य, क्षायिकचारित्र और क्षायिक-सुख आदि भावों का वर्जन क्षायिकसम्यक्त्व आदि की तरह नहीं किया गया है तो भी सिद्धत्व के अर्थ में इन सभी भावों का समावेश कर लेने से इन भावों का वर्जन भी गृहीत है। ४।

मुक्त जीव का मोक्ष के बाद तुरन्त ऊर्ध्वगमन

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। ५।

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने के पश्चात् मुक्त जीव तुरन्त लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

सम्पूर्ण कर्म और तदाश्रित औपशमिक आदि भावों का नाश होते ही तुरन्त एक साथ एक समय में तीन कार्य होते हैं—१. शरीर का वियोग, २. सिध्यमान गति और ३. लोकान्त-प्राप्ति। ५।

सिध्यमान गति के हेतु

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः। ६।

पूर्व प्रयोग से, संग के अभाव से, बन्धन के टूटने से और वैसी गति के परिणाम से मुक्त जीव ऊपर जाता है।

जीव कर्मों से छूटते ही तत्काल गति करता है, स्थिर नहीं रहता। गति ऊँची और लोक के अन्त तक ही होती है, उससे ऊपर नहीं; यह शास्त्रीय मान्यता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म या शरीर आदि पौद्‌लिक पदार्थों की सहायता के बिना अमूर्त जीव गति कैसे करता है? ऊर्ध्वगति ही क्यों, अधोगति या तिरछी गति क्यों नहीं करता? इन प्रश्नों के उत्तर यहाँ दिये गए हैं।

जीवद्रव्य का स्वभाव पुद्‌गलद्रव्य की भाँति गतिशील है। अन्तर इतना ही है कि पुद्‌गल स्वभावतः अधोगतिशील है और जीव ऊर्ध्वगतिशील। जीव अन्य प्रतिबन्धक द्रव्य के संग या बंधन के कारण ही गति नहीं करता अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करता है। ऐसा द्रव्य कर्म है। कर्मसंग छूटने पर और उसके बन्धन टूटने पर कोई प्रतिबन्धक तो रहता नहीं, अतः मुक्त जीव को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का अवसर मिलता है। यहाँ पूर्वप्रयोग निमित्त बनता है अर्थात् उसके निमित्त से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति करता है। पूर्वप्रयोग का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग (आवेश)। जैसे कुम्हार का चाक डंडे और हाथ के हटा लेने के बाद भी पहले से प्राप्त वेग के कारण घूमता रहता है वैसे ही कर्ममुक्त जीव भी पूर्व-कर्म से प्राप्त आवेश के कारण

स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है। जीव की ऊर्ध्वगति लोक के अन्त से ऊपर नहीं होती, क्योंकि लोकान्त के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है। प्रतिबन्धक कर्म द्रव्य के हट जाने से जीव की ऊर्ध्वगति के लिए तुम्बे और एरंड के बीज का उदाहरण दिया गया है। अनेक लेपों से युक्त तुंबा पानी में पड़ा रहता है, परन्तु लेप के हटते ही वह स्वभावतः पानी के ऊपर तैरने लगता है। कोश (फली) में रहा हुआ एरंड-बीज फली के टूटते ही छिटककर उपर उठता है। इसी प्रकार कर्म-बन्धन के टूटते ही जीव भी उर्ध्वगामी होता है। ६।

सिद्धों की विशेषता-द्योतक बारह बातें

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः। ७।

क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्प-बहुत्व—इन बारह बातों द्वारा सिद्धों की विशेषताओं का विचार किया जाता है।

सिद्ध जीवों के स्वरूप को विशेष रूप से जानने के लिए बारह बातों का निर्देश किया गया है। यहाँ प्रत्येक बात के आधार पर सिद्धों के स्वरूप का विचार अभिप्रेत है। यद्यपि सभी सिद्ध जीवों में गति, लिङ्ग आदि सांसारिक भावों के न रहने से कोई विशेष भेद नहीं रहता तथापि भूतकाल की दृष्टि से उनमें भी भेद की कल्पना और विचार किया जा सकता है। यहाँ क्षेत्र आदि जिन बारह बातों से विचार किया गया है उनमें से प्रत्येक के विषय में यथा-सम्भव भूत और वर्तमान दृष्टि लगा लेनी चाहिए।

१. क्षेत्र (स्थान)—वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी मुक्त जीवों के सिद्ध होने का स्थान एक ही सिद्धक्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश या आकाशप्रदेश है। भूत भाव की दृष्टि से इनके सिद्ध होने का स्थान एक नहीं है, क्योंकि जन्म की दृष्टि से पन्द्रह में से भिन्न-भिन्न कर्मभूमियों से सिद्ध होते हैं, और संहरण की दृष्टि से समग्र मनुष्यक्षेत्र से सिद्ध हो सकते हैं।

२. काल (अवसर्पिणी आदि लौकिक काल)—वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने का कोई लौकिक कालचक्र नहीं है, क्योंकि एक ही समय में सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से जन्म की अपेक्षा से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी, अनुत्सर्पिणी में जन्मे जीव सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार संहरण की अपेक्षा से उक्त सभी कालों में सिद्ध होते हैं।

३. गति—वर्तमान दृष्टि से सिद्धगति में ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम भाव को लेकर विचार करें तो मनुष्यगति से और अन्तिम से पहले के भाव को लेकर विचार करें तो चारों गतियों से सिद्ध होते हैं।

४. लिङ्ग—लिङ्ग वेद या चिह्न को कहते हैं। पहले अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अवेद ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों वेदों से सिद्ध हो सकते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अलिङ्ग ही सिद्ध होते हैं, भूत दृष्टि से यदि भावलिङ्ग अर्थात् आन्तरिक योग्यता का विचार करें तो स्वलिङ्ग (वीतरागता) से ही सिद्ध होते हैं और द्रव्यलिङ्ग का विचार करें तो स्वलिङ्ग (जैनलिङ्ग), परलिङ्ग (जैनेतर पन्थ का लिङ्ग) और गृहस्थलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों से सिद्ध होते हैं।

५. तीर्थ—कोई तीर्थंकररूप में और कोई अतीर्थंकररूप में सिद्ध होते हैं। अतीर्थंकर में कोई तीर्थ प्रवर्तित हो तब होते हैं और कोई तीर्थ प्रवर्तित न हो तब भी होते हैं।

६. चारित्र—वर्तमान दृष्टि से सिद्ध जीव न तो चारित्री ही होते हैं और न अचारित्री। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम समय को लें तब तो यथाख्यातचारित्री ही सिद्ध होते हैं और उसके पूर्व समय को लें तो तीन, चार तथा पाँच चारित्रों से सिद्ध होते हैं। सामायिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये तीन अथवा छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये तीन; सामायिक, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये चार एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये पाँच चारित्र जानने चाहिए।

७. प्रत्येकबुद्धबोधित—प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के उपदेश के बिना अपनी ज्ञान-शक्ति से ही बोध प्राप्त करके सिद्ध होते हैं ऐसे स्वयंबुद्ध दो प्रकार के हैं—एक तो अरिहंत और दूसरे अरिहंत से भिन्न, जो किसी एकाध बाह्य निमित्त से वैराग्य और ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। ये दोनों प्रत्येकबोधित हैं। जो दूसरे ज्ञानी से उपदेश ग्रहण कर सिद्ध होते हैं वे बुद्धबोधित हैं। इनमें भी कोई तो दूसरे को बोध करानेवाले होते हैं और कोई मात्र आत्म-कल्याणसाधक होते हैं।

८. ज्ञान—वर्तमान दृष्टि से मात्र केवलज्ञानी ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से दो, तीन, चार ज्ञानवाले भी सिद्ध होते हैं। दो अर्थात् मति और श्रुत; तीन अर्थात् मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मनःपर्याय; चार अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय।

९. अवगाहना (ऊँचाई)—जघन्य अंगुलपृथक्त्वहीन सात हाथ और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष के ऊपर धनुषपृथक्त्व जितनी अवगाहना से सिद्ध हो सकते हैं, यह भूत दृष्टि की अपेक्षा से कहा गया है। वर्तमान दृष्टि से जिस अवगाहना से सिद्ध हुआ हो उसी की दो-तृतीयांश अवगाहना होती है।

१०. अन्तर (व्यवधान)—किसी एक के सिद्ध होने के बाद तुरन्त ही जब दूसरा जीव सिद्ध होता है तो उसे 'निरन्तर-सिद्ध' कहते हैं। जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर-सिद्धि चलती रहती है। जब किसी की सिद्धि के बाद अमुक समय व्यतीत हो जाने पर कोई सिद्ध होता है तब वह 'सान्तर-सिद्ध' कहलाता है। दोनों के बीच की सिद्धि का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः मास का होता है।

११. संख्या—एक समय में जघन्य (कम-से-कम) एक और उत्कृष्ट (अधिक-से-अधिक) एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

१२. अल्पबहुत्व—क्षेत्र आदि जिन ग्यारह बातों का विचार ऊपर किया गया है उनके विषय में संभाव्य भेदों की परस्पर में न्यूनाधिकता का विचार करना ही अल्पबहुत्व है। जैसे क्षेत्रसिद्ध में संहरण-सिद्ध की अपेक्षा जन्मसिद्ध संख्यातगुणाधिक होते हैं। ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे कम होते हैं, अधोलोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणाधिक और तिर्यग्लोकसिद्ध उनसे भी संख्यातगुणाधिक होते हैं। समुद्रसिद्ध सबसे कम होते हैं और द्वीपसिद्ध उनसे संख्यातगुणाधिक होते हैं। इसी प्रकार काल आदि प्रत्येक बात से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। विशेष जिज्ञासु अन्य ग्रन्थों से अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अनुक्रमणिका

ख

ग

छ

ज

त

द

प

म

श

स

